

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गता–सर्वान्तरतमपरीक्षानुगता
'क'–कारविभागात्मिका

"पूर्वखण्डात्मिका–भक्तियोगपरीक्षा"

[भक्तियोगपरीक्षा--पूर्वखण्ड]



भाष्यकारः—मोतीलालशर्म्मोपाह्वो यः कश्चिदपि
मुक्तरक्तशर्म्मा, आङ्गिरसो भारद्वाजः
जयपत्तनाभिजनः

* * * *

(पुनःप्रकाशनाधिकार एकमात्र भाष्यकार से ही अनुप्राणित)
"राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान--जयपुर" के द्वारा प्रकाशित
एवं
"श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, मानवाश्रम--दुर्गापुरा--जयपुर" के द्वारा मुद्रित
प्रकाशनतिथि--भाद्रपदशुक्ल पूर्णिमा वि० सं० २०१६
(ता० १६ सितम्बर सन् १६५६)

प्रथमवार ५०० प्रति



श्रीः

महामहिम श्रीराष्ट्रपतिमहाभाग के प्रधानसंरक्षकत्त्व से समन्वित

'राजस्थान-वैदिकतत्त्वशोधसंस्थान-जयपुर'

के

तत्त्वावधान में प्रकाशित

एवं राष्ट्रभाषा-हिन्दी में उपनिबद्ध

ग्रन्थों की सूची

१-गीताविज्ञानभाष्यभूमिका-प्रथमखण्ड—'बहिरङ्गपरीक्षा'				१५)
२- "	-द्वितीयखण्ड-'आत्मपरीक्षा'	(क)	त्रिभागात्मिका	२०)*
३- "	-तृतीयखण्ड-'ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा'	(ख)	"	२०)*
४- "	-चतुर्थखण्ड—'कर्म्मयोगपरीक्षा'	(ग)	"	२०)*
५- "	-पञ्चमखण्ड-'ज्ञानयोगपरीक्षा'	(घ)	"	३)
६- "	-षष्ठखण्ड—'भक्तियोगपरीक्षा'	(क)	पूर्वखण्डात्मिका	२०)
७- "	-सप्तमखण्ड-'भक्तियोगपरीक्षा'	(ख)	उत्तरखण्डात्मिका	२०)
८- "	-अष्टमखण्ड-'बुद्धियोगपरीक्षा'	(ग)	त्रिभागात्मिका	२०)
९-ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य—प्रथमखण्ड		...	..	१५)
१०-ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य—द्वितीयखण्ड		...	...	१५)
११-उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-प्रथमखण्ड		...	...	२०)
१२-उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्ड		...	...	१५)
१३-उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्ड		...	..	१५)
१४-श्राद्धविज्ञानग्रन्थानुगत-'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड				२०)*
१५-श्राद्धविज्ञानग्रन्थानुगत-'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्' नामक तृतीयखण्ड				१५)

*-चिह्नाङ्कित ग्रन्थ पुनः प्रकाशित होने पर ही उपलब्ध होसकेंगे।

श्रीः

महामहिम राष्ट्रपति श्री डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी महाभाग–के मान्य सचिव-द्वारा प्राप्त 'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' मानवाश्रम दुर्गापुरा (जयपुर) का 'प्रधानसंरक्षतानुगत–प्रमाणपत्र' अत्यन्त सम्मान से यहाँ उद्धृत होरहा है —



भारत के राष्ट्रपति

डा॰ राजेन्द्र प्रसाद

राजस्थान-वैदिक तत्त्वशोध संस्थान-जयपुर

का

प्रधान संरक्षक

बनने की स्वीकृति प्रदान करते हैं

मिलिट्री सेक्रेट्री औफिस

राष्ट्रपति भवन

नई दिल्ली

दिनांक ३० अगस्त १९५८

भारत के राष्ट्रपति के आदेशानुसार

यदुनाथसिंह

(यदुनाथ सिंह) मेजर जनरल

मिलिट्री सेक्रेट्री टू दि प्रेसिडेन्ट

१६–शतपथब्राह्मण–विज्ञानभाष्य–प्रथमकाण्डानुगत–प्रथमखण्ड ... २५)

१७–शतपथब्राह्मण–विज्ञानभाष्य–प्रथमकाण्डानुगत–द्वितीयखण्ड ... ३०)

१८–दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा ... ... २५)

१९–संस्कृति, और सभ्यता-शब्दों का चिरन्तन इतिवृत्त, एवं भारतीय-सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा नामक–उद्बोधनात्मक–सामयिक--निबन्ध २५)

२०–"भारतीय-हिन्दू-मानव, और उसकी भावुकता" नामक खण्डचतुष्टयात्मक ग्रन्थानुगत-'विश्वस्वरूपमीमांसा' नामक प्रथमखण्ड ... १५)

२१–भारतीय दृष्टिकोण से 'विज्ञान' शब्द का समन्वय ... १॥)

२२–वेद का स्वरूप-विचार ... . २)

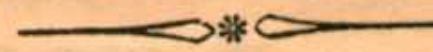
२३–क्या हम मानव हैं ? (सांस्कृतिक-आमन्त्रणात्मक निबन्ध) ... २॥)

२४–'वेदस्य सर्वविद्या-निधानत्त्वम्' (संस्कृतनिबन्ध) ... ... १॥)

२५–*राष्ट्रपतिभवन से अनुप्राणित--"व्याख्यानपञ्चक" ... ६)

(१)–सम्वत्सरमूला–अग्नीषोमविद्या (प्रथम–व्याख्यान)
(२)–पञ्चपर्वात्मिका-विश्वविद्या (द्वितीय–")
(३)–मानव का स्वरूप परिचय (तृतीय–")
(४)–'अश्वत्थविद्या' का स्वरूप-परिचय (चतुर्थ–")
(५)–वेदशास्त्र के साथ पुराणशास्त्र का समन्वय (पञ्चम–")

प्राप्तिस्थान—
व्यवस्थापक–'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान–जयपुर'
मानवाश्रम-दुर्गापुरा (जयपुर–राजस्थान)



*–राष्ट्रपतिभवन के टेपरेकार्डों के आधार पर प्रकाशित, एवं महामहिम श्रीराष्ट्रपति महाभाग के प्रास्ताविक से समन्वित ।

श्रीः

अथ--गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गता--सर्वान्तरतमपरीक्षानुगता

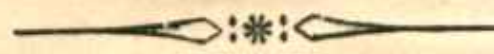
'क'--कारविभागात्मिका

"पूर्वखण्डात्मिका-भक्तियोगपरीक्षा"

(भक्तियोगपरीक्षा--पूर्वखण्ड)

की

संक्षिप्ता--विषयसूची (परिच्छेदात्मिका)



श्रीः

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गता-सर्वान्तरतमपरोक्षानुगता 'क'-कार विभागात्मिका-पूर्वखण्डात्मिका

भक्तियोगपरीक्षा की संक्षिप्त विषयसूची

'परिच्छेदात्मिका'

—※—

अथ--भक्तियोगपरीक्षायां पूर्वखण्डे-'किञ्चिदिव प्रस्ताविकम्'-नामकं प्रथमं प्रकरण मुपक्रान्तम्

१

इति-भक्तियोगपरीक्षायां-पूर्वखण्डे-"किञ्चिदिव-प्रास्ताविकम्" नामकं प्रथमं-प्रकरणमुपरतम्

१

श्रीः

अथ-भक्तियोग परीक्षायां-पूर्वखण्डे-'योगत्रयी का मौलिक विचार' नामक

द्वितीयं-प्रकरणमुपक्रान्तम्

२

———*———

इति-भक्तियोगपरीक्षायां-पूर्वखण्डे-'योगत्रयी का मौलिक-विचार नामक' द्वितीयं–प्रकरण-मुपरतम्

२

——*——

अथ-भक्तियोग-परीक्षायां-पूर्वखण्डे-'योगत्रयी, और भारतीय महर्षि' नामकं तृतीयं-प्रकरण-मुपक्रान्तम्

३

---*---

इति–भक्तियोगपरीक्षायां–पूर्वखण्डे–'योगत्रयी, और भारतीय महर्षि'

नामक

तृतीयं--प्रकरण--मपरतम्

३

—*—

अथ-भक्तियोगपरीक्षायां पूर्वखण्डे-'युगधर्म्मानुगता-विविध-उपासनाएँ' नामकं-चतुर्थं-प्रकरणमुपक्रान्तम्

तत्र च-देवयुगानुगत-निर्गुणोपासनामार्ग

नामक

प्रथम-अवान्तर प्रकरण

१

इति–युगधर्म्मानुगता "विविधोपासना" नामके चतुर्थ प्रकरणे

"पुराणयुगानुगता विकारोपासना"

नाम

तृतीय मवान्तर प्रकरण मुपरतम्

———**———

अथ–दर्शनयुगानुगत–वैकारिकोपासनामार्गे

चतुर्थ *प्रकरणान्तर्गतं*

चतुर्थ मवान्तरम् प्रकरणमुपक्रान्तम्

———**———

इति-"युगाधर्म्मानुगता विराडुपासना" नामके चतुर्थे प्रकरणे *"दर्शनयुगानुगता-वैकारिकोपासना"*—नामकं चतुर्थमवान्तर प्रकरणमुपरतम्

----४----

——*——

श्रीः

अथ-"युगधर्म्मानुगता-विविधोपासना" नामके चतुर्थप्रकरणे "वर्त्तमानयुगानुगत-भौतिक-उपासनामार्ग" नामकं पञ्चमं अवान्तर प्रकरणमुपक्रान्तम्

— ५ —

—*—

इति-"युगधर्म्मानुगता विविधोपासना" ख्ये चतुर्थे प्रकरणे

"वर्त्तमानयुगानुगत-भौतिक-उपासनामार्ग"-नामकं

पञ्चममवान्तरप्रकरणमुपरतम्

५

———**———

उपरतञ्चेदं-पञ्चावन्तरप्रकरणसमष्टिरूपं

'युगधर्म्मानुगता-विविधोपासना'-नामकं

चतुर्थ-प्रकरणम

४

———**———

श्रीः

अथ–"भक्तियोगपरीक्षा" त्मके पूर्वखण्डे "प्रतिमापूजन और उपासना"-नामकं परिशिष्टं प्रकरणमुपक्रान्तम्



इति–भक्तियोग परीक्षायाम् पूर्वखण्डे "प्रतिमापूजन और उपासना" नामकं परिशिष्टं प्रकरणमुपरतम्

इति–गीताविज्ञानभाष्यभूमिकायाः सर्वान्तरतमपरीक्षायाः-"क"-कारविभागात्मकस्य

भक्तियोगपरीक्षात्मकस्य-पूर्वखण्डस्य

संक्षिप्ता–विषयसूची-उपरता (परिच्छेदात्मिका)

श्रीः

इति–भक्तियोगपरीक्षा–पूर्वखण्डस्य

संक्षिप्ता-विषयसूची

उपरता

परिच्छेदात्मिका

श्रीः

अथ–भक्तियोगपरीक्षायां-पूर्वखण्डे—

१-किञ्चिदिव प्रास्ताविकम्

ओंतत्सद्ब्रह्मणे नमः

अथ

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत–'सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक'

'भक्तियोगपरीक्षा' नामक पूर्वखण्ड

(सर्वान्तरतमपरीक्षानुगत—'क'–४।र विभागात्मक प्रथमखण्ड)

—*—

१–किञ्चिदिव–प्रास्ताविकम्

"नाभक्ताय कदाचन"

१––माङ्गलिकसंस्मरणम्––

१—नि षु सीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥
२—एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्य्यो विश्वमनुप्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति "एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्" ॥
३—वाचं देवा* उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥
४—वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः ।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥
५—यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥
६—ओष्ठापिधाना न कुलीदन्तैः परिवृता पविः ।
सर्वस्यै वाच ईशाना चारुमामिह वादयेत् ॥

*देवताओं के स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वत्समाज में आज अनेक प्रकार की भ्रन्तियाँ फैलीं हुईं हैं। इसके निराकरण के लिए 'शतपथहिन्दीविज्ञानभाष्य' का प्रथमकाण्डीय–प्रथमखण्ड ही देखना चाहिए।

७—यो यज्ञो दिवि परमेष्ठि-गोसवात्मा विज्ञानं समुपदिदेश गीतया यः ।
आनन्दं जनयतु विश्वतो ममायं गोविन्दः स हि मयि सन्निधानमेतु ॥
८—य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ (गीता १८ । ६८ ।)
९—इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
तथाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ (गीता १८ । ६७) ।

प्राक्कर्म्मोदयतो हि यस्य मिथिलादेशे शरीरोदयः—
श्रीविश्वेशादयोदयाच्च समभूत्काश्यां सुविद्योदयः ।
राज्ञा प्रीत्युदयादभूज्जयपुरे सम्पत्ति-भाग्योदयः—
सिद्धः श्रीमधुसूदनाय गुरवे नित्यं प्रणामोदयः ॥

——*——

१—हे गणपते ! आप गणों में (मरुद्गणों में एवं स्तोतृगणों में) विराजिए ! क्योंकि (विद्वान्-लोग) आप ही को कवियों के मध्य में श्रेष्ठ मेधावी समझते हैं । अपिच आपके बिना दूर का अथवा समीप का कोई भी कार्य्य नहीं किया जासकता । (इसलिए सभी कार्य्यों के आरम्भ में आपका प्रथम स्मरण नितान्त अपेक्षित है) । हे महनीय गणपते ! त्रिवृत् (९), पञ्चदश (१५), सप्तदश (१७), एकविंश (२१), त्रिणव (२७), त्रयस्त्रिंश (३३) आदि विविध स्तोमों से युक्त महामहिमशाली, अतएव विद्वानों की दृष्टि में आदरणीय जो यह हमारा स्तोम (कार्य्यराशि) है, उसे आप निर्विघ्न पूर्ण करने का अनुग्रह करें ।

—ऋक्सं० १०।११२।९।

२—एक ही अग्नितत्त्व (गायत्री–त्रिष्टुप्–जगती आदि छन्दों के भेद से) गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि, आवसथ्याग्नि, सभ्याग्नि, धिष्ण्याग्नि, आहुताग्नि, प्रहुताग्नि, आमादग्नि, क्रव्यादग्नि, कव्यवाडग्नि, वैश्वानराग्नि, सान्तपनाग्नि, वेदाग्नि, सम्वत्सराग्नि आदि अनेक रूपों से यत्र तत्र प्रज्वलित होरहा है । एक ही सूर्य्य विश्वोपलक्षित चराचरजगत् में विभूति एवं योग सम्बन्ध से प्रविष्ट होकर उन सब स्थावर जङ्गम पदार्थों का आत्मा बनता हुआ नानाभावों में परिणत होरहा है । ३० योजन पर्य्यन्त अपनी व्याप्ति रखने वाली सूर्य्य से ३० योजन पश्चिम की ओर अपनी स्थिति रखने वाली उषाकाल की अधिष्ठात्री उषादेवी उदयबिन्दु के भेद से नानारूप धारण कर सर्वत्र प्रकाशित होरही है । नानाभेदभिन्न उक्त सम्पूर्ण प्रपञ्च एक ही ब्रह्म का वैभव है । एक ही ब्रह्मतत्त्व उपाधिभेद से अनेक रूप धारण कर विभूति–सम्बन्ध से सर्वत्र व्याप्त होरहा है ।

—"ऋक्सं० ६।४।२९।"

३—वसु–रुद्र–आदित्य भेदभिन्न ३३ आग्नेय देवता, सम्पूर्ण सौम्यदेवता, कर्म्मदेवता, आत्मदेवता, अभिमानी देवता, पुरुषविध नित्य अष्टविध चेतन चान्द्र देवता, पुरुषविध चेतन अनित्य प्राणी देवता आदि

२— मनो-बुद्धि--विमोहक कर्म्ममार्ग, एवं व्यवसायधर्म्म का अभिभव--

कर्म्म का स्वरूप "**कवयोऽप्यत्र मोहिताः**" के अनुसार बड़ा जटिल है" इस वाक्य से कुछ समय के लिए हमें ऐसा विश्वास होजाता है कि, **ज्ञानयोग** अवश्य ही '**कर्म्मयोग**' की अपेक्षा एक सरल मार्ग है। और न्यायतः ऐसा विश्वास अनुचित भी नहीं माना जासकता। कर्म्म की प्रतिष्ठा असद्बल है। स्वस्वरूप से सर्वथा क्षणिक होते हुए ये असद्बल संख्या में अनन्त हैं। इसी बलानन्त्य से तद्रूप कर्म्मों का भी आनन्त्य होजाता है। यदि हमारे सामने एक ही वस्तु रहती है, तो कभी सन्देह को अवसर नहीं मिलता। परन्तु भिन्न भिन्न फलाफलों से सम्बन्ध रखने वाले अनेक भावों का साम्मुख्य अवश्य ही हमारे मन को "**यह करें कि वह, यह लें कि वह, उसे छोड़ें कि इसे**" इस अनिश्चयात्मक भाव का अनुगामी बना देता है। मनःसंश्लिष्टा बुद्धि "**इदं वा ग्राह्यं-इदं वा, इदं वा त्याज्यं-इदं वा**" इसप्रकार से अनेक शाखालक्षण अव्यवसाय की अनुगामिनी बनती हुई अपने स्वाभाविक एकत्वलक्षण, समाधिरूप '**व्यवसायधर्म्म**' से-वञ्चित होकर मोह में पड़ जाती है।

सभी देवता एकमात्र वाक्तत्त्व को आधार बनाकर ही जीवित हैं। २७ गन्धर्व, सब प्रकार के पशु, मनुष्य आदि सब प्रजाएँ वाक् को प्रतिष्ठा बनाकर ही स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित हैं। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनत्, तपः,-सत्यं ये सातों भुवन वाग्धरातल में हीं समर्पित हैं। (इसप्रकार जो वाक्तत्त्व चराचर में व्याप्त होरहा है) इन्द्रपत्नी नाम से प्रसिद्ध वह वाग्देवी (हमारे इस शब्दराशिरूप वाङ्मय यज्ञ में इसे सफल बनाने के लिए हमारी पुकार सुनें।

—"तै० ब्रा० २।८।८।५।"

४—"अक्षरमिति (अ¹-क्ष²-रम³-इति) त्र्यक्षरं, वागित्येकमक्षरम्" "एकाक्षरा वै वाक्" (ताण्ड्यब्रा० ४।४।३।) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार वाग्रूप एकाक्षरब्रह्म, किंवा अक्षरस्वरूप वाग्ब्रह्म ही (विश्व में) सबसे पहले प्रकट हुआ है। अतएव यह वाग्देवी ऋततत्त्व की 'प्रथमजा' कहलाती है। यह वाक् (अनन्त) वेदों की माता है, अमृत की नाभि है। ऐसी यह वाग्देवी प्रसन्न होती हुई हमारे इस वाग्यज्ञ में पधारें। अपिच हमारी रक्षा करने वाली यह वाग्देवी (हमारे इस वाग्यज्ञ को निर्विघ्न पूर्ण करने के लिए) हमारी प्रार्थना सुनें।

—"तै० ब्रा० २।८।८।"।

५—जो औपनिषद पुरुष (सृष्टिनिर्म्माण के लिए) प्रतिष्ठालक्षण चतुर्म्मुख ब्रह्मा को सर्वप्रथम उत्पन्न करता है, जो वेदान्तपुरुष उस ब्रह्मा के लिए (सृष्टिसाधनरूप) वेदों को अर्पित करता है, प्रज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध सर्वेन्द्रियलक्षण मन, एवं विज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध बुद्धि के प्रकाश-स्वरूप उसी (चिद्धन ब्रह्म) देव की शरण में मैं मुमुक्षु जारहा हूँ।

—"श्वेता० उ० ६।१८।"।

३--'किंकर्म्म किमकर्म्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः' मूलक संशयवाद, तथा कर्म्ममार्ग की आत्यन्तिक जटिलता- -

"एकस्मिन् धर्म्मिणि विरुद्धनानाकोट्यवगाहि-ज्ञानं संशयः" इस लक्षण के अनुसार कहने को "कर्म्म" नाम से एक ही "धर्म्म" (पदार्थ) में बलानन्त्य-प्रयुक्त, परस्पर में सर्वथा विरुद्ध जब अनेक भावों का-समावेश होजाता है, तो इन अनेक विरुद्ध धर्म्मों के समावेश से वह कर्म्म प्रज्ञा की स्थिरता चञ्चल बना देता है। अस्थिरप्रज्ञ मन के साथ नित्ययुक्ता स्थिरबुद्धि भी खण्ड-खण्डात्मिका बन कर अव्यवसायात्मिका बन जाती है। अव्यवसायलक्षणा बुद्धि (विज्ञानात्मा) अपने स्वाभाविक निश्चयात्मक निर्णय करने में असमर्थ होती हुई मोहमूलक "इदं वा इदं वा" इत्याकारक संशय में पड़ जाती है। बुद्धि का स्वाभाविक कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विवेक उच्छिन्न होजाता है। साधारण वस्तुओं की कौन कहे, वे कविगण भी (जो शास्त्रों के पारदर्शी विद्वान् माने जाते हैं, जो समय समय पर कर्म्म के निर्णायक बनते हैं) मोह में पड़ जाते हैं। द्रौपदी-वस्त्रापहरण-वेला में कवित्वशक्ति की चरम सीमा पर पहुंचे हुए, कर्त्तव्य-निर्णय के सम्बन्ध में उत्तरायणकाल में शरशय्या पर सोते हुए ऋषिसंसत् से समाविष्ट, युद्ध-जनित क्षोभ से क्लान्त बने हुए धर्म्मराज युधिष्ठिर को उपदेश देने वाले भीष्मपितामह के मुख से भी जब हम "धर्म्मस्य सूक्ष्मा गतिः" ये अक्षर सुनने के लिए बाध्य किए जाते हैं, तो फिर अस्मदादि साधारण मनुष्यों के सम्बन्ध में तो टीकाटिप्पणी करना व्यर्थ ही है। फलतः कर्म्ममार्ग के सम्बन्ध में हमें विवश होकर "किंकर्म्म, किमकर्म्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः" इसी वाक्य पर विश्राम कर लेना पड़ता है।

४--सद्रसप्रधान ज्ञानमार्ग की ऋजुता, असद्बलप्रधान-कर्म्ममार्ग की वक्रता, तथा ज्ञाननिबन्धन एकत्व से संशय की निवृत्ति--

परन्तु स्थूलदृष्टि से विचार करने पर ज्ञानमार्ग हमें सरल प्रतीत होता है। सत्-रस ही ज्ञान की प्रतिष्ठा है। यह रस तत्त्व स्वस्वरूप से सर्वथा व्यापक होता हुआ संख्या में- एक है, शान्त है, अविकृत है। फलतः तद्रूप ज्ञान का भी एकत्व सिद्ध होजाता है। ज्ञान स्वस्वरूप से सर्वथा संशय-शून्य है। संशयात्मक कर्म्म के समावेश से ही ज्ञान अनेक धाराओं में परिणत होता हुआ अपनी स्वाभाविक सत्सम्पत्ति (रससम्पत्ति) से च्युत होता हुआ, आगन्तुक असत्सम्पत्ति (बलसम्पत्ति) की कृपा से असत् बन जाता है। इसी विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए सांख्य (ज्ञान) निष्ठ-योगियोंनें कर्म्म के परित्याग का आदेश दिया। उनके आदेश का तात्पर्य यही था कि, जबतक तुम लौकिक कामनामय कर्म्मों में प्रवृत्त रहोगे, तबतक कर्म्ममार्ग की भाँति तुम्हारा ज्ञानमार्ग भी अशान्ति का ही कारण बना रहेगा। कर्म्म ज्ञान का विसंवादी पदार्थ है। उसके संसर्ग से कभी ज्ञान अपने स्थिरलक्षण समाधि-भाव में प्रतिष्ठित नहीं होसकता। संशयशून्य उस समाधिज्ञान के विकास के लिए तुम्हें निष्कामकर्म्म के द्वारा ज्ञान के साथ लगी हुई हृद्ग्रन्थि का विच्छेद कर कर्म्म को सहचर-अवस्था में हीं परिणत करना पड़ेगा। इस नैष्कर्म्य-लक्षण ज्ञानयोग (गीता के द्वारा संशोधित कर्म्मयुक्त 'ज्ञानबुद्धियोग' से सहकृत ज्ञानयोग) से-कर्म्मबन्धन टूट जायगा। कर्म्मप्रयुक्त नानात्त्व विलीन होजायगा। रह जायगा-ज्ञाननिबन्धन एकत्त्व। और वह ज्ञान एकत्त्व के कारण स्थिरधर्म्म का प्रयोजक बनता हुआ मोह-संशयादि का आत्यन्तिक निराकरण कर देगा।

५---स्थूलदृष्ट्या ज्ञानमार्ग की उपयोगिता, किन्तु सूक्ष्मदृष्ट्या ज्ञानमार्ग की जटिलता, तथा-'दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति' का संस्मरण---

इसप्रकार कुछ समय के लिए कर्म्ममार्ग की अपेक्षा ज्ञानमार्ग हमें अधिक उपयोगी प्रतीत होने लगता हैं। परन्तु इसी सम्बन्ध में जब हम थोड़ी सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने लगते हैं, तो यह मार्ग भी कम जटिल प्रतीत नहीं होता। प्रवृत्ति का मूल कामना है। जबतक कामना (इच्छा) है, तभीतक कर्म्म में प्रवृत्ति है। कर्म्म कभी निष्काम बन जाय, यह सर्वथा असम्भव है। यद्यपि इन्द्रियनिग्रह के द्वारा पूर्ण संयम के साथ अपने आत्मा का पूर्ण दमन करते हुए इस मार्ग का यथाकथंचित् अनुगमन किया जासकता है, और इस संयमलक्षणा तपश्चर्य्या से प्रवृत्ति का निरोध भी सम्भव है। और यह भी ठीक है कि, इस इच्छा-निरोध-लक्षण संयम से—**"विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः, रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते"** इस गीतासिद्धान्त के ही अनुसार समय पाकर आत्मा कामना के वारुणपाश से निकल भी जाता है। परन्तु विचार करने पर प्रतीत होगा कि, उपयोगिता की दृष्टि से (केवल वैय्यक्तिक स्वार्थ की दृष्टि से) यह मार्ग ठीक होता हुआ भी, बन्धनमुक्ति का कारण बनता हुआ भी कर्म्ममार्ग की तुलना में कभी कोई महत्व नहीं रखता। माना कि–गीता के संशोधित कर्म्ममार्ग में भी आत्मा का बन्धन नहीं है। फिर भी वहाँ कर्म्म का पलड़ा भारी है। और फिर कर्म्म कर्म्म है, नानाभावों से नित्य आक्रान्त है। अतएव यह पराशान्ति (अव्ययशान्ति, किंवा प्रत्ययगात्मशान्ति) का कारण नहीं बन सकता। इधर ज्ञानयोग पराशान्ति का अनुगामी अवश्य है। परन्तु संसार में रहते हुए, सांसारिक कर्म्मों में लिप्त रहते हुए, प्रतिकूल राजशासनों के कुचक्र से ज्ञानोपयिक देश-कालादि साधनों के विरह से कभी ज्ञानानुयायी अपनी ज्ञानचर्य्या में सफल नहीं होसकता। **"क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं–पथस्तत् कवयो वदन्ति"** यह सूक्ति कर्म्ममार्ग की भाँति ज्ञानमार्ग को ही क्षुर की तीक्ष्ण धारा मानती हुई इसे भी दुर्गमपथ ही प्रमाणित कर रही है।

६--ऐन्द्रियक--मात्रा--स्पर्श--भावों की अनिवार्य्यता, एवं स्वाभाविक कर्म्मों की अनिवार्य्यता का दिग्दर्शन--

मानलीजिए राष्ट्र आप का है, आप पूर्ण-स्वतन्त्र हैं, ज्ञानयोग-साधन के लिए सुविधानुसार सम्पूर्ण साधन परिग्रह भी प्रस्तुत हैं। फिर तो कर्म्मयोग की अपेक्षा ज्ञानयोग की उत्कर्षता सिद्ध होगई। भगवान् कहते है–नहीं। जिसप्रकार आत्मा का स्वाभाविक धर्म्म ज्ञान, एवं निष्कामकर्म्म है, एवमेव इन्द्रियों का स्वामाविक धर्म्म विषय ग्रहण, और परित्याग है। जिसप्रकार आत्मा के स्वामाविक धर्म्मों का हम नियन्त्रण नहीं करसकते, बलात् नियन्त्रण से लाभ के स्थान में हानि हीं उठानी पड़ती है, एवमेव पराङमुख, अतएव विषय-परायण, इन्द्रियों के स्वामाविक धर्म्मों का भी हम नियन्त्र नहीं करसकते, एवं बलात् नियन्त्रण करने से हानि हीं उठानी पड़ती है। आपकी इच्छा-अनिच्छा का इन स्वामाविक धर्म्मों के नियन्त्रण में कोई मूल्य नहीं है। चक्षुके सामने जो वस्तु आजायगी, अवश्य चक्षु उसके रूप का ग्रहण कर लेगा। शब्द आवेगा, श्रोत्रेन्द्रिय अवश्य पकड़ लेगी। गन्ध आवेगा, घ्राणेन्द्रिय कभी वञ्चित न रहेगी। स्पर्श होगा, त्वगिन्द्रिय अपने अनुभव से शून्य न रहेगी। आप न न करते हीं रहें, परन्तु मात्रास्पर्श कभी अपने इन्द्रियायतनों के स्वाभाविक सहयोग से वञ्चित न होंगे। एक दोष।

७---इन्द्रियदमनरूप आत्महनन, तदनुगत ज्ञानमार्ग, एवं जटिलतम ज्ञानपथ, और तन्निबन्धन मनोविज्ञान का समन्वय----

आत्मप्रकाश से ही प्रकाशित इन्द्रियों का दमन आत्महत्या से कम महत्त्व नहीं रखता। उस महाज्ञान के सामने यदि इस पातक की उपेक्षा भी कर दी जाय, तब भी ज्ञानयोग कर्म्मयोग की अपेक्षा श्रेष्ठ, एवं सरल नहीं माना जासकता। जिसमें बलात्कार से इन्द्रियों का संयम करना पड़े, लोकविभूति का सर्वथा-परित्याग करना पड़े, उस मार्ग की जटिलता तो सहजसिद्ध ही है। अब प्रश्न रह जाता है—केवल श्रेष्ठता, एवं सामान्यभाव का। कर्म्मवाद का यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि-जिस वस्तु से हम अधिक भय करते हैं, वह वस्तु हमें अधिक डराती है। एवं जिससे हम भय नहीं करते, वही वस्तु हमारे मैत्रीपूर्ण सहयोग से कालान्तर मे हमारा अभयस्थान बन जाती है। मनोविज्ञान-सिद्धान्त भी इसी तथ्य का समर्थक है।

८—मात्रास्पर्शभावों की तितिक्षा, और अभयभाव—

नगर में रहने वाले धनिक सान्तपनवायु (लू) से भयत्रस्त रहते हैं। प्रतिक्षण उससे बचते रहते हैं। परिणाम इसका यह होता है कि, उनका शरीर इस आक्रमण को सहने में असमर्थ होता हुआ शक्तिशून्य बन जाता है। सान्तपन का प्रवाह भी नहीं रोका जासकता, साथ ही शरीर को भी वसुधानकोश (डिब्बी) में बन्द करके नहीं रक्खा जासकता। उधर ग्राम में रहने वाला एक कृषक पानी-धूप-जाड़ा-आदि सब कुछ सहता हुआ भी हमारी अपेक्षा स्वस्थ है। उस ने प्रकृति के इन मात्रास्पर्शों में तितिक्षा (सहने की शक्ति) उत्पन्न करली है। यह तितिक्षाभाव ही उसे निर्भय बनाने में समर्थ हुआ है।

९—विविध दोषाक्रान्त ज्ञानमार्ग की जटिलता, और उस की अवरकक्षानुगति—

तितिक्षाभाव रखते हुए आत्मा को निष्कामबुद्धि से कर्म्म में प्रवृत्त रहने दो। आत्मधर्म्म भी सुरक्षित रहेंगे, इन्द्रिय-धर्म्म भी सुरक्षित रहेंगे, लोकसंग्रह भी प्रतिष्ठित रहेगा, एवं बिना क्लेश के इस कर्म्मयोग से सब कुछ बन जायगा। उधर कायक्लेश का साम्राज्य, लोकसंग्रह का अभाव, मानस संकल्प से अधिक बन्धन की सम्भावना, विषयजातमूलिका द्वेषासक्ति का प्रभाव, भयपरम्पराओं का आक्रमण, आदि आदि अनेक दोषों से युक्त ज्ञानयोग अवश्य ही अवरकक्षा का पात्र रह जायगा।

ज्ञानयोग में भी अनेक विप्रतिपत्तियाँ, कर्म्मयोग भी जटिलता से शून्य नहीं, इसी विषमा समस्या को समन्वित करने के लिए भारतवर्ष में तीसरे **भक्तियोग** का जन्म हुआ।

१०--ज्ञान--कर्म्मो--भयात्मक 'भक्तियोग' का संस्मरण—

'भक्तियोग' में ज्ञान-कर्म्म, दोनों का समत्व रक्खा गया। कुछ ज्ञान का भाग लिया गया, कुछ कर्म्म का भाग लिया गया, दोनों भागों से समन्वित यह योग **"भक्तियोग"** कहलाया। सब कर्म्म किए, अव्ययज्ञान को लक्ष्य में रक्खा, काम शारीरक आत्माने किया, इच्छा प्रत्यगात्मा की मानी गई। जो कुछ किया, निष्कामभाव से, ईश्वरार्पणबुद्धि से। यही भक्तियोग कहलाया। **'ईश्वरानन्यत्त्व'** ही इसका रहस्य कहलाया, जैसा—कि प्रथमखण्डान्तर्गत **"गीता का बुद्धियोग"** नामक प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है।

११-'भक्तियोग' का सहज लक्षण—

ज्ञान पारलौकिक पदार्थ बनता हुआ आधिदैविक है, कर्म्म ऐहलौकिक पदार्थ बनता हुआ आधिभौतिक है। भक्तिकाण्ड में आधिदैविक ज्ञान साध्य है, एवं आधिभौतिक कर्म्म साधन है, अतएव इसका लक्षण निम्नलिखित माना गया—

"जिस मार्ग में साधन आधिभौतिक हों, साध्य आधिदैविक हों, दोनों की समष्टि-रूप वही मार्ग भक्तिमार्ग है।"

१२-'भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः' का संस्मरण, और भक्तियोग की श्रेष्ठता—

कर्म्म-मार्ग साध्य-साधन-रूप से उभयथा आधिभौतिक बनता हुआ केवल ऐहलौकिक था। ज्ञान-मार्ग साध्य-साधन-रूप से उभयथा आधिदैविक बनता हुआ पारलौकिक था। एक में कर्म्मासक्ति थी, दूसरे में ज्ञानासक्ति थी। अतएव अंशात्मना दोनों योग विषम थे। इधर भक्तिमार्ग में आधिदैविक ज्ञान, तथा आधिभौतिक कर्म्म, दोनों का समावेश है, अतएव यहाँ समता की प्रधानता है। न ज्ञानासक्ति है, न द्वेषासक्ति है। अतएव यह योग राग-द्वेष-विरहित वैराग्यबुद्धियोग के समधरातल पर प्रतिष्ठित होता हुआ वैराग्यबुद्धियोगनिष्ठ भगवान् का प्रिय योग बन रहा है—**"भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः"**।

१३-ज्ञान, कर्म्म, भक्ति, आत्मा, ब्रह्म, आदि भावों का संस्मरण, एवं गीताभूमिका के विभिन्न परीक्षा-खण्डों का समन्वय—

निष्कर्ष यही हुआ कि, **ज्ञान-कर्म्म-भक्ति**, तीनों में ज्ञान-कर्म्म एक श्रेणि की वस्तु है, एवं भक्ति दूसरी श्रेणि की वस्तु है। यह क्योंकि वैराग्यबुद्धियोग की अनुयायिनी है, अतएव **भक्तियोग**, और **बुद्धियोग**, इन दोनों को हमनें एक श्रेणि में प्रतिष्ठित मान लिया है। पाठकों को स्मरण होगा कि, हमने ज्ञानयोगपरीक्षाप्रकरण के आरम्भ में यह कहा था कि—"यद्यपि प्रचलित क्रमानुसार कर्म्म के अनन्तर भक्ति का ही निरूपण आवश्यकता या, परन्तु किसी कारणविशेष से ही कर्म्मयोगानन्तर भक्ति का निरूपण न कर पहिले हमें ज्ञानयोग का ही विवेचन करना पड़ा है।" वह विशेषकारण भक्ति के उक्त स्वरूप से स्पष्ट होजाता है। चारों निष्ठाओं में ज्ञान-कर्म्म एक श्रेणि में रहने योग्य हैं, एवं भक्ति, तथा बुद्धि, दोनों एक श्रेणि में रहने योग्य हैं। इसी आधार पर इस परीक्षाखण्ड के भी दो विभाग करना आवश्यक समझा गया है। **ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-बुद्धि**, ये चारों योग आत्मा के लिए विहित हैं। ऐसी दशा में सबसे पहिले आत्मा का स्वरूप जानना आवश्यक होजाता है। इसी आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए सर्वप्रथम **दर्शन**, एवं **विज्ञान**-दृष्टि से **'आत्मपरीक्षा'** की गई। **दर्शन का ज्ञान से सम्बन्ध है, एवं विज्ञान का कर्म्म से सम्बन्ध है**। फलतः यह जानने की जिज्ञासा हुई कि, ज्ञान नामक **'ब्रह्म'** क्या है, विज्ञान नामक-**'कर्म्म'** का क्या स्वरूप है, एवं **ब्रह्म-कर्म्म** का परस्पर क्या सम्बन्ध है ?। इसी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए आत्मपरीक्षा के अनन्तर **ब्रह्म-कर्म्म की परीक्षा** की गई। ब्रह्म का ज्ञानयोग से सम्बन्ध है, एवं कर्म्म का कर्म्मयोग से सम्बन्ध है। इन दोनों के स्वरूप परिचय के लिए **'ज्ञान-कर्म्मयोग की परीक्षा'** आवश्यक प्रतीत हुई। प्रचलित दृष्टि के अनुसार यद्यपि ज्ञानयोग ऊँची श्रेणि में प्रतिष्ठित है, एवं कर्म्मयोग अवरकक्षा

में। इस दृष्टि से ज्ञानयोग का ही पहिले विचार होना चाहिए था। परन्तु गीता की दृष्टि में (**तयोस्तु कर्म्म-संन्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते**) दोनों में ज्ञानयोग की अपेक्षा कर्म्मयोग ही विशेष है। इसी विशेषता को लक्ष्य में रखकर पहिले कर्म्मयोगपरीक्षा की गई, अनन्तर ज्ञानयोग की मीमांसा की गई। ज्ञान-कर्म्म-मय आत्मा, आत्मा के ब्रह्म-कर्म्म, नामक दोनों अवयव, ब्रह्मसम्बन्धी ज्ञानयोग, कर्म्मसम्बन्धी कर्म्मयोग, ये चारों हीं ब्रह्म-कर्म्म विभूति से आप्रान्त है। अतएव **आत्मपरीक्षा, ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा, कर्म्मयोगपरीक्षा, ज्ञान-योगपरीक्षा** इन चारों की समष्टि का एक स्वतन्त्र खण्ड माना गया। **'भक्तियोग'** यद्यपि प्राचीनों के मतानुसार कर्म्मयोग से पीछे की, एवं ज्ञानयोग से पहिले की वस्तु बनता हुआ मध्यमश्रेणि की वस्तु है। परन्तु ज्ञानकर्म्म-समन्वय के कारण गीता की दृष्टि में भक्तियोग ज्ञानापेक्षया विशेष, एवं कर्म्मयोग की अपेक्षा से भी उत्तम बनता हुआ ज्ञान-कर्म्मयोग-मर्य्यादा से बहिर्भूत है। अतएव इसे स्वतन्त्र माना गया। बुद्धियोग इसका अनुग्राहक है, **बुद्धियोगपरीक्षा ही गीतासारपरीक्षा है**। इसी दृष्टि से **भक्तियोगपरीक्षा, बुद्धियोगपरीक्षा, गीतासारपरीक्षा,** इन तीनों प्रकरणों का एक स्वतन्त्र खण्ड माना गया है। यह प्रकरण प्रधानरूप से भक्तिकाण्ड की परीक्षा करने के लिए ही प्रवृत्त होरहा है। इस मूल प्रस्तावना से हमें बतलाना केवल यही है, लोक-प्रचलित जिन तीन निष्ठाओं का भगवान्ने गीता में संशोधन किया है, उन तीनों में ज्ञानयोग अवरकक्षा में, कर्म्मयोग इसकी अपेक्षा विशेष, एवं भक्तियोग इसकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ है। दोनों की अपेक्षा यह सरल मार्ग है। राजमार्ग है। इसीलिए गीता में यह **ऐश्वर्य्यलक्षण भक्तियोग 'राजयोग'** नाम से व्यवहृत हुआ है। परन्तु गीता के बुद्धि का मार्ग तो राजमार्ग से भी श्रेष्ठ **राजर्षिमार्ग** है। अतएव यह आराध्ययोग **"राजर्षियोग"** नाम से प्रसिद्ध है, जैसाकि पाठक आगे के प्रकरण में देखेंगे।

इति किञ्चिदिव प्रास्ताविकम्

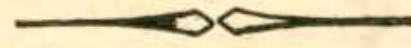
१

श्रीः

इति—भक्तियोगपरीक्षायां—पूर्वखण्डे—

किञ्चिदिव-प्रास्ताविकमुपरतम्

१



श्री

अथ–भक्तियोगपरीक्षायां–पूर्वखण्डे—

योगत्रयी का मौलिक विचार

२



श्री

२—योगत्रयी का मौलिक विचार

१—मौलिकतत्त्वान्वेषण की उपयोगिता का समन्वय, एवं प्रकृतिसम्मता जीवनपद्धति का अभ्युदय-निःश्रेयस्-भाव-प्रवर्त्तकत्व—

जबतक किसी मौलिक तत्त्व का अन्वेषण नहीं कर लिया जाता, तबतक उस की उपयोगिता, अनुपयोगिता के सम्बन्ध में कोई निश्चित निर्णय नहीं किया जासकता। एवं बिना ऐसे मौलिक निर्णय के केवल अन्धश्रद्धा से अपनाए हुए भाव एक वैज्ञानिक की दृष्टि से कभी अभ्युदय, (ऐहलौकिक सुख), किंवा निःश्रेयस् (पारलौकिक आनन्द) के प्रवर्त्तक नहीं बन सकते। साथ ही उन्हीं वैज्ञानिकों का (महर्षियों का) यह भी कहना है कि, जो कर्म्म, जो ज्ञान, जो भक्ति, अथवा जो कुछ इतर भाव प्रकृति से सम्बन्ध नहीं रखते, जिनका सम्बन्ध एकमात्र मनुष्य की कल्पना से ही है, वे भाव (कहने भर के लिए) कुछ समय के लिए भूतदृष्टि से उपयोगी सिद्ध होते हुए भी कभी स्थायी अभ्युदय के कारण नहीं बन सकते। कारण स्पष्ट है। हम उस प्रकृति के ही एक पर्व हैं। प्रकृति ही विकृतावस्थापन्न हम प्राणियों की जन्मदात्री है। प्रकृति ही हमारा पालन-पोषण (रक्षण) करती है। अन्त में हम उसी के क्रोड़ में सदा के लिए विश्राम कर लेते हैं। प्रभव-प्रतिष्ठा-एकायतनरूपा ऐसी प्रकृति की उपेक्षा कर हम किसी भी दृष्टि से सुखी नहीं रह सकते।

२—सच्चिदानन्दघन आत्मा का अंशभूत मानवीय भूतात्मा, एवं भूतात्मा की कामनात्रयी का संस्मरण—

प्रकृति देवी से नित्य समन्वित व्यापक आत्मानन्द ही हमारा आत्मा है। हम उस आनन्दघन के ही एक विस्फुलिंग (चिनगारी) हैं। हम उसी चिद्घन के चित्कण हैं। उस सत्ताघन से ही हमारी स्वल्पसत्ता प्रतिष्ठित है। **आनन्द-चित्-सत्तात्मक** सच्चिदानन्द के अंशभूत जीवात्मा का इसके अतिरिक्त और क्या पुरुषार्थ होसकता है कि, वह नित्य सुखी रहै, उसमें ज्ञान (चित्) का पूर्ण विकास रहै, एवं वह अस्ति-लक्षण भौतिकवर्ग से पूर्ण ऐश्वर्य्यशाली बना रहै। **आनन्दकामना** भी स्वाभाविक है, **ज्ञानकामना** भी स्वाभाविक है, एवं **ऐश्वर्य्यकामना** भी स्वाभाविक ही है। स्वाभाविकी कामनात्रयी की पूर्ति के लिए प्रत्येक मनुष्य सतत प्रयास करता रहता है। परन्तु यह निर्विवाद है कि, जबतक अपनी इस वह स्वाभाविक कामना के मूल में स्वभाव (प्रकृति) को प्रतिष्ठित नहीं कर देता, तबतक उसकी कोई सी भी कामना सफल नहीं होती। आत्मकामना का **मूलद्वार** प्रकृति ही है। प्रकृति से वेष्टित आत्मा ही अज * होता हुआ भी जन्म धारण

---

* **अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।**
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ (गी० ४।६।) ॥

कर लेता है । सम्पूर्ण विश्व का अध्यक्ष आत्मा प्रकृति को आगे कर के ही चराचर के प्रसव का कारण बनता है* ।

३—जड़भूतवादियों का सुस्वागत, एवं प्रकृति की आराधाना की सर्वव्यापकता—

जड़वादियों का स्वागत करते हुए थोड़ी देर के लिए **'आत्मा'** नाम के पदार्थ को हम छोड़ भी देते हैं, तब भी प्रकृतिवाद की मौलिकता का तिरस्कार नहीं किया जासकता । विशुद्ध प्रकृतिवादियों (जड़वादियों) को भी यह मान लेने में तो कोई आपत्ति न होगी कि–मनुष्य प्रकृति के अनुकूल चलता हुआ ही सुखी रह सकता है । यदि कड़ाके के जाड़े में कोई मनुष्य बिना वस्त्रों के इधर उधर फिरेगा, तो प्रकृति के दण्ड से वह कभी न बच सकेगा । ग्रीष्मत्तु में तूलवस्त्रों का अनुयायी हठवादी अपना स्वास्थ्य बिगाड़ लेगा । जब बीसवीं सदी का जड़विज्ञान भी पद पद पर प्रकृतिवाद की घोषणा करता है, तो हमें कहना पड़ेगा कि, शास्त्रीय, एवं लौकिक, दोनों हीं दृष्टियों से यह सिद्ध है कि, मूलप्रकृति के अनुकूल चलने वाले **ज्ञान–कर्म्म–भक्ति** ही हमारे लिए उपयोगी हैं । एवं प्रकृतिविरुद्ध सर्वथा कल्पित तीनों योग नाश के कारण बनते हुए अयोग ही हैं, जैसा कि पूर्व के **ज्ञानयोगप्रकरण** में तीनों कल्पित (अशास्त्रीय) अयोगात्मक योगों का दिग्दर्शन कराया जाचुका है ।

४—प्रकृतिमूला योगत्रयी का आचारपक्ष, और वर्णाश्रम--व्यवस्थानुगत भारतीय--मानव से अनुप्राणिता योगत्रयी—

प्रकृतिवाद के सम्मुख उपस्थित होते ही विश्वव्याप्ति के भाव हमारे सम्मुख आजाते हैं । प्रकृतिसिद्धा व्यवस्था की व्याप्ति सम्पूर्ण त्रैलोक्य में माननी पड़ती है । ऐसी दशा में यह प्रश्न स्वतः एव प्रादुर्भूत हो-जाता है कि, "यदि तीनों हीं योग प्रकृतिसिद्ध हैं, तो फिर इनका एकमात्र भारतवर्ष ही क्यों अन्यतम दायाद-भोक्ता बन गया ? । क्यों इनके सम्बन्ध में अधिकार की अर्गला लगाई गई ?, क्यों नहीं सर्वत्र —समानरूप से ये योग विकसित हुए ? । जो समाधान प्रकृतिसिद्ध चातुर्वर्ण्यव्यवस्था के सम्बन्ध में हुआ था, वही समाधान इस प्रकृतिसिद्धा योगत्रयी के लिए पर्य्याप्त है । अवश्य ही चारों वर्णों की भाँति तीनों योग भी प्रकृतिसिद्ध ही हैं, एवं अवश्य ही वर्णों की भाँति ये भी चर-अचर सब पदार्थों में व्याप्त हैं । यह सब कुछ होने पर भी आगे जाकर ये तीनों योग उसी प्रकार भारतवर्ष ही प्रातिस्विक वस्तु बन गए हैं, जैसे कि प्रकृतिसिद्ध वर्ण, एवं आश्रमव्यवस्था आगे जागर किसी कारण–विशेष से एकमात्र भारतवर्ष की ही वस्तु बन गई है । हाँ, तो सबसे पहिले हमें उस प्रकृति का ही विचार करना चाहिए, जो इन तीनों योगों की मूलप्रतिष्ठा बनी हुई है ।

५—प्रकृतिवाद का प्रचण्ड उद्घोष, तदनुप्राणित 'नेचर' का महान् व्यामोहन, एवं 'प्रकृति' के परोक्ष स्वरूप से भौतिक-जगत् की तटस्थता—

सचमुच आज हम भारतवासियों के लिए यह महाशोक, एवं लज्जा की बात है कि, किसी समय

---

* **मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् । (गीता)**

प्रकृतिक-तत्त्वज्ञान की चरम सीमा पर पहुँचने का गर्व करने वाले भी हमने आज प्रकृति को एक परिहास की ही सामग्री बना डाली है। पद पद पर आज हम प्रकृति की घोषणा करते हैं, परन्तु काम सब प्रकृति के विरुद्ध ही करते हैं। जिसे देखो वही आज प्रकृति का पूरा पण्डित बना हुआ है। "यह काम नेचर के ख़िलाफ़ है" —"यह सब केवल आडम्बर है" — "मनुष्यता का तकाजा है कि, वह इन नेचर के ख़िलाफ़ कामों से परहेज़ करे" ऐसे ऐसे आदर्श वाक्यों का उपयोग किया जाता है एकमात्र भारतीय ज्ञान-कर्म्म–भक्ति–योगों के सम्बन्ध में। क्या हम उन प्रकृतिभक्तों से यह पूछने कि धृष्टता कर सकते हैं कि, श्रीमन्! खाते, पीते, उठते, बैठते, चलते, फिरते अहर्निश जिस नेचर के आप गुणगान करते रहते हैं, क्या कभी स्वप्न में भी उस नेचर का स्वरूप जानने के लिए आपकी ओर से कोई प्रयास हुआ है?। प्रकृतितत्त्व क्या है?, प्रकृति कब, कैसे, कहाँ, क्या उत्पन्न करती है?, क्या इन प्रश्नों की आपने कभी मीमांसा करने का कष्ट उठाया है?। किस युग में प्रकृति का कैसा स्वरूप हो जाता है?, देश-काल-पात्र-द्रव्य आदि के तारतम्य से एक ही प्रकृति के कैसे-कैसे विविध रूप होजाते हैं?, क्या कभी आपने इस सम्बन्ध में कोई निर्णय प्रकट करने का अनुग्रह किया है?। यदि हाँ, तो जानने की जिज्ञासा है। भूले हुए भारतीय महर्षि, उनकी रचनाएँ (शास्त्र), एवं तदनुगामी हमारे जैसे आर्थोडाक्स भारतीय आप का उपकार मानेंगे। यदि नहीं, तो फिर आप को अपनी जिज्ञासा के लिए उन्हीं भारतीय ऋषियों की शरण में आना पड़ेगा। परन्तु ध्यान रखिए! आप की यह शरणागति भक्तिभाव को प्रधान मान कर ही सफल होसकेगी। यदि आपकी भावना दूषित है, यदि पहिले से ही आपने—"हम जो कुछ जानते, एवं करते हैं, वह बावन तोला पाव रत्ती है, प्रकृति सिद्ध है" इस अभिनिवेश (दुराग्रह-हठधर्म्मी) का अनुगमन करते हुए श्रद्धामयी भक्ति का परित्याग कर अपने आप को अभक्त बना रक्खा है, तो तत्काल आपके सामने भगवान् कृष्ण का **"नाभक्ताय कदाचन"** यह आदेश उपस्थिति होजायगा। एवं उस समय आपको निराश होकर ही लौटना पड़ेगा। यदि भक्तिमूला जिज्ञासा है, तो आपका यहाँ हृदय से अभिनन्दन है। फलस्वरूप प्रकृति का निम्नलिखित तात्त्विक स्वरूप आपके सामने उपस्थित है।

६—ऋषिप्रज्ञानुगत शब्दविन्यास, एवं तन्मूला तात्त्विकी-शब्दनिर्वचन-प्रणाली का संस्मरण—

आर्ष महर्षियों के परिमार्जित, दोषरहित, अतएव सर्वथा प्रामाणिक ज्ञानवैभव का सबसे बड़ा चमत्कार है—उनका शब्दविन्यास। उन्होंने जिस तत्त्व के स्पष्टीकरण के लिए जो शब्द कहे हैं, उन शब्दों में हीं वह तत्त्व निगूढ है। यदि तत्तत् तत्त्व प्रतिपादक तत्तत् शब्दों का ही हम निर्वचनदृष्टि से अन्वेषण करने लग पड़ते हैं, तो वे शब्द ही उन तत्त्वों का स्वरूप स्पष्ट कर देते हैं। **शब्दब्रह्म का सम्यक् परिज्ञान हीं तत्त्व-लक्षण परब्रह्म के ज्ञान के लिए पर्य्याप्त है।** जो तत्त्व विश्व का मूल कारण है—उसके लिए ऋषि-सम्प्रदाय में **प्रकृति, प्रधान, नियति, अव्यक्त, अक्षर, अमृत, कारण, सेतु, भूतभावन, स्रष्टा, अन्तर्य्यामी, परा, सूत्र,** इत्यादि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। प्रकृत में इन सभी शब्दों का तो निर्वचन नहीं किया जासकता। उदाहरण के लिए तीन चार शब्दों का निर्वचन हीं पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जारहा है।

७—'प्रकृति' शब्द के 'प्र', और 'कृति' भाव, प्रकृतिमूलक 'दैवात्' शब्द, एवं तत्सम्बन्ध में विविध भ्रान्तियाँ—

पहिले 'प्रकृति' शब्द को ही लीजिए। 'कृति' शब्द का अर्थ सर्वविदित है। "यह अमुक व्यक्ति की कृति (कार्य्य-रचना) है" यह लोकप्रसिद्ध व्यवहार ही सर्वविदितता में प्रमाण है। लोक में जितने भी जड़ चेतन पदार्थ हैं, उन सबको हम "कृति" कह सकते हैं। ये सब पदार्थ कार्य्यरूप हैं। कार्य्य बिना कारण के सर्वथा अनुपपन्न है, यह भी निःसंदिग्ध सिद्धान्त है। हाँ, उस कारण का हमें ज्ञान न हो, यह दूसरी बात है। उसी अज्ञात कारण के लिए संस्कृत-साहित्य में "दैवात्" शब्द प्रचलित है। प्रकृतितन्त्र के संचालक, प्रकृतिरूप **रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द**-मात्राओं से अतीत सूक्ष्म तत्त्व ही "**प्राण**" नाम से प्रसिद्ध है। इन सूक्ष्म प्राणों की **ऋषि-पितर-देव-गन्धर्व-असुर** आदि अनेक जातियाँ हैं। इन्हीं प्राणों के समन्वय-तारतम्य से सृष्टि में विविध प्रकार के परिवर्त्तन हुआ करते हैं। इन प्राणदेवताओं का व्यापार हमारे चर्म्मचक्षु से परे की वस्तु है। किस प्राणदेवता के किस व्यापार से भूकम्प होगया ?, यह हम अपनी आँखों से नहीं देख सकते। देवता के द्वारा होने वाला कृतिरूप भूकम्प अवश्य ही हमारी दृष्टि का विषय बन रहा है। परन्तु जिस प्राणात्मक (देवात्मक) कारण से इस कृति का जन्म हुआ है, वह कारण हमारी ज्ञान-सीमा से बाहिर है। परन्तु हम इस सम्बन्ध में भी यह अवश्य ही कह सकते हैं कि, दैववश (प्राणदेवता के द्वारा) ही ऐसा हुआ है। कितने हीं भारतीय विद्वान् दैवात् का अर्थ "**यों ही**" किया करते हैं। इस "यों ही" से यह ध्वनि निकलती है कि, कारण कुछ न था, '**अकस्मात्**' ऐसा होपड़ा। परन्तु विज्ञान-दृष्टि से यह ध्वनि अशुद्ध है। कार्य्यकारणमय विश्व में कोई भी परिवर्त्तन 'यों ही' नहीं होजाया करता। अवश्य ही प्रत्येक कार्य्य का कारण होता है। ज्ञातदशा में हम उस कारण का स्थूलरूपों से अभिनय करने में समर्थ होजाते हैं। किन्तु अज्ञातदशा में दैववाद को उपस्थित कर देते हैं। यद्यपि ज्ञात-अज्ञात, दोनों हीं कारण प्रकृतिरूप बनते हुए दैवात्मक हैं। परन्तु ज्ञातदशा में देवप्राण के आधार स्थूलभूत बन जाते हैं, अतः वहाँ देवशब्द का व्यवहार न होकर स्थूलभूत का व्यवहार होने लगता है। किन्तु अज्ञातदशा में विशुद्ध देवव्यवहार प्रधान बन जाता है। इसी अर्थ को व्यक्त करने वाला हमसरा "**दैवात्**" शब्द है। दैवात् का अर्थ "यों ही" कैसे बन गया?, इसमें भारतीयों का अपना कोई दोष नहीं है। अपितु यह संसर्ग की कृपा का ही फल है। प्रत्येक कार्य्य में कारण ढूँढने का अभिमान करने वाले पश्चिमी विद्वान, एवं तदनुयायी उच्छिष्ट-भोगी भारतीय विद्वान् कभी कभी अपने श्रीमुख से "**बाइचान्स**" शब्द का उच्चारण कर दिया करते हैं। उनकी दृष्टि में हीं बाइचान्स का "यों ही" अर्थ है। वे इस पवित्र शब्द का उपयोग कब करते हैं ?, यह भी एक उदाहरण से देख लीजिए।

८—संस्कृतज्ञ विद्वानों की 'अकस्मात्' मूला 'दैवात्' शब्द-निबन्धना महती भ्रान्ति, एवं तन्निराकरण-प्रयास—

शकुनशास्त्रवेत्ताओं का कहना है कि, यदि कोई व्यक्ति शुभ कार्य्य के लिए अपने घर से निकलता है, और मार्ग में मार्ज्जार (बिल्ली) मार्ग काट देती है, तो उसे वापस लौट आना चाहिए। यदि वह व्यक्ति हठ करके चला जायगा, तो उसका अनिष्ट होजायगा। ऐसे हठवादी का उक्त आज्ञा न मानने से

कोई अनिष्ट होजाता है। उस समय आस्तिक कहता है कि, लो, तुमने शास्त्र की आज्ञा नहीं मानी, इसलिए तुम्हारी यह दशा हुई। तत्काल बाइचान्सवादी कह उठता है कि, "अजी जाने भी दो, इन बातों में क्या रक्खा है। कहीं बिल्ली लाँघने से भी अनिष्ट हुआ है। यह तो "बाइचान्स" ऐसा होगया है। तर्क इस सम्बन्ध में यह उपस्थित किया जाता है कि, जो इन अड़ँगों को नहीं मानते, उनका हम कोई भी अनिष्ट नहीं देखते। साथ ही मानने वालों में से भी कितने एक ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि, वे बिल्ली लाँघ जाते है, परन्तु उनका कुछ भी तो अनिष्ट नहीं होता"। केवल इसी तर्कवाद के आधार पर आज इन महानुभावों की ओर से भारतीय शकुनशास्त्र को निर्म्मूल बनाने की चेष्टा की जारही है। वे यह भूल जाते हैं कि, भारतीय शास्त्र **'भारतीय शास्त्र'** है, **प्रकृतिशास्त्र** है, **दिव्यभावमूलक अतीन्द्रियशास्त्र** है। वह भौतिक इष्ट अनिष्ट को ही इष्ट-अनिष्ट नहीं मानता। अपितु इसके साथ वह ब्रह्मगत देवानिष्ट-इष्टता को ही विशेष महत्त्व देता है। यदि एकमात्र उदरपरायणता ही इनका इष्ट होता, साथ ही केवल शारीरिक–हानि हीं अनिष्ट होता, तो अवश्य ही ऐसे अवसरों पर उनका बाइचांस शब्द प्रयुक्त होसकता था। कार्य्यकारणवादी एक वैज्ञानिक की दृष्टि में "यों ही" ध्वनि से सम्बन्ध रखने वाले बाइचान्स शब्द का कोई मूल्य नहीं है। इसी निर्मूल–भाव ने संस्कृतज्ञ विद्वानों को भी "दैवात्" के अर्थ में आज भ्रान्त बना दिया है।

९—कृति की प्रागवस्था, और 'प्रकृति' शब्द-समन्वय—

अस्तु, प्रकृत में वक्तव्य यही कि, **'कार्य्य'** नाम से प्रसिद्ध **'कृतिमात्र'** का कोई न कोई कारण अवश्य रहता है। कारण की उत्तरावस्था ही कार्य्य, किंवा कृति है। मिट्टी की उत्तरावस्था ही तो घट है। शुक्र, शोणित की उत्तरावस्था ही तो सन्तान है। उत्तरावस्थारूपा कृति की प्रथमावस्था ही तो कारण है। कृति की यह प्रथमावस्था ही "**प्र—कृति--कृतेः प्रागवस्था, पूर्वावस्था, प्रथमावस्था वा**" इस निर्वचन के अनुसार **'प्रकृति'** है।

१०–'प्रकृति' शब्दानुगता एक समस्या, और उसका निराकरण--

इस सम्बन्ध में आप प्रश्न करेंगे कि, यदि कारण को ही प्रकृति कहा जाता है, तो उसे प्रकृति न कहकर केवल "प्र" इस एकाक्षर शब्द से ही व्यवहृत करना चाहिए था। कृति शब्द तो उत्तर अवस्था का सूचक है, एवं अभीष्ट है केवल कृति की पूर्वावस्था का अभिनय। फिर उसे "**प्र**" न कहकर "**प्रकृति**" क्यों कहा गया ?। **प्रकृति का अर्थ होगा—कारणयुक्ता कृति**। हम वह नाम चाहते हैं, जो कि केवल कृति के प्रागभाव का ही सूचक हो ?। स्वयं **'प्रकृति'** शब्द ही इस विप्रतिपत्ति का भी निराकरण कर रहा है।

११–कार्य्यभावात्मक 'कृति' शब्द, कारणभावात्मक 'प्र' शब्द, और कार्य्य–कारण–रूपा–'प्रकृति' का समन्वय —

हमें कृति की पूर्वावस्था का विचार करना है। उस पूर्वावस्था का, जिसका विश्वरचना में उपयोग होरहा है। विश्वदशा में वह प्रकृति, किंवा आपके कथानुसार "**प्र**" भाव बिना कृति के सर्वथा अनुपपन्न है। विश्वावच्छिन्न 'प्र' भाव (कारण) क्षणमात्र के लिए भी कृति से बाहिर नहीं है। यदि **'प्र'** में से 'कृति'

निकाल दी जाती है, तो वह 'प्र' विश्वसीमा से बाहिर निकलता हुआ '**कृतिभाव**' से सर्वथा सम्बन्ध–विच्छेद करता हुआ, अतएव अपनी कारणमर्य्यादा से भी वञ्चित होता हुआ 'प्र' भी नहीं रहता। 'प्र' तभी तक 'प्र' है, जबतक कि उसके साथ 'कृति' का सम्बन्ध है। '**कारण**' शब्द '**कार्य्य**' की नित्य अपेक्षा रखता है। 'कारण' शब्द के सुनते ही किस का कारण ?, यह जानने की अपेक्षा होती है। **कार्य्यगर्भित कारण हीं कारण है**। कृति की अपेक्षा ही तो कारण का 'प्र' भाव सुरक्षित है। इसी रहस्य को, इसी नित्य कार्य्यकारणभाव को सूचित करने के लिए इसे केवल 'प्र' न कहकर '**प्रकृति**' शब्द से सम्बोधित करना उचित समझा गया है।

१२–प्रकृतिवाचक–'प्रधान' शब्द का तात्त्विक–स्वरूप समन्वय—

दूसरा '**प्रधान**' शब्द है। 'प्रकृति' शब्द कृति की पूर्वावस्था का सूचक था, एवं 'प्रधान' शब्द कृति की उत्तरावस्था का द्योतक है। अथवा यों समझिए, प्रकृति शब्द कारण की उत्पादकशक्ति का सूचक है, एवं प्रधान शब्द कारण की प्रतिष्ठा का सूचक है। दूध से मलाई उत्पन्न होती है, इस दृष्टि से दूध को मलाई की प्रकृति अवश्य कहा जा सकता है। परन्तु मलाई को आप दुग्धधरातल से पृथक् भी निकाल सकते हैं। अतएव दूधको '**प्रधान**' नहीं कहा जासकता। प्रधान उसी प्रकृति को कहा जायगा, जोकि कार्य्य की प्रतिष्ठा भी होगा। उत्पन्न कार्य्य उत्पादक से कभी पृथक् न हो, ऐसा अभिन्नसत्तात्मक उत्पादक ही "**प्रधत्ते**" इस निर्वचन से '**प्रधान**' कहलाएगा। '**धान**' शब्द से भी काम चल सकता था, परन्तु इससे लक्षण अतिव्याप्त बन–जाता। वस्त्रों को हमने धारण कर रक्खा है, अतः "धत्ते" के अनुसार शरीर भी '**धान**' है। परन्तु शरीर, और वस्त्रों की सत्ता एक नहीं है। अतएव इसे वस्त्रों का '**प्रधान**' नहीं कहा जासकता। कृति की पूर्वावस्था–रूप 'प्र' ही अभिन्नसत्तालक्षण 'प्र' है। अतः वही '**प्रधान**' कहा जाता है। कार्य्य को कभी न छोड़ना हीं 'प्र' का प्रकृष्टत्त्व है। '**प्रधान**' का 'प्र'–भाव इसी प्रकृष्टता का सूचक है।

१३–प्रकृतिवाचक–'कारण' शब्द का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय—

तीसरा '**कारण**' शब्द है। यह शब्द कारण की कर्तृत्वशक्ति का अभिव्यञ्जक बन रहा है। शुक्र उत्पादक अवश्य है, सन्तान की प्रकृति अवश्य है। परन्तु इसे कारण नहीं माना जासकता। कारण तो पिता ही माना जायगा। शुक्र बिना पिता के व्यापार के कभी शोणिताग्नि में आहुत नहीं होसकता। उधर प्रकृति उत्पादिका होने के साथ-साथ अपनी कार्तृत्व–शक्ति से कारण भी बनी हुई है। '**उत्पादयति**' के साथ '**करोति**' भाव का भी समावेश है। उत्पादक शुक्र जैसे अपनी उत्पादकशक्ति को कार्य्य में परिणत करने के लिए अन्य कारण (पिता के गतिभाव) की अपेक्षा रखता है, वैसे प्रधानलक्षणा प्रकृति को अपनी उत्पादकशक्तिको व्यवहार में लाने के लिए अन्य कारण की अपेक्षा नहीं रहती। वह स्वयं ही उत्पादिका (प्रकृति) है, स्वयं ही कर्त्री (कारण) है। अतएव "**करोति**" इस निर्वचन से इसे कारण कहा जाता है।

१४–प्रकृतिवाचक–'बीज' शब्द का तात्त्विक स्वरूप–समन्वय—

चौथा शब्द "**बीज**" है। बीज शब्द "**विजायते**" का सूचक है। "**विशेषण विविधं वा जायते**" ही 'बीजम्' है। "**अन्येषामपि**" (पा० ६।३।१३७) से दीर्घ होजाने पर 'विज' ही 'बीजम्' है। ब–कार

'व -कार के अभेद से 'बीजम्' ही 'बीजम्' है। जायते, और विजायते में अन्तर है। नियतोत्पत्ति का जायते से सम्बन्ध है, एवं सर्वोत्पत्ति का विजायते से सम्बन्ध है। मानवी-स्त्री से केवल मनुष्यविधा प्रजा-ही उत्पन्न होसकती है। इसी नियतभाव के कारण इसे केवल "जम्" ही कहा जायगा। परन्तु प्रकृति के गर्भ से यच्चयावत् पदार्थ उत्पन्न होते हैं। परस्पर अत्यन्त विरुद्ध सभी विविध भाव इसी से उत्पन्न हुए हैं, अतएव इसे 'विजम्' किंवा 'बीजम्' कहा जाता है। प्रकृतिविशिष्ट प्रजापति ही 'विजायते' का अधिष्ठाता है, जैसाकि—"अन्तरजायमानो बहुधा विजायते" इत्यादि-मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। 'बीज' शब्द इसी भावका समर्थक है।

१५-प्रकृतिवाचक-'निदान' शब्द का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

पाँचवाँ "निदान" शब्द है। यह शब्द आत्मसमर्पण का ही सूचक है। प्रकृति अपनी कृति के लिए अपने आपका (सत्ता) का दान कर देती है। पिता प्रदान से पुत्रकृति का कारण बनता है। परन्तु यह भिन्नसत्ताक-कार्य्यकारणभाव-सम्बन्ध है। पिता न रहे, तो पुत्र का कुछ नहीं बिगड़ता, एवं पुत्र न रहे, तो पितृस्वरूप की कोई हानि नहीं होती। परन्तु यहाँ ऐसा नहीं है। यहाँ अभिमसत्ताक-कार्य्यकारणभाव है। मिट्टी घटकृति के लिए आत्मसमर्पण किए हुए है। बिना मिट्टी को लिए घट की रक्षा ही नहीं होसकती। यही आत्मसमर्पणलक्षण निःशेषदान है इसी अभिप्राय से-'नितरां दीयते' इस निर्वचन से इसे 'निदान' कहा जाता है। यह 'नितरांदान' मूलकारणसत्ता से ही सम्बन्ध रखता है, अतएव 'आदिकारण' को भी निदान कहा जाता है—"निदानं त्वादिकारणम्"।

१६-प्रकृतिवाचक-'अव्यक्त' शब्द का तात्विक स्वरूप-समन्वय—

'अव्यक्त' शब्द प्रकृति की अतीन्द्रियता का सूचक है। लौकिक-कारणों का हम चर्म्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष कर सकते हैं। परन्तु लोक--कारणरूपा प्रकृति को हम देखनें में असमर्थ हैं। उसका कृतिरूप, किंवा फलरूप ही हमारे सामने आता है। कारणदशा सदा अव्यक्त (अप्रकट--अतीन्द्रिय) ही है। इसी आधार पर महा-भारतकारने अव्यक्तानुयायी विद्वानों के कार्य्य-कारणरूप कार्य्य को भी 'अव्यक्त' ही बतलाया है। विद्वान् क्या कर रहा है ?, इसका किसी को पता नहीं, और पता लगना भी नहीं चाहिए। विद्वान् के कर्त्तव्य का फलरूप जो 'कृतिभाव' है, उसे ही लोक जानता है, एवं जाने। अव्यक्तमूला ऐसी कर्त्तव्यपरायणता ही वास्तविक-कर्त्तव्यता है।

१७-प्रकृतिवाचक-'अक्षर' शब्द का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

'अक्षर' शब्द नित्यकारणतावाद का सूचक है। यदि दूध से आप मलाई बनाते चले जायँगे, तो कुछ समय में ही सारा दूध मलाई बन जायगा, दूध का मूलोच्छेद होजायगा। परन्तु यहाँ का कार्य्यकारणभाव ऐसा नहीं है। प्रकृति से ऐसे ऐसे अनन्त महाविश्व उत्पन्न होगए, परन्तु ऊर्णनाभि की भाँति उसके प्रारम्भिक स्वरूप में अणुमात्र भी कभी न हुई--"एष नित्यो महिमा ब्रह्मणो न कर्म्मणा वर्द्धते नो कनीयान्"। इसी अविकृतपरिणामभाव से नित्यपुरुष की वह नित्या प्रकृति "अक्षर" (क्षीण न होने वाली) नाम से प्रसिद्ध है।

१८—प्रकृतिवाचक 'सेतु' शब्द का संस्मरण—

प्रकृति के इस ओर वैकारिक जगत् है, उस ओर निर्विकार पुरुष है, मध्य में **सेतु**–स्थानीया प्रकृति है। प्रकृति को इधर झुका दीजिए, बन्धन है, उधर लेजाइए, मुक्ति है प्रकृतितत्त्व के इस मध्य स्थान को व्यक्त करने के लिए ही इसे "**सेतु**" कहा जाता है।

१९—प्रकृतिवाचक--'नियति' शब्द का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

सबसे महान् पूर्ण नाम है '**नियति**'। इस नाम को हम इसलिए महत्त्वपूर्ण कहेंगे कि–इस नाम की व्याप्ति का हम प्रत्यक्ष में अनुभव कर रहे हैं। "**नितरां यच्छति**" ही '**नियति**' शब्द का निर्वचन है। प्रकृति का प्रकृतित्व इस नियतिभाव पर ही निर्भर है, जैसा कि--"**प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति**" इत्यादि गीता सिद्धान्त से भी स्पष्ट है। प्रकृति का शासनसूत्र अटल है। उसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। जो भी उल्लंघन करता है, वह अपना स्वरूप ही खो बैठता है। उसका नियन्त्रण सर्वथा नियत है। वह नियमपूर्वक ही सब का नियमन किए हुए है, अतएव कोशकार ने नियति को ही नियम भी मान लिया है।

२०–महातन्त्रायी तन्त्रेश्वर, और उसका शासनतन्त्र—

राजा स्वयं शासन नहीं करता, स्वयं दण्डविधान नहीं करता। अपितु राजा का नियम (कानून) हीं शासन करता है। राजा स्वयं अपने राष्ट्र में चंक्रमण नहीं करता। अपितु-उसका शासनसूत्र ही सर्वत्र व्याप्त रहता है। महातन्त्रायी तन्त्रेश्वर स्वयं ईश्वरप्रजापति (अव्यय) विश्व का सञ्चालन नहीं करता, प्राधानिक मतानुसार वह तो पुष्करपलाशवत् निर्लेप है। शासन करता है उसका नियम, और उसी नियम सूत्र का नाम है "**नियतिर्दण्ड**"। वही नियतिर्दण्ड प्रकृति नाम से प्रसिद्ध है—"**मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्**"।

२१--महाभयात्मक नियतिर्दण्ड, और आधिकारिक जीव—

क्या आप समझते हैं कि, **सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी–ग्रह–उपग्रह** आदि अपनी स्वतन्त्र इच्छा से अपना अपना कार्य्य कर रहे हैं?। नहीं, इनकी तो कोई स्वतन्त्र इच्छा है ही–नहीं। ये सब **आधिकारिक** जीव हैं। प्रकृति के द्वारा सब अपने अपने कर्म्म में नियत हैं। क्या साहस कि, कभी सूर्य्य बृहतीबिन्दु को छोड़ दें। अथवा पृथिवी क्रान्तिवृत्त का परित्याग करदे। सबके मस्तक पर वह प्रकृति–दण्ड **विराजमान है**। उसी महाभयरूप महावज्र के संचालन से सब सञ्चालित हैं—

भीषास्माद्वातोदेति भीषोदेति सूर्य्यः।
भीषादग्निश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

२२--भयावह मनुष्यप्राणी, और तद्द्वारा विश्वशान्ति का विकम्पन—

यदि 'मनुष्य' नाम का भयावह प्राणी संसार में न होता, तो कभी विश्व में **अशान्ति न होती**। कभी प्रकृति का शासन शिथिल न होता। कभी छल–कपट-दम्भ को अवसर न मिलता। कोई

प्राणी दुःखी न होता। परन्तु ईश्वरप्रजापति के समकक्ष रहने का गर्व रखने वाले पुरुष, किन्तु पशु नाम के प्राणी ने सब कुछ चौपट कर डाला। उस पुरुष (अव्यय) ज्ञान की अधिक मात्रा के गर्व में आकर इसने प्रकृति के नियन्त्रण की उपेक्षा कर, अपने साथ साथ अपने बन्धु इतर प्राणियों को, न केवल प्राणियों को ही, अपितु मेघ-आतप आदि इतर पदार्थों को भी दुष्ट कर डाला। एक पापी के बैठने से सारी नौका ही डूब गई। समय पर वृष्टि न होना, अतिवृष्टि होना, भूकम्प होना, महामारी में जनविनाश होना, परस्पर लड़-भिड़ कर राष्ट्र के अभ्युदय का नाश-कर डालना, इन सब अशान्तियों का एकमात्र मनुष्यजाति पर ही उत्तरदायित्व है। उसी ने स्वर्गसम संसार को नरक बनाया है। और यही यदि थोड़ी सी सुबुद्धि से काम ले, तो आज भी यह इसे पुनः स्वर्ग ही, स्वर्ग का काननबन ही बना सकता है।

२३-मानव के प्रज्ञापराध से प्रकृति का विकम्पन, एवं तद्द्वारा वैकारिक-विश्व का विकम्पन—

प्रवृत्तितत्त्ववेत्ता वैज्ञानिकों का कहना है कि, प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले पदार्थों के साथ प्रकृति का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। प्रकृति अपने अंशरूप वैकारिक पदार्थों पर अपना पूर्ण शासन रखती है। परन्तु इसका शासन मनुष्य में व्यर्थ होजाता है। कारण इसका यही है कि, जिस पुरुष की **ज्ञान-क्रिया-अर्थ**—शक्ति को लेकर प्रकृति स्वजनित वैकारिक पदार्थों का नियन्त्रण करने में समर्थ होती है, वही-शक्ति औरों की अपेक्षा, स्वयं प्रकृति की भी अपेक्षा मनुष्य में अधिक मात्रा से आजाती है। क्यों आजाती है ?, यह प्रश्न अचिन्त्य है। आजाती है, यह निश्चित है, और उसी का विचार प्रस्तुत है—**"स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया"**। इसी शक्तिवैशिष्ट्य के कारण मनुष्य ईश्वर के समकक्ष मान लिया गया। ईश्वरीय बल को लेकर प्रकृति जैसे कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थ बन रही है, एवमेव उसी बल के समधरातल पर, समधरातल पर ही क्यों, विशेष धरातल पर आके मनुष्य भी कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थ बन जाता है। अपने इसी ज्ञानातिमान में आकर यह प्रकृतितन्त्र का विरोधी बन जाता है। दूसरे शब्दों में कुछ समय के लिए सबका शासन करने वाली प्रकृति पर भी यह अपना अधिकार प्रतिष्ठित कर लेता है। संसार को प्रकृतिविरुद्ध कर्म्मों की ओर आकर्षित करने लग पड़ता है। प्रकृति का नियन्त्रण शिथिल होजाता है। परिणाम-स्वरूप प्राकृतिक विश्व के क्षेत्र के साथ साथ वैकारिक जगत् भी अशान्त होजाता है।

२४-प्रकृति-विकृति-के विकम्पन से ईश्वरपुरुष का विकम्पन, उसका मानवरूपसे अवतरण, एवं तद्द्वारा धर्म्मग्लानि की उपशान्ति—

ऋषि कहते हैं कि, ऋषि-पितर-देवता-पशु आदि आदि कोई भी प्राणात्मिका प्रजा प्रकृतितन्त्र का उल्लंघन नहीं करती। एकमात्र मनुष्य ही इसका अतिक्रमण कर जाता है-**"मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति"** (शतपथ ब्राह्मण)। परिणाम जो-कुछ हुआ, और होगा, वह संसार को भोगना पड़ा, एवं आज भी भोगना पड़ रहा है। जैसा कि कहा गया है, प्रकृतितन्त्र का स्वजनित वैकारिक तन्त्र के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। मनुष्य के कुकर्म्म से वैकारिक जगत् अशान्त होजाता है। धर्म्म-लक्षण प्राकृतिक नियन्त्रण शिथिल होजाता है। दूसरे शब्दो में-विकृतिभाव से नित्यसंश्लिष्टा प्रकृति भी विकृतिक्षोभ से क्षुब्ध होजाती है। फलतः प्रकृति

के स्वाभाविक नियम कुछ समय के लिए विपरीत होजाते हैं। न समय पर वृष्टि होती, न वर्चस्वी ब्राह्मण उत्पन्न होते, न महारथी क्षत्रिय जन्म लेते। दुष्काल-अकाल-विविध प्रकार के भयङ्कर रोग-अर्थहानि-प्रजाविनाश-राष्ट्रविप्लव-अधर्म्माचरण, आदि बीभत्सरूप सामने उपस्थित होजाते हैं। मूर्च्छितप्राया प्रकृति गिरती पड़ती भी स्थिति को सँभालने की चेष्टा करती रहती है। परन्तु मनुष्यों का प्रकृतिविरुद्ध आचरण जब सीमा का अतिक्रमण कर जाता है, तो—प्रकृति का रहा सहा बल भी सर्वथा अन्तर्म्मुख होजाता है। उस समय शान्ति का नामशेष भी नहीं रहता। सर्वत्र त्राहि! त्राहि! का ही आर्त्तनाद गूँजने लगता है। प्रकृति के साथ पुरुषदेवता नित्य विराजमान हैं। मनुष्य के कुकर्म से विकृतिमण्डल जब अछूता न रहा, विकृतिक्षेत्र से जब प्रकृति अपने आप को न बचा सकी, तो प्रकृति से सम्बद्ध पुरुष इस आक्रमण से कैसे बच सकता है?। फलतः प्राकृतिक क्षेत्र का आक्रमण उस तन्त्रायी पर भी जापहुँचता है। बस वहाँ पहुँचने भर की देर है, फिर सब काम परिसमाप्त है। जड़ प्रकृति पर अवश्य ही मनुष्य ने बलात्कार कर डाला, और कुछ अंशों में शुम्भ-निशुम्भ-रावण-कंसादि की भाँति इसने अपने प्रयोगों को सफल भी बना डाला। परन्तु जब उस अश्माखण (पत्थर की अभेद्य चट्टान) से इसका सामना हुआ, तो इसका सम्पूर्ण गर्व नष्ट होगया। लोकहितैषी नारदादि महर्षि—ऐसे भीषण अवसरों पर वे ही उपाय करते हैं, जिनसे कि प्रकृति का रहा-सहा बल भी अत्याचारों की वृद्धि से नष्ट होजाय, और उसका प्रभाव उस तटस्थ प्रजापति पर पड़े।

२५-भगवान् के 'अवतार' का पावन-संस्मरण—

सर्वज्ञान-कर्म्म-अर्थघन चिदात्मा पर जब प्राकृत क्षेत्र का आक्रमण होता है, तो स्वभाव से ही समत्वयोग का अनुयायी वह अव्ययपुरुष समताभाव की रक्षा के लिए प्रवृत्ति में अपना अंशबल डालता है। वही अंशबल प्रकृति के द्वारा धरातल पर मानवशरीर में सूर्य्य-चन्द्रादि आधिकारिक जीवों की भाँति अवतीर्ण होता है। सजातीयाकर्षण—सिद्धान्त के अनुसार जबतक मनुष्य मनुष्य का पथप्रदर्शक नहीं बनता, तबतक वह सन्मार्ग पर नहीं आता। साथ ही पथप्रदर्शक उस मनुष्य का कर्म्माश्वत्थ से सम्बन्ध न होकर ब्रह्माश्वत्थ से सम्बन्ध रहना चाहिए। क्योंकि ब्रह्माश्वत्थिक जीव ही साम-दाम-दण्ड-भेद में सफल होता हुआ दूषित मानववृत्ति का निरोध करसकता है। **वही ब्रह्माश्वत्थात्मक जीव "अवतार" नाम से प्रसिद्ध है। प्रकृतितन्त्रलक्षण धर्म्म की ग्लानि को शान्त करना, साधुवर्ग की रक्षा करना, असाधुओं को शिक्षा देना**, ये ही अवतारपुरुष के कुछ एक मुख्य उद्देश्य हैं। उद्देश्यपूर्त्ति के अनन्तर वह पुनः अपने लीलाधाम में लीलासंवरण कर जाता है। अस्तु, इन सब विषयों का वैज्ञानिक विवेचन **श्रीकृष्णतत्त्वनिरूपणात्मक प्रथमकाण्ड** से गतार्थ है। अतः इस चर्चा को यहीं उपरित कर प्रकृत विषय की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

२६-'स्वधर्म्म' का तात्त्विक समन्वय—

आंशिकरूप से मनुष्यप्राणी को अपवाद मानते हुए, परमार्थतस्तु इसे भी अपवाद न मानते हुए हमें यह निर्णय कर लेना पड़ता है कि, प्रकृति के नियन्त्रण से सम्पूर्ण त्रैलोक्य, त्रैलोक्य में रहने वाली चर अचर प्रजा, सब कुछ नियन्त्रित है। प्राकृतिक इच्छा का विरोधी, मानस इच्छा का अनुयायी मनुष्य भी कुछ एक नियन्त्रणों से बाहिर नहीं निकल सकता। प्रकृति का वह नियन्त्रण ही ऋषिसम्प्रदाय में **"धर्म्म"** शब्द से व्यवहृत हुआ है। सब पदार्थ इस स्व-स्व-धर्म्म से नित्य नियन्त्रित हैं।

२७--प्रकृति के नियत कार्य्य--कारण--भाव, और 'नियति' शब्द का तात्विक--निर्वचन-

प्रकृति स्वस्वरूप से क्रियाप्रधान, किंवा प्राणप्रधान बनती हुई यद्यपि जड़ है, तथापि क्योंकि यह उस चिदात्मा के ज्ञानप्रकाश से नित्य युक्त रहती है, अतएव उसका सम्पूर्ण नियन्त्रण ज्ञानपूर्वक ही होता है। वृक्षों का विन्यास, पत्तों की काट--छाँट, पुष्पों का यथानुरूप स्वरूप, फलों का व्यवस्थित आकार, पर्वतों का आकार-सन्निवेश, पानी का निम्नगमन, वायु का तिर्यग् गमन, अग्नि का ऊर्ध्वगमन, हरिणशृङ्गों का समतुलित संस्थान, पक्षियों का आकार सन्निवेश, ये सब एक सुव्यवस्थित शिल्प (कारीगर) से युक्त हैं। मानना पड़ता है कि, कोई चतुर शिल्पी ज्ञानपूर्वक बड़ी सावधानी से नियमशः इन पदार्थों का निर्म्माण कर रहा है। यही इस प्रकृति का नियतिभाव, किंवा नियमभाव है। एवं यह परिष्कृत शिल्प ही प्रकृतिदेवी के साक्षात् दर्शन हैं।

२८--संसरणशीला 'प्रकृति', तन्निबन्धना नियति, और प्रकृतिमूलक संसरणशील विश्व-

यह तो हुआ प्रकृतितत्त्व का, किंवा नियतितत्त्व का दार्शनिक स्वरूप। अब संक्षेप से इसके वैज्ञानिक स्वरूप का भी विचार कीजिए। **'कारण'** को हमनें **'प्रकृति'** कहा है। यहाँ **'कारण'** शब्द से **'निमित्त--कारण'** ही अभिप्रेत है। जिसप्रकार घट के प्रति कुम्भकार निमित्तकारण है, एवं मिट्टी उपादानकारण है, एवमेव विश्वरूप कार्य्य के प्रति भी दो कारण अपेक्षित हैं। इनमें जो निमित्तकारण होगा, उसे ही हम **"मूलप्रकृति"** कहेंगे। यही **'आदिकारण'** कहलाएगा। इस आदिकारणलक्षणा, निमित्तकारणात्मिका प्रकृति का मौलिक स्वरूप है—**"गतितत्त्व"**। **क्रियाभाव का ही नाम गति है। एवं गति ही मूलप्रकृति है।** नित्य-कुर्वद्रूपता ही इस कारण का नित्य संसरण है। सम्यक् संसरण-(गमन)-शीला प्रकृति ही विश्व का मूल है, अतएव इसे **"संसार"** (संसरणशील विश्व) कहा जाता है। कृतिभाव का वाचक स्वयं संसार शब्द ही अपनी मूलप्रकृति के स्वरूप का स्पष्टीकरण कर रहा है।

२६--गतिमूला प्रकृति, और उसके 'स्थिति- गति--आगति' नामक तीन प्रमुख विवर्त्त—

यह गतितत्त्व आगे जाकर पाँच स्वरूपों में परिणत होजाता है। केन्द्र से पृष्ठ की ओर जो गति होती है, उसे **"गति"** कहा जाता है। पृष्ठ से केन्द्र की ओर जो गति होती है, उसे **"आगति"** कहा जाता है। **गति गमन है, आगति आगमन है।** आना, और जाना, दोनों स्वरूप सर्वविदित हैं। आगतिलक्षणा-गति आदान (लेना) भाव की अधिष्ठात्री है, एवं गतिलक्षणा गति विसर्ग (देना) भाव की अधिष्ठात्री है। आदान-विसर्ग में प्रतिक्षण स्पर्द्धा होती रहती है। एवं यही स्पर्द्धा पदार्थों के जीवन का मुख्य हेतु है। विरुद्धदिगद्वयगति का समन्वय ही **"स्थिति"** है। स्थितिभाव गति से पृथक् तत्त्व नहीं है। अपितु गतिसमुच्चय का नाम हीं स्थिति है। गतिभाव का समष्टिलक्षण स्थितिरूप यह तीसरा विवर्त्त ही आदान--विसर्ग-लक्षण आगति-गति-भावों की प्रतिष्ठा बनता है। **स्थिति--गति--आगति**, तीनों एक ही गतितत्त्व के तीन विवर्त्त हैं।

३०-गतितत्त्व के पाँच महिमा-विवर्त्त, एवं तन्मूलक 'अन्तर्य्यामी', और 'सूत्रात्मा' का संस्मरण—

गति को स्थिति के गर्भ में प्रतिष्ठित कर दीजिए, **स्थितिगर्भिता गति** नामक एक चौथा विवर्त्त और प्रकट हो जायगा। इसी प्रकार आगति को स्थिति के गर्भ में प्रतिष्ठित कर देने से **स्थितिगर्भिता-**

आगति नामक पाँचवाँ भाव प्रकट होजायगा। इन पाँच से अतिरिक्त गतितत्त्व का ६ ठा विवर्त्त आपको न मिलेगा। **उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण** आदि--आदि जितने भी गतिभाव हैं, वे सब इन्हीं पाँचों में अन्तर्भूत हैं। इन पाँचों में **स्थिति--आगति--गति**, इन तीनों का एक विभाग है, एवं इतर दोनों का एक–विभाग है। इस भागद्वयी के कारण हैं **अन्तर्जगत्, और बहिर्जगत्**। गतित्रयी का पदार्थ के अन्तर्जगत्–लक्षण हृदयभाव से सम्बन्ध है, एवं गतिद्वयी का पदार्थ के बहिर्जगत्--लक्षण पिण्डभाव से सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि, पिण्डभाव की रक्षा गतिद्वयी पर निर्भर है, एव हृदय–भाव गतित्रयी के आधार पर प्रतिष्ठित है। क्योंकि पाँचों भाव एक की ही पाँच अवस्था हैं, अतएव इन पाँचों को हम उस एक की ही पाँच कला कहेंगे, एवं उसे पञ्चकल एक तत्त्व कहेंगे। वही एक तत्त्व, जिसकी कि पाँच कला हैं, '**प्रकृति**' नाम से प्रसिद्ध है। उसी के गतित्रयीलक्षण प्रथम विभाग, एवं गतिद्वयीलक्षण द्वितीय विभाग विज्ञानभाषा में क्रमशः '**अन्तर्य्यामी**', एवं '**सूत्रात्मा**' नाम से प्रसिद्ध हैं।

३१--अन्तर्य्यामी का स्वरूप--परिचय, एवं ब्रह्मा-विष्णु--इन्द्र--नामक तीनों देवताओं का तात्त्विक--स्वरूप--समन्वय—

अन्तर्य्यामी का अर्थ है "भीतर (केन्द्र) बैठा हुआ बहिर्मण्डल का नियमन करने वाला"। "**अन्तः–तिष्ठन् सन् नियमयति सर्वान् भावान्**" ही प्रकृत शब्द का निर्वचन है। वह अन्तर्य्यामी वही हमारी गतित्रयी है। गतिसमष्टिलक्षण स्थिति--भाव "**ब्रह्मा**" कहलाता है। इसीने आगति--गति के द्वारा वस्तुस्वरूप को धारण कर रक्खा है। प्रतिष्ठा की विच्युति ही नाश का मूल कारण है, एवं प्रतिष्ठा की रक्षा ही वस्तु की रक्षा है। इसीलिए "बिभर्त्ति" इस निर्वचन से इस स्थितिभाव को "**ब्रह्मा**" कहा जाता है। "**ब्रह्म वै–सर्वस्य प्रतिष्ठा**" इत्यादि श्रुति भी इसी ब्रह्मभाव का समर्थन कर रही है। स्थितिलक्षण ब्रह्मा के आधार पर प्रतिष्ठित आदानलक्षण आगति–तत्त्व ही "**विष्णु**" है। ये यज्ञके द्वारा वस्तु का पालन करते हैं। किसी में किसी की आहुति होना हीं यज्ञ है। दो पदार्थों का रासायनिक संयोग ही यजन है, यजन ही यज्ञ है, यज्ञ ही जीवन का कारण है। विष्णुलक्षणा आदानशक्ति से ही बाहिर से पदार्थ आ आकर इस पदार्थ में आहुत होते रहते हैं। यही शक्ति अशनाया (भूख) की जननी है। इसी अशनाया शक्ति से आकर्षित अन्न वस्तु के अग्नि में आहुत होता रहता है। आदानलक्षण यज्ञ के अधिष्ठाता आगतिरूप विष्णु हैं, अतएव विष्णु "**यज्ञ**" शब्द से भी व्यवहृत कर दिया जाता है। जिसप्रकार केन्द्रस्था आदानशक्ति अपनी आकर्षणशक्ति से निरन्तर कुछ लिया करती है, एवमेव केन्द्रस्था विसर्गशक्ति अपनी विक्षेपणशक्ति से निरन्तर पदार्थों के अंशों को बाहिर निकाला करती है। यदि विशुद्ध आदान ही होता रहे, तो आदानक्रम आगे जाकर अवरुद्ध होजाय, फलतः पदार्थ सीमा से बाहिर जाता हुआ अपना स्वरूप ही खो बैठे। अतः आदान के साथ विसर्ग भी नित्य अपेक्षित है। दूसरे शब्दों में–यह भी कहें, तो कोई अत्युक्ति न होगी कि, जिसप्रकार आदानलक्षण विष्णु स्थिति-लक्षण ब्रह्मा की प्रतिष्ठा है, एवमेव विसर्गलक्षण इन्द्र देवता विष्णु की प्रतिष्ठा है। विसर्ग ही आदान का कारण है। जबतक विसर्ग है, तभी तक आदान है। त्याग में हीं वैभव का आगमन सुरक्षित है। त्याग ही वस्तु के विकास का कारण है। विकास ही ज्योति है। ज्योति ही वस्तु का

इद्धभाव है। इसी इद्धभाव के कारण विकासलक्षण गतिभाव "य ईन्धे" इस निर्वचन से "इन्ध" नाम से प्रसिद्ध है। 'इन्ध' ही परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में "इन्द्र" नाम से प्रसिद्ध है। स्थितिलक्षण ब्रह्मा, आगातिलक्षण विष्णु, एवं गतिलक्षण इन्द्र, तीनों एक ही गति के तीन विवर्त्त हैं"—"**एका मूर्त्तिस्त्रयो देवा ब्रह्म-विष्णु-महेश्वराः।**

३२--नियतिःस्वरूप अन्तर्य्यामी के द्वारा विश्व का सञ्चालन, एवं केन्द्रस्थ अन्तर्य्यामी के द्वारा विश्व का नियन्त्रण—

तीनों की समष्टि ही "**अन्तर्य्यामी**" है। हमारा मानस ज्ञान, और बौद्ध ज्ञान, दोनों इसके परिज्ञान में असमर्थ है। शरीरसंस्था में कौन-धातु कैसे कब बन कर कहाँ प्रतिष्ठित होकर क्या काम करता रहता है?, यह हम नहीं जानते, नहीं जान सकते। कारण यही है कि, ज्ञानेन्द्रियों का रुख बाहिर की ओर है। मन इनका अनुगामी बना रहता है। मनोऽगता बुद्धि भी बहिर्मुखा ही बनी रहती है। यदि किसी उपाय से हम इन्द्रिय--संयम के द्वारा मन-बुद्धि को अन्तर्मुख बनालें, तो अवश्य ही अन्तर्य्यामी की उस नियति के दर्शन कर सकते हैं। यच्चयात्रत् पदार्थों के केन्द्र में प्रतिष्ठित वह अन्तर्य्यामी सबका सञ्चालन कर रहा है। वह सब जानता है, उसके नियन्त्रण को कोई नहीं जानता। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख वाजि-श्रुति कहती है—

"यः पृथिव्यां, अप्सु, अग्नौ, आकाशे, वायौ,-आदित्ये, चन्द्रतारके, दिक्षु, विद्युति, स्तनयित्नौ, सर्वेषु लोकेषु, सर्वेषु वेदेषु, सर्वेषु यज्ञेषु, सर्वेषु भूतेषु, प्राणे, वाचि, चक्षुषि, श्रोत्रे, मनसि, त्वचि, तेजसि तमसि, रेतसि, आत्मनि तिष्ठन् पृथिव्या-अद्भ्य० अन्तरः, यं पृथिवी-आपः० न विदुः, यस्य पृथिवी-आपः० शरीरं, यः पृथिवी-अपः० अन्तरो यमयति, स तऽआत्मा-- 'अन्तर्य्यामी"-अमृतः"।

---शत० १४। ६। ७।

३३--अन्तर्य्यामी मूलक 'हृदय', 'गर्ह', और 'गर्भ' शब्दों का तात्त्विक--समन्वय, एवं उस की अजायमानता—

अन्तर्य्यामी हृदय में प्रतिष्ठित रहता है। क्योंकि अन्तर्य्यामी हृदय में प्रतिष्ठित रहता है, अतएव इसका यह प्रतिष्ठास्थान "हृदयम्" नाम से व्यवहृत हुआ है। आकाशात्मक, अतएव 'शून्य' नाम से प्रसिद्ध असीम आयतन ही "हृदय" है। **स्तोक-पृषत्-द्रप्स-हृदय** नाम की चार बिन्दुओं में हृदयबिन्दु असीम बनती हुई सर्वथा निराकार है। इसी आधार पर पदार्थ का ग्रहण है। अतएव "गृह्णाति" इस व्युत्पत्ति से इसे "गर्ह" कहा जाता है। * छन्दोभाषा के नियमानुसार हकार के स्थान में भकार प्रयुक्त होता है। अतः "गर्ह" को वहाँ "गर्भ" कहा जाता है। "प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा

* "हृग्रहोर्भश्छन्दसि" (पा० सूत्र)।

विजायते" के अनुसार हृदयलक्षण अन्तर्य्यामी प्रजापति गर्भ में हीं प्रतिष्ठित हैं। वह स्वयं नित्य है, परन्तु उसी से सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च का विकास हुआ है।

३४--'हृ' रूप विष्णु, 'द' रूप इन्द्र, 'यम्' रूप ब्रह्मा, एवं हृदय में प्रतिष्ठित हृ--द--य--रूप--अन्तर्य्यामी —

आदानशक्ति ही आहरण है, "हृ" शब्द इसी का सूचक है। विसर्गशक्ति ही खण्डन है, "द" इसी का सूचक है। दोनों का नियमन करने वाली स्थिति ही "यम्" है। **'हृ' नामक विष्णु, 'द' नामक इन्द्र, 'यम्' नामक ब्रह्मा** की समष्टि ही **"हृ-द-यम्"** है। **हृ-द-य** नामक तीनों भाव हृदय में प्रतिष्ठित होते हुए सबका यथानुरूप सञ्चालन कर रहे हैं। किस का ?, शेष दोनों गतिभाव इसी प्रश्न का समाधान करते हैं। **स्थितिगर्भिता आगति सोम है, एवं स्थितिगर्भिता गति अग्नि है।** इन्द्र अपनी शक्ति से प्राणाग्नि को बाहिर निकाला करते हैं, एवं विष्णु अपनी शक्ति से वाक् सोम को भीतर लिया करते हैं। दोनों में परस्पर स्पर्द्धा चलती रहती है। इहीं की स्पर्द्धा के तारतम्य से अवस्थाओं में परिवर्त्तन हुआ करता है। विष्णु की प्रधानता में पुष्टि है, इन्द्राविष्णू की समानता में समता है, एवं इन्द्रकी प्रधानता में ह्रास है। विशुद्ध इन्द्रके साम्राज्य में विनाश है। **ब्रह्मा जन्मभाव के, विष्णु स्थितिभाव के, एवं इन्द्र भंगभाव के अधिष्ठाता हैं।** विश्व अग्नीषोमात्मक है, विश्वात्मा अन्तर्य्यामी ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्रमूर्त्ति है। पाँचों की समष्टि पञ्चकल अक्षर है। अक्षर ही नियति है। नियति ही प्रकृति है। **जबतक नियति ठीक है, तबतक शान्ति है। नियति बिगड़ गई, सब कुछ बिगड़ गया। जिसकी नियति में अन्तर आगया, उसका विनाश निश्चित है।**

३५--पञ्चविध अक्षर की एकाक्षरता, अक्षररूपा प्रकृति, एवं तन्मूलक विश्वप्रपञ्च का समन्वय--

आदान विसर्ग के अधिष्ठाता ब्रह्मा हैं, आदान करने वाले विष्णु हैं, विसर्ग करने वाले इन्द्र—हैं। विष्णु के द्वारा आदान होता है–सोम का। इन्द्र के द्वारा विसर्ग होता है अग्नि का। इन पाँचों को **"समुदाये दृष्टाः शब्दा अवयवेष्वपि वर्त्तन्ते"** इस न्याय के अनुसार स्वतन्त्ररूप से पाँच अक्षर भी माने जाते हैं, जैसा कि **"यदक्षरं पञ्चविधं समेति युजो युक्ता अभि-यत संवहन्ति"** इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। **पाँचों में ब्रह्मा विष्णु इन्द्र, तीनों की समष्टि अन्तर्य्यामी है, अग्नीषोम की समष्टि सूत्रात्मा है। अन्तर्य्यामी हृदयराज्य के शासक हैं, सूत्रात्मा पिण्डजगत् के स्वरूप--संवाहक हैं।** वाहक इसलिए कहा जाता है कि, अक्षररूप अग्नीषोम विश्व के उपादान न बनकर केवल निमित्त बनते हैं। उपादान तो मर्त्याक्षर ही बनता है। दूसरी दृष्टि से ब्रह्मा का एक स्वतन्त्र विभाग है, इन्द्राविष्णू दोनों सयुक् हैं, एवं अग्नीषोम दोनों सयुक हैं, जैसा कि **"ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा"—*"इन्द्रस्य युज्यः सखा"—"तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः"** इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट है।

---

* पाठकों को यह भी स्मरण दिलाया जाता है कि, कृष्ण विष्णु के अवतार थे, एवं अर्जुन इन्द्र के अवतार थे। अतएव इनमें परस्पर सख्यभाव रहा, जैसा कि कृष्णतत्त्वनिरूपण में विस्तार प्रतिपादित है।

३६—'नियति'—लक्षणा प्रकृति का 'हेतुभाव', तदनुबन्धिनी 'नियतिचर्य्या', और 'नियतिचर' ब्रह्म—

पञ्चकल अक्षरतत्त्व प्राणप्रधान बनता हुआ गतिप्रधान है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा। इसी गतिभाव के कारण इस अक्षरप्रकृति को "हेतु" कहा जाता है। "हिनोति–व्याप्नोति कार्य्यात्मकं विश्वम्" यही इसका निर्वचन है। गत्यर्थक "हि" धातु (स्वा० प० अ०) से ही–"कमिमनि" (उ० १। ७३) इत्यादि सूत्र से 'तुन्' प्रत्यय के द्वारा 'हेतु' शब्द निष्पन्न हुआ है। यही प्रकृति नियमशः सब को अपनी चर्य्या में सुरक्षित रखती है। सम्पूर्ण विश्व समष्टि, एवं व्यष्टिरूप से उभयथा 'नियतिचर्य्या' से नित्य आक्रान्त है। नियति की–चर्य्या (आचरण–शासन) में विचरण करता हुआ प्रत्येक पदार्थ "नियतिचर" है। उन प्रकृतिवादियों की "नेचर" का प्रत्युत्तर यही "नियतिचर" शब्द है।

अक्षरः शास्ता—प्रकृतिः

१—स्थितिः (गतिसमष्टिः)—	ब्रह्मा (अ)	—ब्रह्मा	—अन्तर्यामी हृद्यः
२—आगतिः (अर्वाग्गतिः)—	विष्णुः (इ)	—इन्द्राविष्णू	
३—गतिः (पराग्गतिः)—	इन्द्रः (उ)		
४—स्थितिगर्भिता आगतिः (सङ्कोचः)—	सोमः (लृ)	—अग्नीषोमौ	—सूत्रात्मा पृष्ठ्यः
५—स्थितिगर्भिता गतिः (विकासः)—	अग्निः (ऋ)		

३७—पुरुष–प्रकृति–प्रकृतिविकृति–रूप अमृत–ब्रह्म–शुक्र–नामक तीन विवर्त्तों का संस्मरण—

उक्त पाँचों प्रकृतियों से, किंवा एक ही प्रकृति के पाँच अवयवों से क्रमशः प्राण–आपः–वाक्–अन्न–अन्नाद इन पाँच क्षरकलाओं का विकास होता है। यही पञ्चकल क्षर विश्व का उपादानकारण बनता है। अक्षरप्रकृति की अपेक्षा यह विकृति है, एवं वैकारिक विश्व की अपेक्षा इसे प्रकृति भी माना जासकता है। अतएव प्राधानिक शास्त्र में महदादियुक्त यह व्यक्तक्षरप्रकृति "प्रकृतिविकृति" नाम से प्रसिद्ध है। सम्पूर्ण विश्व विशुद्ध वैकारिक है। सर्वातीत पुरुष न प्रकृति है, न विकृति है। इस दृष्टि से हम इस जाल को पुरुष, प्रकृति, विकृति (प्रकृतिविकृति), इन तीन भागों मे विभक्त कर सकते हैं। पुरुष अव्ययनाम से, प्रकृति अक्षर नाम से, एवं विकृति क्षर नामसे प्रसिद्ध है। इन्हीं तीनों को विज्ञानभाषा में अमृतम्–ब्रह्म–शुक्रम्–कहा जाता है।

३८--मनःप्राणवाङ्मय कर्म्मात्मरूप अव्ययात्मा, मनोमय अव्यय की त्रिवद्रूपता, और तदनुबन्धी ज्ञानयोग--

एक ही पुरुषतत्त्व के ये तीन भाग कैसे हो गए ?, इसका उत्तर उसी अव्ययपुरुष से पूँछिए। समाधान होजायगा। पञ्चकल अव्यय पुरुष का **मनः-प्राण-वागरूप** भाग **'कर्म्मात्मा'** नाम से प्रसिद्ध है। कर्म्मात्मा की तीन कलाएँ ही इस त्रिविवर्त्त का कारण बनतीं हैं। **मनस्त्वेन वही अव्यय है, प्राणत्वेन वही अक्षर है, एवं वागरूप से वही क्षर है।** अव्यय की ये तीनों कलाएँ त्रिवृद्भावापन्ना हैं, जैसा कि ईशभाष्यान्तर्गत—"**मनः--प्राण-वाक् के त्रिवृद्भाव की व्यापकता**" नामक प्रकरण में विस्तार से निरूपित है। मन में भी मनः-प्राण-वाक्--तीनों हैं, मन की प्रधानता है। क्योंकि मन ज्ञानप्रधान है, अतएव इस त्रिवत् मनोविवर्त्त को **'ज्ञानमण्डल'** ही कहा जायगा। इसका अधिष्ठाता स्वयं अव्ययपुरुष होगा। अव्यय का मन तो ज्ञानप्रधान होगा ही, साथ ही उसका कर्म्मरूप प्राण, और अर्थरूप वाग्भाग भी ज्ञानप्रधान ही होगा— **"यस्य ज्ञानमयं तपः"**।

३९—प्राणमय अक्षर की त्रिवृद्रूपता, औ तदनुबन्धी कर्म्मयोग—

प्राण में भी मनः-प्राण-वाक्, तीनों हैं, प्राण की प्रधानता है। क्योंकि प्राण कर्म्मप्रधान है, अतएव इस त्रिवृत् प्राणविवर्त्त को **'कर्म्ममण्डल'** की कहा जायगा। इसका अधिष्ठाता माना जायगा अव्यय के प्राण से अनुग्रहीत अक्षर को, किंवा प्रकृति को। अक्षर का प्राणभाग तो कर्म्मप्रधान होगा ही, साथ ही उसका ज्ञानरूप मनोभाग, एवं अर्थरूप वाग्भाग भी कर्म्मप्रधान ही होगा।

४०—वाङ्मय आत्मक्षर की त्रिवृद्रूपता, और तदनुबन्धी भक्तियोग—

वाक् में भी मनः-प्राण-वाक्-तीनों हैं, वाक् की प्रधानता है। क्योंकि वाक्तत्त्व अर्थप्रधान है, अतएव इस त्रिवृत्-वाग्भाव को **'अर्थमण्डल'** ही कहा जायगा। इसका अध्यक्ष बनेगा-अव्यय के वाग्भाग से अनुग्रहीत क्षर, किंवा विकृति। क्षर का वाग्भाग तो अर्थप्रधान होगा ही, साथ ही उसका ज्ञानरूप मनोभाग, एवं अर्थरूप वाग्भाग भी अर्थप्रधान ही होगा।

४१—अव्यय--अक्षर--क्षर--भावों में मध्यस्थ अक्षर की सर्वरूपता, एवं अव्यक्ता अक्षर प्रकृति की सर्वव्यापकता—

अर्थ-कर्म्म-गर्भित (वाक्-प्राण-गर्भित) ज्ञानमूर्त्ति (मनो-मूर्त्ति) अव्ययपुरुष, अर्थ-ज्ञान-गर्भिता (वाक्-मनो-गर्भिता) कर्म्ममयी (प्राणमयी), अक्षरप्रकृति, एवं ज्ञानकर्म्मगर्भिता (मनः-प्राणगर्भिता) अर्थमयी (वाङ्मयी) क्षरविकृति की समष्टि ही विश्व का आधार विश्वात्मा है। तीनों में अव्ययपुरुष आलम्बन है, अक्षरप्रकृति निमित्तकारण है, एवं क्षरविकृति उपादानकारण है। अव्ययाधार पर प्रतिष्ठित अक्षर क्षर के द्वारा सम्पूर्ण विश्व का निर्म्माण कर "**ततसृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**" इस सिद्धान्त के अनुसार विश्व में प्रविष्ट होकर **'विश्वात्मा'** बन रहा है। यद्यपि अव्ययाक्षरक्षर की समष्टि ही विश्वात्मा है, परन्तु प्रधानता अक्षर की ही है। उसी ने उस अव्यय को विश्व में प्रविष्ट किया है, उसी ने क्षर को विश्वरूप में परिणत किया है।

अक्षर ही प्रकृति है, वही विश्वसृष्टि का मूल है। अतः हम सम्पूर्ण विश्व को केवल अव्यक्तमूलक ही मान सकते हैं, जैसा कि निम्नलिखित गीता-सिद्धान्त से स्पष्ट है--

१—अव्यक्तात् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥
२--अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥
३--मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चराचरम् ॥

४२—ज्ञानयोगाधिष्ठाता अव्यय, कर्म्मयोगधिष्ठाता अक्षर, भक्तियोगधिष्ठाता क्षर, एवं योगत्रयी का समन्वय—

मनोमय अव्ययपुरुष ज्ञानयोग का अधिष्ठाता है, प्राणमयी अक्षरप्रकृति भक्तियोग की अधिष्ठात्री है, एवं वाङ्मयी क्षरविकृति कर्म्मयोग की अधिष्ठात्री है। कारण स्पष्ट है। जैसा कि पूर्व में कई बार स्पष्ट किया जाचुका है कि, ज्ञान आधिदैविक पदार्थ है, कर्म्म आधिभौतिक पदार्थ है। ज्ञानमय मनोविवर्त्त आधिदैविक है, अर्थमय वाग्भाव आधिभौतिक है। मध्यस्थ क्रियामय प्राणविवर्त्त में उस ओर के अव्यय के ज्ञानभाग का भी सम्बन्ध है, एवं इस ओर के क्षर के अर्थभाग का भी सम्बन्ध है। अतएव आधिदैविक (ज्ञान) आधिभौतिक (अर्थ) विवर्त्त के भागों से युक्त इस प्राणमय मध्यस्थ विवर्त्त को हम अवश्य ही भक्तियोग का अधिष्ठाता मान सकते हैं।

४३—ज्ञान--कर्म्म--भक्ति--योगों के एकदेशी लक्षण, एवं तदाधार पर व्यापक लक्षण का अन्वेषण--प्रयास—

ज्ञान-कर्म्म-भक्ति, तीनों के प्राकृतिक लक्षण क्या ?, यह भी विचारणीय विषय है। "इन्द्रिय-संयम पूर्वक आधिदैविकभाव में प्रवृत्त रहना ज्ञानयोग है, निष्कामबुद्धि से आधिभौतिकभाव में प्रवृत्त रहना कर्म्मयोग है, एवं ईश्वरार्पणबुध्या कर्म्म करना भक्तियोग है"। ये तीनों ही लक्षण एकदेशी बनते हुए प्रकृति की मर्य्यादा से बहिष्कृत हैं। यदि तीनों हीं योग नित्य हैं, सर्वव्यापक हैं, तो अवश्य ही तीनों का ऐसा लक्षण होना चाहिए, जो संसार के मनुष्यमात्र में घट जाय, न केवल मनुष्यों में हीं, अपितु चर-अचर-यच्चयावत् पदार्थों के साथ तीनों का समन्वय होजाय। उस व्यापक लक्षण के लिए हमें निम्न-लिखित श्रौत वचन का ही आश्रय लेना पड़ेगा।

यः सर्वज्ञः सर्ववित्, यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म, नामरूप, मन्नंच जायते ॥

--मुण्डकोपनिषत्

४४—ब्रह्म–नामरूप–अन्न–भावात्मक तीन व्यापक योग, और योगत्रयी का समन्वय-

श्रुति कहती है कि. जो सर्वज्ञ है, सर्ववित् (सर्वार्थमय) है, जिसका तप (कर्म्म) ज्ञानमय है, उससे ब्रह्म–**नामरूप–अन्न,** नाम के तीन तत्त्वों का विकास होता है । त्रितत्त्व–विकासक वह तत्त्व वही आपकी सुपरिचिता, दूसरे शब्दों में सर्वथा अपरिचिता प्रकृति (अक्षर) ही है । वही अव्यय के ज्ञान से मनोमयी बनती हुई सर्वज्ञा है, वही–क्षर के अर्थभाग से अर्थमयी बनती हुई सर्वार्थमयी है, एवं अपने प्राणव्यापार से वही तपोमयी है । उसके तपोव्यापार से ज्ञानभाग के द्वारा नामरूप का विकास होता है, अर्थभाग से ब्रह्म का विकास होता हैं, एवं प्राणभाग से अन्न का विकास होता है । ज्ञानमय नामरूप, अर्थमय ब्रह्म, एवं कर्म्म–मय अन्न हीं क्रमशः **ज्ञान–कर्म्म–भक्ति**–विवर्त्त हैं ।

४५—प्रकृतिसिद्ध–सर्वव्यापक–अर्थप्रधान 'कर्म्मयोग'—

ये ही तीनों तत्त्व विज्ञानभाषा में क्रमशः **प्रतिष्ठा–ज्योति-यज्ञ–**इन नामों से प्रसिद्ध हैं । वैकारिक विश्व में अर्थप्रधान भूतप्रपञ्च ही ज्ञान–कर्म्म की प्रतिष्ठा बनते हैं, जैसाकि **ज्ञानयोगपरीक्षोपक्रम** में विस्तार से बतलाया जाचुका है । अर्थ ही सत्ताभाव है । सत्ता ही प्रतिष्ठालक्षण ब्रह्म हैं । यह प्रतिष्ठालक्षण सत्ताभाव, (सोपाधिक सत्ताभाव) ही ब्रह्म है, यही प्रतिष्ठा है । यही आधिभौतिक प्रपञ्च है । यही प्रकृति-सिद्ध अर्थप्रधान कर्मयोग है ।

४६—प्रकृतिसिद्ध–सर्वव्यापक–ज्ञानप्रधान—'ज्ञानयोग'—

प्रकाश का ही नाम ज्योति है । ज्योति ही ज्ञान है । नामरूप, इन दोनों का ही नाम भातिलक्षण ज्योति है । "हम यह जानते हैं, हम वह जानते हैं" इसप्रकार के ज्ञान की सीमा विश्वापेक्षया नाम–रूप पर ही विश्रान्त है । या तो हम नाम जानते हैं, अथवा रूप जानते हैं । नाम रूप से अतिरिक्त ज्ञान का (भाति–का) और क्या स्वरूप शेष रहजाता है । ? नामरूप से ही विश्व प्रकाशित है । जिस दिन नाम-रूप का अत्यन्ता-भाव होजायगा, उस दिन विश्व केवल स्मृति की ही वस्तु रह जायगा । नामरूपलक्षण यह ज्योतिर्भाव ही ज्योति है, यही आधिदैविक प्रपञ्च है, यही प्रकृतिसिद्ध ज्ञानप्रधान--ज्ञानयोग है ।

४७—प्रकृतिसिद्ध—सर्वव्यापक—क्रियाप्रधान—भक्तियोग—

आदानविसर्ग का संगमन हीं यज्ञ है । यज्ञ ही अन्न है—**"यज्ञो वोऽन्नम्"** । (शत० ब्राह्मण) । सम्पूर्ण कर्म्मों की सीमा आदान–विसर्गात्मक इस अन्नयज्ञ पर ही विश्रान्त है, अतएव यज्ञकर्म्म को **"श्रेष्ठतमकर्म्म"** माना गया है—**"यज्ञो वै-श्रेष्ठतमं कर्म्म"** (शतपथब्राह्मण) । संसार में जितना भी क्रियाभाव है, सब आदानविसर्गात्मक बनता हुआ यज्ञरूप है । ज्योतिर्लक्षण-ज्ञान का प्रतिष्ठालक्षण अर्थ के साथ सम्बन्ध कराने वाला सूत्र यह मध्यस्थ, अतएव उभयधर्म्मावच्छिन्न यज्ञ ही है । यही उभयभाव से युक्त बनता हुआ प्रकृति-सिद्ध भक्तियोग है । तीनों लक्षण सर्वत्र व्याप्त हैं ।

४८—विकासभावात्मक ज्ञानयोग, स्थितिभावात्मक कर्म्मयोग, गतिभावात्मक भक्तियोग, एवं तीनों योगों से युक्त विश्व के चर-अचर-पदार्थ—

विकासभाव ज्ञानयोग है, स्थितिभाव कर्म्मयोग है, एवं गतिभाव भक्तियोग है । विकास–ज्ञानसापेक्ष बनता हुआ अव्यय की विभूति है, जैसा कि मूलभाष्य में **विभूति--रहस्योपनिषत्** में विस्तार से

बतलाया जानेवाला है । स्थितिभाव अर्थसापेक्ष बनता हुआ क्षर की विभूति है । गतिभाव क्रियासापेक्ष बनता हुआ अक्षर की विभूति है । संसार में यच्चयावत् पदार्थों के अव्यय--अक्षर--क्षरमूर्त्ति--विश्वात्मा प्रतिष्ठित है । "ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्" (ईशोपनिषत्) इस औपनिषद सिद्धान्त से कौन अपरिचित है । ? अतएव सिद्ध होजाता है कि, प्रत्येक वस्तु में विकास भी है, स्थितिभाव भी है, एवं गतिभाव भी है । वस्तु का विकास ही उसका अव्ययानुबन्धी ज्ञानयोग है, वस्तु का स्थितिभाव ही उसका क्षरानुबन्धी--कर्म्मयोग है, एवं वस्तु का गतिभाव ही उसका अक्षरानुबन्धी भक्तियोग है । प्रत्येकप दार्थ इस दृष्टि से ज्ञानी--कर्म्मठ, एवं भक्त है । यही प्राकृतिक ज्ञान--कर्म्म--भक्ति--योगों की सर्वव्यापकता है । परन्तु............ ।

४६—अभिन्नापि एकापि प्रकृति के नाना विवर्त्त, एवं एकत्त्वनिबन्धना महामाया का, तथा नानात्त्व-निबन्धना योगमाया का पावन संस्मरण—

अभी ठहर जाइए । इस 'किन्तु' 'परन्तु' की समालोचना पीछे की जायगी । अभी प्रकृति-- चर्चा ही होलेने दीजिए । प्रकृति का स्वरूप यदि नियत था, तो संसार में यह वैचित्र्य क्यों उत्पन्न हुआ ?, यह प्रश्न क्षण-भरके लिए हमारे प्रकृतिवाद पर सहसा आघात कर बैठता है । किन्तु उत्तर बड़ा सरल है । व्यक्ति एक ही है, उसकी प्रकृति भी एक ही है, किन्तु वह अपने बाबा का पोता, बापका बेटा, बेटेका बाप, पत्नी का पति, पाठशाला का अध्यापक, व्यापारी का ग्राहक, पत्रका सम्पादक, राजा की प्रजा, घर का स्वामी, यह सब क्यों कहलाया ? । बस जो उत्तर इस प्रश्न का है, वही उत्तर उक्त प्रश्न का है । प्रकृति का स्वरूप एक, सर्वथा ही एक, किन्तु कर्म्म--भेद से जैसे एक ही व्यक्ति के अनेक नाम--अनेक--कर्म्म होजाते हैं, एवमेव कर्म्मनानात्त्व से एक ही प्रकृति नानाभावों में परिणत होरही है । पानी में भी वही अन्तर्य्यामी है, अग्नि में भी वही अन्तर्य्यामी है । परन्तु पानी का वही अन्तर्य्यामी पानी को निम्न धरातल का अनुगामी बना रहा है, वही अन्तर्य्यामी अग्नि को ऊँचे की ओर ले जारहा है । जिसने आग--पानी वायु--आदि भेद उत्पन्न किया, उसीने उस एक ही अन्तर्य्यामी को भिन्न भी बनाया । वह भेदक कौन ?, हरि की **योगमाया**, अभेदक कौन ?, अव्यय की **महामाया** ।

५०—ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-भावानुगता योगमायात्रयी, और मायाप्रवर्त्तक इन्द्रदेवता—

पूर्व में बतलाया गया कि, एक ही प्रकृति के ब्रह्मा--विष्णु आदि पाँच अवयव हैं । इन पाँचों अवयवों पर समष्टिरूप से व्याप्त रहने वाली प्रकृति ही महामाया है । पुरुषवत् यह महामाया भी एकरूपा ही है । इसके गर्भ में इसीके मर्त्य क्षरभाव से सर्वप्रथम तीन योगमायाओं का आविर्भाव होता है । पहिली **ब्रह्ममाया** है, दूसरी **विष्णुमाया** है, तीसरी **शिवमाया**, किंवा **इन्द्रमाया** है—"**इन्द्रो मायाभिः पुररूप ईयते**" (ऋग्वेदसंहिता) ।

५१—'माया' शब्द का निर्वचनात्मक समन्वय, एवं तदुयुक्ता खण्ड-खण्डात्मिका योगमाया, और उसका योगत्त्व-समन्वय—

माया एक प्रकार का वह परिच्छेद है, जो असीम को ससीम बना देता है, अखण्ड को खण्ड--खण्ड--रूप में परिणत करदेता है । मितकरिणी प्रकृति ही माया है । अक्षर--रूपा महामाया ने सर्वव्यापक अखण्ड

परात्पर को सीमित किया है, तो महामाया के गर्भ में प्रतिष्ठित क्षररूपा योगमाया ने इस जन्मदात्री महामाया को भी सीमित कर, इसे भी खण्ड–खण्ड रूप में परिणत कर दिया है। क्योंकि क्षरमाया अक्षरात्मिका महा–माया के गर्म्भ में प्रतिष्ठित रहती हुई महामाया से युक्त रहती है, अतएव इसे "योगमाया" कहा जाता है। 'योग' शब्द के इस सामान्य अर्थ की अपेक्षा से ब्रह्मा–विष्णु-इन्द्र, तीनों हीं मायाएँ योगमाया कहला सकतीं है।" ब्रह्ममाया उत्पत्ति की अधिष्ठात्री है, विष्णुमाया पालनकर्म्म की आधिष्ठात्री है। एवं इन्द्रमाया संहार की प्रवर्त्तिका है।

५२—योगमायात्रयी से अनुगता विष्णुमाया का ही योगमायात्व, एवं योगमायावच्छिन्न वैष्णव–यज्ञ की सर्वव्यापकता का समन्वय—

पदार्थ की उत्पत्तिमें ब्रह्ममाया का अनुग्रह है, स्थिति में विष्णुमाया का अनुग्रह है, एवं संहार में इन्द्रमाया का हस्तक्षेप है। वस्तुपुर (आयतन) के जन्मदाता ब्रह्मा हैं, पुररक्षक द्वारपाल विष्णु हैं, एवं पुर–विदारक इन्द्र हैं। तभी तो ये 'पुरन्दर' नाम से प्रसिद्ध हैं। इसप्रकार **"महामायया युक्ता खण्डात्मिका माया योगमाया"** इस निर्वचन के अनुसार यद्यपि उक्त तीनों हीं खण्डमाया योगमाया नामसे व्यवहृत होसकतीं हैं, एवं होतीं हैं, परन्तु योग—शब्द के सामान्य अर्थ के विचार करने पर "योगमाया" नाम की अधिकारिणी एकमात्र विष्णुमाया ही रह जाती है। दो वस्तुओं का मिलना हीं योग कहा जाता है। इन्द्रमाया पूर्वकथना–नुसार अपनी विसर्गमूला विक्षेपणशक्ति से मिली हुई वस्तु का बन्धन खोल कर उसे उत्क्रान्त कर देती है। संहार योग नहीं अपितु वियोग है। अत: इस योगमाया को योगमाया की अपेक्षा अयोगमाया कहना हीं अन्वर्थ बनता है। ब्रह्ममाया शुक्र–शोणित के योग के द्वारा, किंवा रयि, और प्राण के योग के द्वारा चेतन, एवं अचेतन पदार्थों के जन्म का कारण बनती हुई यद्यपि योगमाया कहला सकती है। परन्तु ब्रह्ममाया का यह योगभाव विष्णुमाया की कृपा पर ही अवलम्बित है। अन्नादान से ही शुक्रशोणित का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। उधर योनि में शुक्राहुति का योग होना भी वैष्णव यज्ञ की कृपा का ही फल है।

५३—वैष्णवी योगमाया का विस्तार–समन्वय—

स्वयं ब्रह्मा का स्वरूप भी विष्णुमाया से ही सुरक्षित है। यदि विष्णुदेवता अन्नादान न करे, तो स्थितिलक्षण ब्रह्मा की प्रतिष्ठा कभी सुरक्षित न रहै। इसीलिए विष्णु को प्रतिष्ठा की (ब्रह्मा की) की भी प्रतिष्ठा कहा जाता है। इसप्रकार ब्रह्ममाया का योगत्त्व भी विष्णुमाया में हीं अन्तर्भूत होजाता है। अन्नका आहरण कर उसका पदार्थों के साथ योग करा के इस योग के द्वारा पदार्थों का, किंवा पदार्थ–समष्टिरूप विश्व का स्वरूप सुरक्षित रखना एकमात्र वैष्णवी माया का ही काम है। अत: और किसी को **योगमाया न कहकर विष्णुमाया को ही हम योगमाया कहेंगे।**

५४—योगमायावच्छिन्न हरि के विविध अवतार, एवं ब्रह्मावतार–महादेवावतार--आदि की अप्रसिद्धि का समन्वय—

जो पालन करता है, उसे ही रक्षा की चिन्ता होती है। पालन करना क्योंकि एकमात्र विष्णुमाया का ही काम है, अतएव विश्वयोग में जब-जब अशान्ति उपस्थित होती है, तब तब न ब्रह्मा आते, न इन्द्र

(महादेव) आते । आते हैं अंशरूप से एकमात्र विष्णु । अवताररहस्यवेत्ता विद्वानों को यह विदित है कि, भारतवर्ष में २४—१०—जितने भी अवतार सुने जाते हैं, वे सब एकमात्र विष्णु से ही सम्बन्ध रखते हैं। पुराणों में यह प्रसिद्ध है कि, जब जब संसार में अत्याचार फैलता है, तब तब देवगण सहित ब्रह्मा, और महादेव गोलोकवासी गोविन्द की, नहीं नहीं गोविन्द की उस योगमाया की ही स्तुति करते हैं, जिसने कि— "सोऽपि निद्रावशं नीतः" (सप्तशती) के अनुसार स्वयं उसको भी मोहनिद्रा से अभिभूत कर रक्खा है। प्रार्थना से योगमाया हरि का प्रबोधन कराती है। हरि अवतार के लिए आश्वासन प्रदान करते हैं। यही कारण है कि, धर्म्मग्लानि के उपशम के लिए विष्णु के अतिरिक्त अवतारों के लोक में ब्रह्मावतार, किंवा— महादेवावतार प्रसिद्धि में नहीं आए।

५५—शुक्र--शोणितानुगता रयि--प्राणात्मिका आध्यात्मिकी योगमाया का स्वरूप— समन्वय, एवं तद्द्वारा विश्व का सम्मोहन—

एक चमत्कार और देखिए। आगतितत्त्व का ही नाम विष्णु है, एवं स्थितिगर्मिता आगति को ही हमनें सोम बतलाया है। सोम ही विष्णु का विष्णुत्त्व है। सोमादान से ही यज्ञमूर्त्ति विष्णु का यज्ञकर्म्म प्रतिष्ठित है। उधर इन्द्र नामक गति–तत्त्व का अग्नि के साथ सम्बन्ध बतलाया गया है। यों समझिए कि, सोमदैवत्य विष्णु शान्त हैं, एवं अग्निदैवत्य इन्द्र, किंवा पुराणपरिभाषानुसार रुद्र उग्र देवता हैं। उभय– नियन्ता स्थितिलक्षण ब्रह्मा अनुष्णाशीत हैं। आग्नेप्राण वृषा कहलाता है, सौम्यप्राण योषा नाम से प्रसिद्ध है। योषा स्त्रीभाव का समर्पक है, वृषा पुरुषभाव का समर्पक है। माता के गर्भाशयमें योषाप्राण की प्रधानता है, अतएव यह सौम्य विष्णु--प्रधान है—"**प्रादेशमात्रो वै गर्भो विष्णुः शेते**" (शतपथ ब्राह्मण)। पिता आग्नेय–प्राणात्मक वृषाप्रधान है। जन्मदाता पिता है, गर्भरक्षा करने वाली माता है। वही पालन करती है, वही रक्षा करती है। यह विष्णु की योगमाया का ही अनुग्रह है। माता साक्षात् योगमाया है, वैष्णवी माया है। इसीलिए आर्ष–साहित्य में पिता की अपेक्षा माता का स्थान ऊँचा माना गया है। वक्तव्य यही है कि, तीनों योगमायाओं में से केवल विष्णुमाया ही योगमाया कहलासकती है, जैसाकि—"**योगमाया हरेश्चैतत् तया संमोह्यते जगत्**" इत्यादि रहस्यवचन से स्पष्ट है।

५६—योगमायानुगत सौम्य महद्ब्रह्म, तन्निबन्धन त्रिगुणभाव, सूर्य्य-चन्द्र-पृथिव्यनुगत दर्शपूर्णमास से त्रिगुण महान् की आकृति— प्रकृति--अहंकृति--भावों में परिणति—

यही योगमाया विज्ञानभाषा में "**महद्ब्रह्म**" नाम से प्रसिद्ध है। पूर्व के वैज्ञानिक आत्मपरीक्षा प्रकरण में इसे ही हमने "**महानात्मा**" कहा है। महान् पारमेष्ठ्य–सौम्यतत्त्व है, जैसाकि—"**महत्तत् सोमो महिषश्चकार**" इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। सूर्य्य के दर्शपूर्णमास से इस पारमेष्ठ्य सौम्य महान् में त्रिगुणभाव का उदय होजाता है। जिसप्रकार चन्द्रमा पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा लगाता है, सचन्द्रा– पृथिवी सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगाती है, एवमेव चन्द्र–पृथिवी से युक्त सूर्य्य परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगाता है, जोकि परिक्रमारहस्य आज के भौतिक विज्ञान की परिज्ञानसीमा से बहिर्भूत है। सूर्य्य की इसी परिक्रमा का नाम दर्श--पूर्णमास है। पारमेष्ठ्य महान् का जो भाग सूर्य्य से प्रकाशित रहता है,

वह प्रकाशित अंश सत्त्वमूर्त्ति महान् है, अप्रकाशित अंश तमोमूर्त्ति महान् है, एवं सान्ध्य भाग रजोमूर्त्ति महान् है। इन तीनों गुणों के अतिरिक्त इसी महान् में इसी दर्शपूर्णमास से **आकृति--प्रकृति-अहंकृति-** भावों का जन्म होता है। भूतमयी पृथिवी के दर्शपूर्णमास से महान् में आकृतिभाव का उदय होता है, चन्द्रमा के दर्शपूर्णमास से प्रकृतिभाव का उदय होता है, एवं स्वयं सूर्य के दर्शपूर्णमास से अहंकृतिभाव का उदय होता है। अहंकृति का सत्त्वगुण से सम्बन्ध है, प्रकृति का रजोगुण से सम्बन्ध है, एवं आकृति का तमोगुण से सम्बन्ध है।

५७—महद्गर्भीभूत चिदात्मा का संस्मरण, एवं योगमाया के द्वारा अनेक भावों की प्रसूति—

इस योगमायामय महान् के इन्हीं ६ भावों का तीनों देवताओं के साथ सम्बन्ध होता है। ब्रह्मा सत्त्वगुणप्रधान हैं, विष्णु रजोगुणप्रधान हैं, एवं रुद्र तमोगुणप्रधान हैं। इसप्रकार महामायामूर्त्ति अक्षर के गर्भ में रहने वाली यह योगमाया (विष्णुमाया) त्रिगुणभावमयी बन जाती है। यही त्रिगुणात्मिका योगमाया उस अखण्ड को खण्ड-खण्ड—रूप में परिणत कर देती है। **"मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्"** के अनुसार इसी महद्गर्भ में चिदात्मा गर्भ धारण करते हैं। जिसप्रकार पात्रों के भेद से एक ही सूर्यप्रतिबिम्ब अनेक भावों में परिणत होता हुआ खण्ड—खण्ड रूप में विभक्त हो जाता है, एवमेव एक ही अव्ययात्मा (अक्षरयुक्त अव्यय) शरीरात्मिका पात्रस्थानीया इस योगमाया के अनुग्रह से खण्ड—खण्ड रूप में परिणत हो गया है।

५८—चतुरशीतिलक्षमिता योगमाया, एवं योगमाया की आवरणपरम्पराओं से चिदात्मा की निगूढ़ता—

चतुरशीतिलक्ष आकृति भावयुक्ता इस योगमाया के आगे जाकर अनन्त खण्ड होजाते हैं। संसार में असंख्य सीमित पदार्थ हैं। एक एक सीमित पदार्थ एक एक योगमाया है। प्रत्येक योगमाया में परमाणु—भेद से अनन्त योगमाया हैं। बड़ी योगमाया में छोटी योगमाया, छोटी में पुनः योगमाया, इस दहरोत्तर--सम्बन्ध से विश्व में खण्डस्वरूपसमर्पिका त्रिगुणभावमयी इसी योगमाया का साम्राज्य होरहा है। योगमाया के आवरण से एकत्वलक्षणा महामाया, एवं तदवच्छिन्न महामायी पुरुष, दोनों का स्वरूप आवृत होरहा है। योगमाया ने हीं आत्मस्वरूप को आवृत कर रक्खा है, जैसा कि भगवान् कहते हैं—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

—गीता

५९—योगमायावच्छिन्न विष्णु के अवतार का संस्मरण—

ध्यान रहे, अवतार का एकमात्र इसी योगमाया से सम्बन्ध है, क्योंकि अवतार विष्णु का ही होता है, एवं उसी की माया योगमाया है, जैसा कि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है--

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ।
वीक्ष्य रन्तु मनश्चक्रे योगमाया--समावृतः ॥

श्रीमद्भागवते

महामाया का व्यापक पुरुष से सम्बन्ध है, एवं उसका अवतार असम्भव है । दूसरी दृष्टि सबसेउसी–के अवतार हैं--"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातन-" ।

६०—महामोहप्रवर्त्तिका योगमाया, तन्निवृत्त्युपायभूता योगमायोपासना, एवं तत्सम्बन्ध में मार्कण्डेय–महर्षि के उद्बोधक--सूत्र—

जिसप्रकार उस व्यापक पुरुष के लिए वह महामाया है, एवमेव त्रिगुणात्मक विश्व, एवं विश्व में रहने वाली त्रिगुणात्मिका प्रजा के लिए तो योगमाया ही महामाया है । सभी प्राणी ज्ञानमात्रा से युक्त हैं, ज्ञान मोहनाश का कारण है । परन्तु इस महामायामयी योगमाया के निग्रहात्मक अनुग्रह से रहता हुआ भी ज्ञान मोह को नहीं हटा सकता । बड़े बड़े तपस्वी भी, ज्ञानी भी योगमाया के बलवत् आकर्षण से मोह के अनुगामी बन ही जाते हैं । मोह से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय है—माया की आराधना, जगदम्बा की स्तुति । जिसने मोहपाश में आबद्ध कर रक्खा है, वही पाशबन्धन से विमुक्त भी कर सकती है । इसी मायारहस्य का विश्लेषण करते हुए महर्षि उपासक सुरथ राजा से कहते हैं--

१—ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचरे ।
विषयाश्च महाभाग यान्ति चैवं पृथक् पृथक् ॥

२—दिवान्धाः प्राणिनः केचिद्रात्रावन्धास्तथाऽपरे ।
केचिद्दिवा तथा रात्रौ प्राणिनस्तुल्यदृष्टयः ॥

३—ज्ञानिनो मनुजाः सत्यं किन्तु ते नहि केवलम् ।
यतो हि ज्ञानिनः सर्वे पशुपक्षिमृगादयः ॥

४—ज्ञानं च तन्मनुष्याणां यत्तेषां मृगपक्षिणाम् ।
मनुष्याणां च यत्तेषां तुल्यमन्यत्तयोभयोः ॥

५—ज्ञानेऽपि सति पश्यैतान्पतगाञ्छावचंचुषु ।
कणमोक्षादृतान्मोहात् पीड्यमानानपि क्षुधा ॥

६—मानुषा मनुजव्याघ्रा साभिलाषाः सुतान् प्रति ।
लोभात् प्रत्युपकाराय नन्वेतान् किं न पश्यसि ॥

७—तथापि ममतावर्त्ते मोहगर्त्ते निपातिताः ।
महामायाप्रभावेण संसारस्थितिकारिणः ॥
८—तन्नात्र विस्मयः कार्य्यो योगनिद्रा जगत्पतेः ।
महामाया हरेश्चैषा तया संमोह्यते जगत् ॥
६—ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥
१०—तया विसृज्यते विश्वं जगदेतच्चराचरम् ।
सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये ॥
११—सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी ।
संसारबन्धहेतुश्च सैव सर्वेश्वरेश्वरी ॥
१२—एतत्ते कथितं भूप ! देवीमाहात्म्यमुत्तमम् ।
एवं प्रभावा सा देवी ययेदं धार्य्यते जगत् ॥
१३—विद्या तथैव क्रियते भगवद्विष्णुमायया ।
तया त्वमेष वैश्यश्च तथैवान्ये विवेकिनः ॥
१४—मोह्यन्ते मोहिताश्चैव मोहमेष्यन्ति चापरे ।
तामुपैहि महाराज ! शरणं परमेश्वरीम् ॥
१५—आराधिता सैव नृणां भोगस्वर्गापवर्गदा ॥

—श्रीमार्कण्डेपुराणे

६१—विश्वात्मा, एवं विश्व, समष्टिरूप सर्वप्रपञ्च, तदनुगता विवर्त्तत्रयी, एवं सर्वरूपा मोहजननी योगमाया—

अबतक के कथन का निष्कर्ष यही हुआ कि, विश्वविवर्त्त विश्वात्मा, और विश्व, इन दो भागों में विभक्त है। विश्वात्मा में अव्यय-अक्षर-क्षर ये तीन विवर्त्त हैं। तीनों क्रमशः पुरुष-प्रकृति-विकृति हैं। पुरुष मनः--प्रधान बनता हुआ ज्ञानप्रधान है, आलम्बन है। प्रकृति प्राणप्रधाना बनती हुई क्रिया-प्रधाना है, मध्यस्था होने से उभयात्मिका है। यही निमित्तकारण है, स्वरूप से एक है, महामाया है। विकृति वाक्प्रधाना बनती हुई अर्थप्रधाना है, उपादानकारण है। यही त्रिगुणभावात्मिका योगमाया है। यही मोह की जननी है, यही विश्वरूपा है, यही सर्वरूपा है। ये ही तीनों विवर्त्त क्रमशः ज्ञान-भक्ति-कर्म्म--योगों के स्वरूप--समर्पक हैं। निम्न लिखित तालिकाओं से निष्कर्ष का स्वरूप सर्वात्मना स्पष्ट हो-जाता है।

१—अव्ययपुरुषः

—*— मनोमयो मुक्तिसाक्षी — आनन्द-विज्ञान—

- १—मनः (ज्ञानं—ज्ञानयोगः)—अधिदैवतम्
- २—प्राणः (क्रिया-भक्तियोगः)-दैवतानिचभूतानिच
- ३—वाक् (अथः—कर्म्मयोगः)—अधिभूतम्

—आलम्बनम् "न करोति, न लिप्यते"

—*—

२—अक्षरप्रकृतिः (महामाया)

- १—ब्रह्मा (१) —मनोमयः (ज्ञानं-ज्ञानयोगः) अधिदै०
- २—विष्णुः (१), ३—इन्द्रः (२) —प्राणमयौ (क्रिया—भक्तियोगः)दै० भू०
- ४—अग्निः (१), ५—सोमः (२) —वाङ्मयौ (अर्थः—कर्म्मयोगः) अधिभू०

—निमित्तकारणम् "करोति, न लिप्यते"

—*—

३—क्षरप्रकृतिः (प्रकृतिविकृतिः) योगमाया

- १—प्राणः (१) —मनोमयः (ज्ञान-ज्ञानयोगः) अधिदै०
- २—आपः (१), ३—वाक् (२) —प्राणमय्यौ (क्रिया-भक्तियोगः)दै० भू०
- ४—अन्नादः(१), ५—अन्नम् (२) —वाङ्यौ (अर्थः—कर्म्मयोगः) अधिभू०

—उपादानकारणम् "विकरोति, लिप्यते च"

—*—

४—समष्टिः

१—मनः—ज्ञानं (ज्ञानयोगः)—मनोमूर्त्तिरव्ययः
२—प्राणः—क्रिया (भक्तियोगः)—प्राणमयोऽक्षरः
३—वाक्—अर्थः (कर्म्मयोगः)—वाङ्मयः क्षरः

} —तदिदं सर्वम्

५—समष्टिः

त्रिवृन्मनः
१—मनोमयं मनः (मनः)—ज्ञानम् (ज्ञानमयो ज्ञानयोगः) अधिदै०
२—मनोमयः प्राणः (मनः)—क्रिया (ज्ञानमयो भक्तियोगः) दै० भू०
३—मनोमयी वाक् मनः—अर्थः (ज्ञानमयः जर्म्मयोगः) अधिभू०
} —ज्ञानयोगः-अव्ययोगः — मनः

त्रिवृत्प्राणः
१—प्राणमयः प्राणः (प्राणः)—क्रिया (क्रियामयो भक्तियोगः) दै० भू०
२—प्राणमयं मनः (प्राणः)—ज्ञानम् (क्रियामयो ज्ञानयोगः) अधिदै०
३—प्राणामयी वाक् (प्राणः)—अर्थः (क्रियामयः कर्म्मयोगः) अविभू०
} भक्तियोगः-अक्षरयोगः — प्राणः

त्रिवृद्वाक्
१—वाङ्मयी वाक् (वाक्)—अर्थः (अर्थमयः कर्म्मयोगः) अधिभू०
२—वाङ्मयः प्राणः (वाक्) क्रिया (अर्थमयो भक्तियोगः) दै० भू०
३—वाङ्मयं मनः (वाक्) ज्ञानम् (अर्थमयो ज्ञानयोगः) अधिदै०
} कर्म्मयोगः-क्षरयोगः — वाक्

६--प्रकारान्तरेण समष्टिः--

१ मनः

१--आनन्दमयं[1] मनः[3]--ज्ञानयोगभूमिः		ज्ञानयोगाधिष्ठाता---अव्ययपुरुषः
२--विज्ञानमयः[2] प्राणः[4]--भक्तियोगभूमिः		
३--मनोमयी[3] वाक्[5] --कर्म्मयोगभूमिः		

——*——

२ प्राणः

१—आनन्दगर्भितः, मनोमयः सर्वज्ञो **ब्रह्मा** प्राणमूर्त्तिः	–ज्ञानयोगभूमिः	भक्तियोगाधिष्ठात्री प्रकृतिः (अक्षरः)
२—विज्ञानगर्भितः, प्राणमयः, सर्वशक्तिः-**विष्णुः** प्राणमूर्त्तिः	–भक्तियोगभूमिः	
३—मनोगर्भितः, वाङ्मयः, सर्ववित्- **इन्द्रः**-प्राणमूर्त्तिः		
४—मनोगर्भितः, मनः प्राणमयः सर्ववित्-**अग्निः** प्राणमूर्त्तिः	–कर्म्मयोगभूमिः	
५-प्राणवाग्गर्भितः, प्राणवाङ्मयः, सर्ववित्-**सोमः**-प्राणमूर्त्तिः		

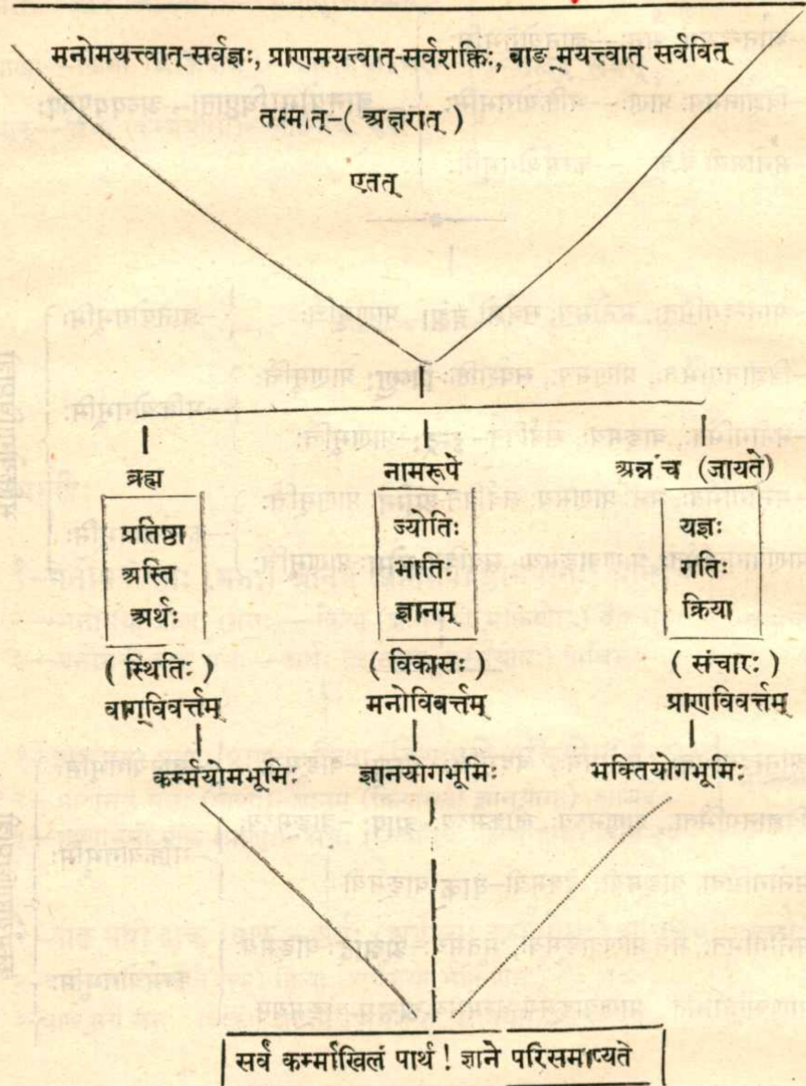
——*——

३ वाक्

१--आनन्दगर्भितः, मनोमयः, वेदमूर्त्तिः, **प्राणः**–वाङ्मयः	–ज्ञानयोगभूमिः	कर्म्मयोगाधिष्ठात्री विकृतिः (क्षरः)
२—विज्ञानगर्भिताः, प्राणमय्यः, लोकमय्यः-**आपः** –वाङ्मय्यः	–भक्तियोगभूमिः	
३--मनोगर्भिता, वाङ्मयी, देवमयी–**वाक्**-वाङ्मयी		
४—मनोगर्भितः, मनःप्राणवाङ्मयः, भूतमयः--**अन्नादः**-वाङ्मयः	–कर्म्मयोगभूमिः	
५—प्राणवाग्गर्भितं प्राणवाङ्मयं धर्म्ममयं-**अन्नम्**-वाङ्मयम्		

——*——

७—महामायाविवर्त्त—



८—योगमायाविवर्त्त—

१—ब्रह्ममाया—ततो जन्म (उत्पादनम्)—अनुष्णाशीता-योगमाया
२—विष्णुमाया—ततः स्थितिः (पालनं रक्षणंच)—सौम्या-योगमाया
३—शिवमाया—ततो भङ्गः (संहारः)—आग्नेया-योगमाया

९—सौम्या विष्णुमाया-योगमाया-खण्डखण्डात्मिका-त्रिगुणमयी दुरत्यया—

१—सत्त्वगुणको महान्—तदिदं पारमेष्ठ्यं ब्रह्म सौम्यं वैष्णवम्—चिदात्मयोनिः
२—रजोगुणको महान् "
३—तमोगुणको महान् "
४—अहंकृतिमहान् "
५—प्रकृतिमहान् "
५—आकृतिमहान् "

१०—दर्शपौर्णमासः—

१—सौरप्रकाशानुगतो महान्—प्रकाशमूर्त्तिः—सत्त्वम्
२—सौरविरुद्धदिग्गतो महान्—तमोमूर्त्तिः—तमः
३—सन्धिगतो महान्—रजोमूर्त्तिः—रजः
४—सौरपूर्णमासेन महति—अहंकृतेरुदयः—अहंकृतिः
५—चान्द्रपूर्णमासेन महति—प्रकृतेरुदयः—प्रकृतिः
६—पार्थिवपूर्णमासेन महति—आकृतेरुदयः—आकृतिः

—*—

१—सत्त्वमूर्त्तिर्महान्—अहंकृतेरधिष्ठाता—ज्ञानयोगभूमिः
२—रजोमूर्त्तिर्महान्—प्रकृतेरधिष्ठाता—भक्तियोगभूमिः
३—तमोमूर्त्तिर्महान्—आकृतेरधिष्ठाता—कर्म्मयोगभूमिः

—*—

६२—पुरुषयुक्ता गुणान्विता त्रिकला प्रकृति, तन्निबन्धन-त्रित्वभाव, एवं—'त्रिःसत्या वै देवाः' का समन्वय—

प्रकृति क्या है ?, इस प्रश्न की मीमांसा की गई। इस मीमांसा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि, पुरुषयुक्ता प्रकृति अपनी अवयवरूपा त्रिगुणरूपा त्रिगुणभावात्मिका योगमाया को आगे कर विश्व का स्वरूप-निर्म्माण कर रही है। क्योंकि पुरुषविशिष्ट प्रकृति से युक्ता योगमाया ही विश्व की जननी है, दूसरे शब्दों में—तीनों का समन्विरूप ही विश्व का आत्मा है, अतएव सम्पूर्ण विम्व में समष्टि, एवं व्यष्टिरूप से

सर्वत्र ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-योगों का ही साम्राज्य है। प्रकृतिसिद्ध चातुर्वर्ण्य की भाँति प्रकृतिसिद्धा योगत्रयी भी मौलिक बनती हुई सर्वथा नित्या है। इसी योगत्रयी के प्रभाव से, अथवा योगत्रयावच्छिन्न त्रिकल विश्वात्मा के अनुग्रह से सर्वत्र त्रित्ववाद का साम्राज्य होरहा है। शास्त्रीय व्यवहारों में तो त्रिपुटि का शासन है ही, परन्तु लौकिक व्यवहार भी इससे वञ्चित नहीं हैं। इसी आत्मपुटि से आत्मसत्य परिगृहीत है। देवता सत्यानुगामी हैं, इसी अभिप्राय से इनके सम्बन्ध में--"त्रि:सत्या वै देवाः" यह वचन प्रसिद्ध है। त्रिपुटि का साम्राज्य कहाँ कहाँ व्याप्त है ?, यह निम्नलिखित कुछ एक उदाहरणों से व्यक्त होजाता है--

६३—त्रिपुटिभावान्विता त्रिगुणात्मिका योगमाया के त्रित्व-धर्म्मों का विभिन्न दृष्टि-कोणों से समन्वय, एवं प्राकृत विश्वानुबन्धिनी भावत्रयी के कतिपय उदाहरण—

विश्वातीत **प्रविविक्तब्रह्म**, विश्वचर **प्रविष्टब्रह्म**, विश्वरूप **सृष्टब्रह्म** भेद से **ब्रह्म**[१] के तीन विवर्त्त हैं। **भूमा, अणिमा, भूमाणिमा** भेद से विश्वातीत **परात्पर**[२] के तीन विवर्त्त हैं। **अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर** (**पुरुष-प्रकृति-विकृति**) भेद से विश्वचर **षोडशी**[३] **पुरुष** के तीन विवर्त्त हैं। संयत्री त्रैलोक्यरूप **स्वः**, क्रन्दसी त्रैलोक्यरूप **भुवः**, रोदसी त्रैलोक्यरूप **भूः** भेद से **विश्व**[४] भी त्रिपर्वा है।

आनन्द-विज्ञान-अन्तर्मनो (श्वोवसीयसमनो) भेद से मुक्तिसाक्षी **ज्ञानात्मा**[५] (**विद्याव्यय**) भी त्रिपर्वा है। **मनः-प्राण-वाक्** भेद से सृष्टिसाक्षी **कर्म्मात्मा**[६] (**कर्म्माव्यय**) भी त्रिपर्वा है। **ब्रह्मा-इन्द्राविष्णू-अग्नीषोम** भेद से **प्रकृति**[७] (**अक्षर**) भी त्रिपर्वा है। **प्राण-आपोवाक्-अन्नान्नाद** भेद से **विकृति**[८] (**क्षर**) भी त्रिपर्वा ही है। **सत्ता-चेतना-आनन्द** भेद से **व्यापक**[९] **ब्रह्म** भी त्रिपर्वा है।

वाक्-आपः-अग्निः भेद से सृष्टिबीज **शुक्र**[१०] भी त्रिपर्वा है। **आत्मा-प्राण-पशु** भेद से सृष्टिमूर्त्ति **प्रजापति**[११] भी त्रिपर्वा है। **आत्मा-पदं-पुनःपदं** भेद से प्रजापति की **संस्था**[१२] भी त्रिपर्वा है। उक्थ-अर्क-अशीति भेद से **महदुक्थ**[१३] भी त्रिपर्वा है। **काम-तपः-श्रम** भेद से **सृष्ट्यनुबन्ध**[१४] भी त्रिपर्वा है। **ब्रह्म-कर्म्म-अभ्व**-भेद से **सोपाधिक ब्रह्म**[१५] भी त्रिपर्वा है। **ज्ञान-विज्ञान-अज्ञान** भेद से **ब्रह्म**[१६] (ज्ञान) भी त्रिपर्वा है। **कर्म्म-विकर्म्म-अकर्म्म** भेद से **कर्म्म**[१७] भी त्रिपर्वा है। **नाम-रूप-अर्थ** भेद से **अभ्व**-[१८] भी त्रिपर्वा है। **संचित, प्रारब्ध-क्रियमाण** भेद से **अनुष्ठित कर्म्म**[१९] भी त्रिपर्वा है। **कायिक-वाचिक-मानसिक** भेद से **भावात्मक कर्म्म**[२०] भी त्रिपर्वा है। **क्रतु-चेष्टा-भाव** भेद से **आभ्यन्तर-कर्म्म**[२१] भी त्रिपर्वा है। **संस्कार-विकार-सत्त्व** भेद से **बाह्यकर्म्म**[२२] भी त्रिपर्वा है।

अव्यक्तात्मा-व्यक्ताव्यक्तात्मा-व्यक्तात्मा भेद से **ईश्वरविवर्त्त**[२३] भी त्रिपर्वा है। **अन्तर्य्यामी, सूत्रात्मा, वेदात्मा** भेद से **अव्यक्तात्मा**[२४] भी त्रिपर्वा है। **सत्यात्मा-यज्ञात्मा-चिदात्मा** भेद से **व्यक्ताव्यक्तात्मा**[२५] भी त्रिपर्वा है। **सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-विराट्** भेद से **व्यक्तात्मा**[२६] भी त्रिपर्वा है। **चिदात्मा-प्रत्यगात्मा-शारीरिकआत्मा** भेद से **आध्यात्मिक आत्मा**[२७] भी त्रिपर्वा है। **वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ** भेद से **शारीरिकआत्मा**[२८] भी त्रिपर्वा है। **अग्नि-वायु-इन्द्र** भेद से **वैश्वानर**[२९] भी त्रिकल है। **प्राण-**

व्यान-अपान भेद से तैजस[३०] भी त्रिकल है। प्रज्ञा-प्राण-भूत भेद से प्राज्ञ[३१] भी त्रिकल है। पवमान-पावक-शुचि भेद से अग्नि[३२] भी त्रिकल है। रुद्र-मरुत्-मारुत भेद से वायु[३३] भी त्रिकल है। वासव-मरुत्वान्-मघवा भेद से इन्द्र[३४] भी त्रिकल है।

अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैवत भेद से प्रपञ्च[३५] भी त्रिपर्वा है। ओम्–तत्–सत् भेद से परब्रह्म का निर्देशक शब्दब्रह्म[३६] भी त्रिपर्वा है। स्फोट–स्वर–वर्ण भेद से वाङ्मय[३७]प्रपञ्च भी त्रिपर्वा है। अखण्डस्फोट-वाक्यपदस्फोट–शब्दाक्षरस्फोट भेद से स्फोट[३८] भी त्रिकल है (भूषणसम्मत आठों स्फोटों का इन्हीं तीनों में अन्तर्भाव है)। उदात्त–अनुदात्त–स्वरित भेद से स्वर[३९] भी त्रिकल है। व्यञ्जनात्मक-स्वरात्मक-उभयात्मक[४०] भेद से वर्ण भी त्रिकल है। भूत–भविष्यत्–वर्त्तमान भेद से काल भी त्रिपर्वा[४१] है। एकवचन–द्विवचन–बहुवचन भेद से वचन[४२] भी त्रिपर्वा है। कर्त्ता–कर्म्म–करण भेद से कर्तृतन्त्र[४३] भी त्रिपर्वा है। आत्मनेपद, परस्मैपद, उभयपद भेद से धातु[४४] भी त्रिपर्वा है। अकर्म्मक–सकर्म्मक–प्रेरणार्थक भेद से क्रिया[४५] भी त्रिपर्वा है। उत्तम–मध्यम–प्रथम भेद से पुरुष[४६] भी त्रिपर्वा है। कर्तृप्रधानवाक्य,–कर्म्मप्रधानवाक्य– भावप्रधानवाक्य भेद से वाक्य[४७] भी त्रिपर्वा है। लिंग-वचन-कारक भेद से संज्ञाङ्ग[४८] भी त्रिपर्वा है। रूढ, यौगिक, योगरूढ भेद से संज्ञा[४९] भी त्रिपर्वा है। पुल्लिंग-स्त्रीलिंग-नपुंसकलिंग भेद से लिंग[५०] भी त्रिपर्वा है। स्वर-व्यञ्जन-विसर्ग भेद से सन्धिप्रकार[५१] भी त्रिपर्वा है।

अहं–ब्रह्मास्मि–तत्त्वमसि–सोऽहं—भेद से महावाक्य[५२] भी त्रिपर्वा है। सजातीय-विजातीय–स्वगत भेद से भेद[५३] भी त्रिपर्वा है। योग–विभूति–बन्ध भेद से सम्बन्ध[५४] भी त्रिपर्वा है। काल–स्वभाव–कर्म्म भेद से नियति[५५] भी त्रिपर्वा है। दृष्ट- अनुमान–आप्त भेद से प्रमाण[५६] भी त्रिपर्वा है। औपश्लेषिक–वैषयिक–अभिव्यापक भेद से आधार[५७]प्रकार भी त्रिपर्वा है। स्वार्थ–परार्थ–परमार्थ भेद से वृत्ति[५८] भी त्रिपर्वा है। मिथ्या–व्यवहार–परमार्थ भेद से दृष्टि[५९] भी त्रिपर्वा है। सत्य-ऋत-सत्यानृत भेद से भाव[६०] भी त्रिपर्वा है

भृगु–अङ्गिरा–अत्रि भेद से ऋषि[६१] भी त्रिपर्वा है। अग्निष्वात्ता, सोमसत्–बर्हिषत् भेद से पितर[६२] भी त्रिपर्वा है। आग्नेय–सौम्य–साध्य भेद से देवता[६३] भी त्रिपर्वा है। नमुचि–वृत्र–बल भेद से असुर[६४] भी त्रिपर्वा है। अङ्गा–बगधा–चेरपादा भेद से अतिक्रान्ता प्रजा[६५] भी त्रिपर्वा है। कहाँ तक गिनावें, त्रिकल प्रजापति की इस त्रिपुटि के संक्षिप्त निदर्शन से ही एक स्वतन्त्र विशालकाय ग्रन्थ बन सकता है। अतः अधिक विस्तार न कर कुछ एक त्रिपुटियों की परिगणना उद्धृत कर विश्राम कर लिया जाता है—

६६-ऋक्-यजुः, साम (वेदत्रयी)।
६७-पद्य-गद्य-गान (रचनात्रयी)
६८-भूः-भुवः-स्वः (लोकत्रयी)
६९-अग्निः वायुः-आदित्यः (देवत्रयी)
७०-मा-प्रमा-प्रतिमा (छन्दोत्रयी)
७१ महोक्थं-महाव्रतं-साम (रहस्यत्रयी)
७२-ब्रह्म-क्षत्रं-विट् (वीर्य्यत्रयी)
७३-ब्रा० क्षत्रियः-वैश्यः (वर्णत्रयी)
७४-यज्ञः-तपः-दानम् (कर्म्मत्रयी)
७५-इष्ट-आपू० दत्तम् (लोकर्म्मत्रयी)
७६-स्वर्ग-नरक-मुक्तिः (गतित्रयी)
७७-अग्निः-यमः-आदित्यः (अङ्गिरात्रयी)
७८-आपः-वायुः-सोमः (भृगुत्रयी)
७९-इष्टिः-पशुः-सोमः (यज्ञत्रयी)
८०-पुरोडाशः-वपाः-रसः (द्रव्यत्रयी)
८१-तेजः-आपः-अन्नम् (भूतत्रयी)
८२-सत्यवती-अङ्गवती-अन्यवती (उपासनात्रयी)
८३-आकृतिः-प्रकृतिः अहंकृतिः (वृत्तित्रयी)
८४-जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिः (अवस्थात्रयी)
८५-उत्पत्तिः-स्थितिः-लयः (भावत्रयी)
८६-बृहत्, वैराज, रैवत (सौरसामत्रयी)
८७-रथन्तर-वैरूप-शाक्वर (पा० सामत्रयी)
८८-भर्गः-महः-यशः (तेजस्त्रयी)
८९-प्रातःसं०-माध्यंदि-सायं (सवनत्रयी)
९०-व्यक्तिः, आकृतिः, जातिः (विकासत्रयी)
९१-यज्ञायज्ञिय-वारवन्तीय श्रायन्तीय (सामत्रयी)
९२ ज्योतिः-गौः-आयुः (सौरतत्त्वत्रयी)
९३-इड़ा-ऊर्क्-भोगाः (पारमेष्ठ्यतत्त्वत्रयी)
९४-रेतः-श्रद्धा-यशः (चान्द्रःतत्त्वत्रयी)
९५-वाक्-गौः-द्यौः (पार्थिवतत्त्वत्रयी)
९६-आत्मा-सत्त्वं-शरीरम् (दण्डत्रयी)
९७-स्थूल० सूक्ष्म० कारण० (शरीरत्रयी)
९८-प्रज्ञा-प्राण-भूतमात्रा (मात्रात्रयी)
९९-नभचरः-स्थलचरः-जलचरः (जीवयत्री)
१००-धातु-मूल-जीवाः (जीवयत्री)
१०१-संसज्ञाः, अन्तःसंज्ञाः, असंज्ञाः (प्राणित्रयी)
१०२-निदानं—निघन्टुः—चिकित्सा (आयुर्वेद-विषयत्रयी)
१०३-वातः-पित्तम्-कफः (धातुत्रयी)
१०४-शिराः-स्नायवः-धमन्यः (नाड़ीत्रयी)
१०५-घनाः-द्रवाः-वाष्पाः (अवस्थात्रयी)
१०६-स्वेच्छा, अनिच्छा, परेच्छा (प्रारब्धत्रयी)
१०७-दधि-मधु-घृतम् (रसत्रयी)
१०८-माता, पिता, सन्ततिः (मैथुनीसंहितात्रयी)
१०९-माता-पिता-आचार्य्यः (सांस्कारिकी संहितात्रयी)
११०-आचार्य्यः, अन्तेवासी, विद्या (ज्ञानसंहितात्रयी)
१११ ईश्वरः-जीवः-जगत् (सर्वत्रयी)

६४— लोकव्यवहारानुगत त्रित्त्व-धर्म्मों का समन्वय—

यह तो हुआ शास्त्रीय व्यवहार। अब संक्षेप से लौकिक व्यवहार का भी विचार कर लीजिए। घोर-घोरतम नास्तिक सम्प्रदाय, एवं आस्तिक सम्प्रदाय, दोनों नें हीं अपने व्यवहारकाण्ड में त्रित्त्ववाद को मूल मान रक्खा है। भारतीय कार्य्यों के उपक्रम उपसंहार में मङ्गलपाठ आवश्यक माना गया है। मङ्गलपाठ के उपसंहार में--"**ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!**" यह वाक्य सन्निविष्ट रहता है। शान्ति जिसकी चाही जायगी, वह आत्मा हो, शरीर हो, अथवा विश्व का कोई भी जड़ चेतन पदार्थ हो, त्रिगुणभाव के कारण वह त्रिपर्वा, किंवा त्रिकल ही होगा। ऐसी दशा में तत्प्रयुक्ता शान्ति तबतक सर्वाङ्गीण न बनेगी, जबतक कि शान्ति-भाव को भी त्रिपर्वा नहीं बना लिया जायगा। इसीप्रकार तीन बार आचमन करना, तीन बार हाथ धोना, तीन बार शपथ खाना, आदि आदि व्यवहार भी त्रिकल आत्मस्वरूप के ही अनुगामी बने हुए हैं।

६५--लोकानुबन्धी त्रिभावों का स्वरूप-समन्वय—

वर्त्तमान न्यायालयों में वादी-प्रतिबादियों के सम्बन्ध में न्यायविभाग का सेवक (चपरासी) "**अमुक व्यक्ति उपस्थित है !**" । इस आह्वान-वाक्य को तीन बार दोहराना क्यों आवश्यक समझता है ?, रात्रि के समय बैङ्क--सेनास्थल आदि प्रवेशनिषिद्ध स्थानों में भूल से चले जाने वाले व्यक्ति पर "**कौन ?**" शब्द की त्रिरावृत्ति के अनन्तर ही रक्षक को उस आगन्तुक पर फायर करने का आदेश क्यों मिला ?, वधदण्ड के लिए सन्नद्ध व्यक्ति के गले में एक-दो-तीन के अनन्तर ही क्यों गलपाश डाला जाता है ?, क्या पश्चिमी वैज्ञानिकों के प्रज्ञाक्षेत्र में इन प्रश्नों का समाधान है ?। नहीं। इन सभी त्रित्त्वभावों का समाधान करेगा एकमात्र प्रकृति-शास्त्र, भारतीय शास्त्र। वही यह बतला सकेगा कि, आत्मपुरुष प्रकृति से युक्त है। स्वयं आत्मा भी त्रिकल है। एवं उसकी प्रकृति (स्वभाव) भी त्रिगुणभावमयी बनती हुई त्रिकल है। भला प्रकृति-पुरुष से सम्बन्ध रखने वाले इस सहज सिद्ध त्रित्त्वभाव का कौन विरोध कर सकता है ?।

६६--जननी के धर्म्मों का जन्य-पदार्थों में समन्वय—

उक्त सभी त्रयीभावों की मूल प्रतिष्ठा है **गुणत्रयी**। गुणत्रयी का मौलिक स्वरूप है--पाठकों की पूर्वपरिचिता वही "**योगमाया**" अणु से आरम्भ कर महान् पर्य्यन्त, भूत से आरम्भ कर देवता पर्य्यन्त, पृथिवी से आरम्भ कर द्यु लोक पर्य्यन्त जितने भी विश्वभाव हैं, वे सभी गुणमयी इस दुरत्यया योगमाया के आवरण से नित्य आवृत हैं। जननी के धर्म्म जन्य में न आवें, यह कैसे होसकता है ?। योगमाया की, दूसरे शब्दों में योगमायानुबन्धी इन्हीं तीनों गुणों की सर्वव्याप्ति का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

सत्त्वं रज--स्तम--इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो ! देहे देहिनमव्ययम् ॥१॥ (गी० १४।५।)
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं ततम् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥२॥ (गी० ७।१३)।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥२॥ (गी० १८।४०।)

६७--योगत्रययुक्ता, गुणत्रयसमन्विता योगमाया का कर्तृत्व--

अव्यय के सम्बन्ध से ज्ञानयोगाधिष्ठात्री, अक्षर के सम्बन्ध से भक्तियोगाधिष्ठात्री, एवं स्वयं अपने त्रिगुण+ भाव से कर्म्मयोगाधिष्ठात्री, साथ ही अव्यय-अक्षर के बिना योगमाया रह ही नहीं सकती। फलतः इसका योगत्रयावच्छिन्नत्व भलीभाँति सिद्ध होजाता है। योगत्रययुक्ता, गुणत्रयसमन्विता योगमाया करती क्या है ?, सुनिए !

६८--प्राधानिक (सांख्य) शास्त्र-सम्मत प्राकृतिक भूतसर्ग का विस्तार, एवं उसके त्रिविध, तथा चतुर्दशविध विवर्त्तों का समन्वय--

श्रोता आप हैं, तो सुनाने वाला प्राधानिक शास्त्र है। प्रकृति क्या करती है ?, इस का ठीक ठीक उत्तर प्रकृतिवादी (सांख्य) ही देसकता है। प्रकृतितत्त्व के सम्पूर्ण विवर्त्तभावों को स्पष्ट करने वाले निम्नलिखित तीन वचन हमारे सामने आते हैं—

१—अष्टविकल्पो दैव, स्तैर्य्यग्योनश्च पञ्चधा भवति ।
मानुश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥

+ त्रिगुणभाव का सम्बन्ध कर्म्मयोग से है। दूसरे शब्दों में-त्रिगुणभावमय कर्म्मयोग का बन्धन-मूला योगमाया से सम्बन्ध है। यदि कर्म्म से गुणभाव निकाल दिया जाता है, तो द्वन्द्वातीत यह कर्म्म प्रकृति-पाश से विमुक्त होकर निर्गुण, समत्वलक्षण अव्ययात्मा का कर्म्म बन जाता है। "**निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन**" से भगवान् ने कर्म्ममार्ग में से त्रिगुणभाव के संशोधन का ही आदेश दिया है।

अध्यात्मसंस्था में व्यापक चिदात्मा के अंशभूत प्रत्यगात्मा, शारीक आत्मा, नाम के दो विवर्त्त हैं। दोनों में से प्रत्यगात्मलक्षण अव्यय देह में रहता हुआ भी त्रिभूतिभाव के कारण देहाभिमान से शून्य है, निर्लेप है। अक्षरप्रकृति से परे होने के कारण इस परा अक्षरप्रकृति के गर्भ में प्रकट होने वाली क्षररूपा योगमाया के त्रिगुणभाव का आक्रमण नहीं होता, जैसाकि-"**अनादित्त्वान्निर्गुणत्त्वात् परमात्मायमव्ययः । शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते**" इत्यादि गीतासिद्धान्त से स्पष्ट है। शारीरिक आत्मा यद्यपि उसी प्रत्यगात्मा का अंश है। परन्तु "**जीवभूतां महाबाहो**" ! के अनुसार इसका आविर्भाव अक्षरप्रकृति के गर्भ में ही होता है। अतएव तत्समानधरातल पर प्रतिष्ठित रहने वाली योगमाया के आक्रमण से यह देहाभिमानी शारीरक अव्यय, (अतएव '**देही**' नाम से प्रसिद्ध) नहीं बच सकता। शरीरस्थ प्रत्यगात्मलक्षण ईश्वराव्यय, शारीरकात्मलक्षण जीवाव्यय, दोनों में से शारीरक अव्यय ही बन्धन मे आता है, इसी स्पष्टीकरण के लिए भगवान् को अव्यय के साथ 'देहिनं' विशेषण लगाना पड़ा है।

२—ऊर्ध्वं सत्त्वविशाल, स्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः ।
मध्ये रजोविशालो, ब्रह्मादिस्तम्ब-पर्य्यन्तः ॥

३—तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः ।
लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन ॥

—सांख्यकारिका ५३-५४-५५ ।

योगामायात्मिका प्रकृति का एकमात्र कार्य्य है-भूतसृष्टि, किंवा सांख्य के शब्दों में भौतिकसर्ग । निर्म्माण-सामग्री सत्त्व-रज-स्तमो-भेद से तीन भावों में विभक्त है । तीनों सामग्रियाँ यद्यपि परस्पर अविनाभूत हैं, अतएव प्रकृति से उत्पन्न प्रत्येक भौतिक सर्ग में तीनों गुणों की सत्ता माननी पड़ती है । इसी आधार पर प्रत्येक सर्ग में सत्त्वानुबन्धी अव्ययानुगत ज्ञानयोग, रजोऽनुबन्धी अक्षरानुगत भक्तियोग, एवं तमोऽनुबन्धी क्षरानुगत कर्म्मयोग, तीनों की सत्ता सिद्ध होजाती है । इसप्रकार यद्यपि गुणसमानापेक्षया सभी भूतसर्ग समान-धरातल पर प्रतिष्ठित हैं । तथापि गुणतारतम्य से यह सर्ग **सत्त्वविशाल, रजोविशाल, तमोविशाल** भेद से तीन भागों में विभक्त होजाता है । आगे जाकर तो छन्दः प्रस्तार की भाँति यह सर्ग असंख्य भेदों में परिणत होजाता है, जैसाकि अनुपद में हीं बतलाए जाने वाले कुछ एक उदाहरणों से स्पष्ट होजायगा । पहिले स्थूल-त्रयी का ही विचार कीजिए—जब प्रकृति में सत्त्वभाव की प्रधानता रहती है, रज और तम गौण बनते हुए सत्त्व के गर्भ में प्रविष्ट रहते हैं, तो उस दशा में सत्त्वप्रधाना बनती हुई वह प्रकृति—**ब्रह्म-प्रजापति-ऐन्द्र-पितर-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पिशाच** इन अष्टविध सत्त्वविशालसर्गों की जननी बनती है । यही **ऊर्ध्वसर्ग** कहलाता है । क्योंकि तीनों गुणों में से स्वयं सत्त्वगुण ऊर्ध्वस्थानीय है । यही "दैवसर्ग" नाम से भी प्रसिद्ध है । इन आठों जीवसर्गों में सुप्रसिद्ध ११ इन्द्रियाँ तो रहतीं हीं हैं, साथ ही जन्म से ही इनमें आठ सिद्धियाँ, नव तुष्टियाँ और रहतीं हैं । सम्भूय इनमें २८ इन्द्रियाँ होजातीं हैं । चान्द्रमण्डल इनकी आवास-भूमि है । सौर प्रकाश इनका शत्रु है । इनके पैर नहीं होते, अतएव विज्ञानभाषा में इन्हें "अपादजीव" कहा जाता है । चान्द्रसोम के सम्बन्ध से इनका शरीर उसी प्रकार सोमप्रधान है, जैसे कि पार्थिव-मिट्टी के सम्बन्ध से पार्थिव शरीर मृत्प्रधान रहता है । इसी सौम्य-भाव के कारण इन आठों देवयोनियों का सदसद्रूपों से सजातीय सौम्य प्राणियों पर (बच्चों, एवं स्त्रियों पर, क्योंकि बच्चों में भी सोम की प्रधानता रहती है, एवं स्त्रियों का मूलद्रव्य भी सोमतत्त्व ही है) आक्रमण हुआ करता है । यही आयुर्वेद के अनुसार **भूताक्रमण** कहलाता है । इसी के लिए हमारे इस वैज्ञानिक चिकित्सा-शास्त्र ने (चरकने) **भूतोपशमनीयाध्याय** नाम का एक स्वतन्त्र प्रकरण रक्खा है ।

६९—अष्टविध सत्त्वविशाल-सर्गों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

आठों में उत्तर उत्तर देवसर्ग की अपेक्षा पूर्व पूर्व सर्ग सत्त्ववृद्धि के कारण श्रेष्ठ-श्रेणि में प्रतिष्ठित है । दूसरी दृष्टि से **ब्रह्म-प्राजापत्य-ऐन्द्र-पैत्र्य** इन चारों का एक विभाग है, **गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पिशाच**-इन चारों का एक विभाग है । अन्य दृष्टि ये **ब्रह्म-प्राजापत्य** का एक युग्म, **ऐन्द्र-पैत्र्य** का एक युग्म, **गन्धर्व-यक्ष**

का एक युग्म, एवं **राक्षस पिशाच** का एक युग्म है। चारों युग्मों में से आरम्भ के दो युग्मों का आक्रमण तो कादाचित्क है। शेष दोनों अवरयुग्म प्रायः उत्पात मचाते ही रहते हैं। **पिशाच** का माँस भाग पर आक्रमण होता है। यही बच्चों का "सूखा" (सूखने की बीमारी) कहलाता है। **राक्षस** का आक्रमण रुधिर पर होता है, रुधिर पीला, किंवा श्वेत होजाता है। '**यक्ष**' का आक्रमण इन्द्रियों पर होता है। इन्द्रियाँ अपना व्यापार अस्त व्यस्त करने लगतीं हैं। '**गन्धर्व**' का आक्रमण मन पर होता है, मन प्रलाप का अनुगामी बन जाता है। '**पितर**' का आक्रमण शुक्रस्थित महानात्मा पर होता है, संतान का निरोध हो जाता है, जिसकी कि अनेक चिकित्साओं में से '**पितृश्राद्ध**' भी एक अनिवार्य्य चिकित्सा मानी गई है। '**ऐन्द्र**' का आक्रमण बुद्धि पर होता है, बुद्धि का व्यवसायलक्षण समाधिभाव उच्छिन्न होजाता है। '**प्राजापत्य**' का आक्रमण योगमाया (प्रकृति) पर होता है, प्रकृति (स्वभाव) बिगड़ जाती है, स्वभाव चिड़चिड़ा होजाता है। '**ब्राह्म**' का आक्रमण अहंकृति पर होता है। मनुष्य अपना आपा ही खो बैठता है। इन दूषित आक्रमणों के साथ साथ अनुकूल अनुबन्ध–सामग्री के उपस्थति होजाने पर कभी कभी इनका आक्रमण काम की भी वस्तु बन जाता है। स्वयं वेद में एक ऐसे ही सदाक्रमण का उल्लेख मिलता है। उल्लेख यों है—

७०—कबन्ध अथर्वा के द्वारा पतञ्जल काप्य से प्रश्न, एवं तन्मूलक देवसर्ग का संस्मरण—

अरुणपुत्र सुप्रसिद्ध वैज्ञानिज्ञ **उद्दालक** कहते हैं कि, याज्ञवल्क्य ! हम (उद्यालक) काप्यमहर्षि के यहाँ यज्ञरहस्य के अध्ययन के लिए मद्रदेश में रहते थे। काप्य की स्त्री में गन्धर्व का आगमन होता रहता था। एक बार मेरे सामने हीं (परकायप्रवेशकुशल) गन्धर्वदेवता ऋषिपत्नी में प्रकट हुआ। मैंने उससे प्रश्न किया कि, तुम कौन हो ?। उत्तर मिला–मैं अथर्वा नाम के गन्धर्ववंश में उत्पन्न होने वाला, आथर्वण हूँ, और मेरा नाम **कबन्ध** है। आश्चर्य्य ! महा आश्चर्य्य !! अपने परिचय देने के अव्यवहितोत्तरकाल में हीं पतञ्जल काप्य से, एवं उस स्थान में रहने वाले याज्ञिकों से कबन्ध प्रश्न कर बैठा कि–"यदि आप जानते हैं, तो उस **सूत्र** (सूत्रात्मा) का स्वरूप बतलाइए, जिसमें यह लोक, परलोक, एवं सम्पूर्ण भूतसर्ग बद्ध हैं ?। पतञ्जल काप्य कहने लगे, भगवन् ! मैं यह नहीं जानता कि, वह सूत्रात्मा कौन है। कबन्ध ने दूसरा प्रश्न यह किया कि "उस **अन्तर्य्यामी** का क्या स्वरूप है, जो इस लोक, परलोक एवं सम्पूर्ण भूतवर्ग को (उनके हृदय में बैठा हुआ) नियन्त्रण में रखता है ?। पतञ्जल काप्य कबन्ध के इस दूसरे प्रश्न का भी उत्तर न दे सके। आगे जाकर कबन्ध कहने लगा कि, हे काप्य ! जो व्यक्ति उस सूत्रात्मा, और अन्तर्य्यामी को जानेगा, वही ब्रह्मवित् , लोकवित् , देववित् , वेदवित् यज्ञवित् , भूतवित् , आत्मवित्, एवं सर्ववित् कहलाएगा। और तुम्हें यह जानकर प्रसन्नता होगी कि, उन दोनों का स्वरूप मैं जानता हूँ।" (शत १४।५।४।१।)।

७१—रजोविशालसर्ग का स्वरूप-समन्वय—

उक्त आख्यान से यह भी सिद्ध होता है कि, इन देवयोनियों में जन्म-मृत्यु, विवाह, सन्तति आदि मानुष-व्यवहार यथावत् प्रतिष्ठित हैं। इनमें प्रधानरूप से प्रकृति का सत्त्वभाग प्रतिष्ठित है। प्रकृति के ही अन्तर्य्यामी, सूत्रात्मा, ये दो विवर्त्त हैं, जैसा कि पूर्व में बतलाया जाचुका है। अतएव यह प्रजा प्रकृति के

अधिक सन्निकट रहती हुई प्रकृति के उक्त दोनों विवर्त्तों को जानने में विशेष समर्थ है। जब प्रकृति में रजोभाव की प्रधानता रहती है, सत्त्व और तम गौण बनते हुए रज के गर्भ में प्रविष्ट रहते हैं, तो उस दशा में रजःप्रधाना प्रकृति **मनुष्य-पशु-पक्षी-कृमि-कीट** इन पाँच रजोविशालसर्गों की जननी बनती है। यही **मध्यसर्ग** है। क्योंकि गुणत्रयी में रजोगुण मध्य-स्थानीय है। यही **"तिर्य्यक्सर्ग"** नाम से भी प्रसिद्ध है। इन पाँचों की चेतना का मूल आधार वायुतत्त्व ही है।

७२—तमोविशालसर्ग का स्वरूप-समन्वय—

तमोभावप्रधाना, सत्त्वरजोगर्भिता प्रकृति तमोविशालसर्ग की जननी बनती है। धातुवर्ग, ओषधि-वनस्पति से आरम्भ कर स्तम्ब पर्य्यन्त सम्पूर्ण प्रपञ्च तमोगुण-प्रधान है। यही प्रकृति का तीसरा भौतिक स्वरूप है। क्योंकि गुणत्रयी में तमोगुण मूल में प्रतिष्ठित है, अतएव इसे **मूलसर्ग** कहा जाता है।

७३—'चतुर्द्दशविधो भूतसर्गः', और ब्रह्मादि स्तम्ब पर्य्यन्त सर्गों का संस्मरण—

ऊर्ध्वसर्ग सत्त्वानुबन्धी, किंवा सत्त्वप्रधान बनता हुआ, सत्त्वसम्बन्धी ज्ञानमूर्त्ति अव्यय का अनुग्रह प्राप्त करता हुआ ज्ञानप्रधान है। अतएव इस सर्ग को हम ज्ञानयोगानुगामी कह सकते हैं। मध्यसर्ग रजोऽनुबन्धी, किंवा रजःप्रधान बनता हुआ रजः-सम्बन्धी क्रियामूर्त्ति महामायात्मक अक्षर का अनुग्रह प्राप्त करता हुआ क्रियाप्रधान है। अतएव इस मध्यसर्ग को (मध्यस्थता के कारण ज्ञानार्थरूपा उभय सम्पत्ति से युक्त रहने के कारण) भक्तियोगानुगामी कह सकते हैं। मूलसर्ग तमोऽनुबन्धी, किंवा तमः-प्रधान बनता हुआ तमः-सम्बन्धी अर्थमूर्त्ति योगमायात्मक क्षर का अनुग्रह प्राप्त करता हुआ अर्थप्रधान है। अतएव इसे हम कर्म्मयोगानुगामी मान सकते हैं। **ब्रह्म** से आरम्भ कर **स्तम्ब** * पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाला यह प्राकृतिक सर्ग सम्भूय १४ भागों में विभक्त है। यही सांख्यशास्त्र का—"**चतुर्द्दशविधो भूतसर्गः**" है। इन चौदहों में भी अवान्तर तारतम्य है।

७४—सत्त्वविशालसर्गानुगता ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगत्रयी—

सत्त्वविशाल अष्टविध देवसर्ग इतर दोनों सर्गों की अपेक्षा जहाँ ज्ञानप्रधान बनता हुआ ज्ञानयोग का अनुगामी है, वहाँ अपने पारस्परिक भेद के कारण इनमें भी तीनों योगों का अन्तर्भाव सिद्ध होजाता है। **ब्रह्म-प्रजापति** नाम के प्रथम युग्म में सत्त्व की प्रधानता है, **इन्द्र** एवं **पितर** में रज की प्रधानता है, एवं **गन्धर्वादि** चारों में तम की प्रधानता है। सत्त्वप्रधान प्रथम युग्म ज्ञानयोगानुगामी है, रजःप्रधान द्वितीय-युग्म भक्तियोगानुगामी है, एवं तमःप्रधान चतुर्थयुग्म कर्म्मयोगानुगामी है। इसप्रकार **सत्त्व-रज-तम** के क्रमिक सम्बन्ध से इन सत्त्वविशाल, एवं ज्ञानयोगानुगामी देवसर्गों में भी अवान्तर तीन भेद हो जाते हैं।

---

* पानी में काई के रूप से प्रतिष्ठित शैवाल का मौलिक रूप ही "**स्तम्ब**" है।

७५——रजोविशालसर्गानुगता ज्ञान–भक्ति–कर्म्म- योगत्रयी—

मनुष्य–पशु–पक्षी–कृमि-कीट, इन रजोविशाल, अतएव भक्तियोगानुगामी तिर्यक्सर्गों में भी यही बात है। सत्त्वप्रधान मनुष्य ज्ञानयोगानुगामी है, रजःप्रधान–पशुपक्षी–युग्म भक्तियोगानुगामी है, एवं तमःप्रधान कृमि-कीट-युग्म कर्म्मयोगानुगामी है। इसप्रकार सत्त्व–रज–स्तम के क्रमिक विकास से इन रजोविशाल, अतएव भक्ति–योगानुगामी तिर्य्यक्सर्गों में भी तीनों योगों का अन्तर्भाव सिद्ध होजाता है।

७६—तमोविशालसर्गानुगता ज्ञान–भक्ति–कर्म्म–योगत्रयी—

धातु-ओषधि वनस्पति–स्तम्ब–लक्षण तमोविशाल, अतएव कर्म्मयोगानुगामी मूलसर्ग में भी व्यवस्था–साम्य है। सत्त्वप्रधान ओषधि-वनस्पतिवर्ग ज्ञानयोगानुगामी है, रजःप्रधान स्तम्ब भक्तियोगानुगामी है, एवं तमःप्रधान धातुवर्ग कर्म्मयोगानुगामी है। इसप्रकार सत्त्व–रज–स्तम के तारतम्य से तमोविशाल, अतएव कर्म्मयोगानुगामी इस मूलसर्ग में भी तीनों योगों का भोग सिद्ध हो जाता है, जैसा कि निम्नलिखित तालिकाओं से स्पष्ट है।

यद्यपि सांख्य ने १४ भूतसर्गों का **अष्टविकल्प दैवसर्ग**, पञ्चधा विभक्त [पशु–पक्षी–सर्प–कीट–स्थावर] **तैर्य्यक्सर्ग**, एकविध **मानुषसर्ग**, इस क्रम से विभाजन किया है। परन्तु विज्ञानदृष्टि को प्रधानता देते हुए हमने गुणविवेक की दृष्टि से देवताओं को एक वर्ग में मानते हुए इनका स्वतन्त्र विभाग माना है, चेतन-प्राणियों की साम्यदृष्टि से **मनुष्य–पशु–पक्षी–कृमि कीट** इन पाँचों का स्वतन्त्र विभाग माना है। सर्प के स्थान में सर्पविध कृमियों के संग्रह के लिए **'कृमि'** शब्द ही अधिक उपयुक्त समझा है। **ओषध्यादि स्थावर विभाग** को स्वतन्त्र माना है। यदि सांख्यमतानुसार ही इस सर्ग का विचार किया जाता है, तो निम्नलिखित तालिका हमारे सामने आती है—

चतुर्द्दशविधो भूतसर्गः–सांख्याभिमतः––

देवसर्गः— { ब्रह्मा[१], प्रजापतिः[२] इन्द्रः[३], पितरः[४] / गन्धर्वः[५], यक्षः[६], राक्षसः[७], पिशाचः[८] } –सत्त्वविशालसर्गः—ऊर्ध्वसर्गः–८

—*—

मनुष्यसर्गः–{ ब्रा० क्ष० वै० शूद्रभेदभिन्नो मनुष्यः[१] } –रजोविशालसर्गः––मध्यसर्गः–१

—*—

तिर्य्यक्सर्गः–{ स्थावराः[१], स्तम्बाः[२], कीटाः[३], पशवः[४], पक्षिणः[५] } –तमोविशालसर्गः–मूलसर्गः–५

चतुर्द्दशविधो भूतसर्गः

—*—

१–चतुर्द्दशविधो भूतसर्गः—(संशोधितः)

१—

१—ब्रह्म (१) (१)
२—प्रजापतिः (२) (२)
३—इन्द्रः (१) (३)
४—पितरः (२) (४)
५—गन्धर्वः (१) (१)
६—यक्षः (१) (२)
७—राक्षसः (१) (३)
८—पिशाचः (२) (४)

ऊर्ध्वं——सत्त्वविशालः

२—

९—मनुष्यः (१) (१)
१०—पशुः (२) (१)
११—पक्षी (३) (२)
१२—कीटः (१) (१)
१३—कृमिः (२) (२)

मध्ये——रजोविशालः

३—

१४—स्तम्बवर्गः

तमोविशालश्च मूलतः—सर्गः

आब्रह्म ... स्तम्बपर्यन्तः

—ज्ञानयोगानुगामी

—भक्तियोगानुगामी

—कर्म्मयोगानुगामी

२-सत्त्वविशालो देवसर्गः—(ज्ञानयोगानुगतः—

सत्त्वव्याप्तिः

१—ब्रह्मा २—प्रजापतिः	सत्त्वानुगतौ-ज्ञाननिष्ठौ—ज्ञानयोयानुगतौ	ज्ञानयोगानुगताः--देवाः--सौम्याः	सत्त्वविशालाः
१—इन्द्रः २—पितरः	रजोऽनुगतौ-भक्तौ—भक्तियोगानुगतौ		
१—गन्धर्वः २—यक्षः ३—राक्षसः ४—पिशाचः	तमोऽनुगताः-कर्मठाः-कर्म्मयोगानुगताः		

——*——

३-रजोविशालो तिर्य्यक्-सर्गः—(भक्तियोगानुगतः)—

रजोव्याप्तिः

१—मनुष्याः	सत्त्वानुगताः—ज्ञाननिष्ठाः—ज्ञानयोगानुगताः	भक्तियोगानुगताः प्राणिनः--वायव्याः	रजोविशालाः
१—पशवः २—पक्षिणः	रजोऽनुगताः-भक्ताः—भक्तियोगानुगताः		
१—कृमयः २—कीटाः	तमोऽनुगताः-कर्म्मठाः—कर्म्मयोगानुगताः		

——*——

४-तमोविशालः स्थावरसर्गः--(कर्म्मयोगानुगतः--

तमोव्याप्तिः

१—ओषधयः २—वनस्पतयः	सत्त्वानुगताः--ज्ञानयोगानुगताः	कर्म्मयोगानुगताः--अजीवाः--	आग्नेयाः तमोविशालाः
१—स्तम्बशैवालादयः	रजोऽनुगताः—भक्तियोगानुगताः		
१—धातवः, अन्येच पाषाणादयः	तमोऽनुगताः-कर्म्मयोगानुगताः		

——*——

७७–पृथ्व्यनुगत 'भूत' तत्त्व, तदनुगता भौतिकी प्रजा, एवं स्तौम्यलोकात्मक-पार्थिव-भूत-सर्ग की चतुर्दशविधता का समन्वय—

जिस विज्ञानदृष्टि के आधार पर सांख्याभिमत भूतसर्ग का उक्त स्वरूप-संशोधन हुआ है, उस विज्ञानदृष्टि से इस भूतसर्ग को हम **ससंज्ञ–अन्तःसंज्ञ–असंज्ञ**, इन तीन भागों में विभक्त करेंगे। ये ही तीनों क्रमशः **चेतनसर्ग, अर्द्धचेतनसर्ग, अचेतनसर्ग** इन नामों से, एवं **त्र्यात्मक, द्व्यात्मक, ऐकात्मक,** नामों से भी व्यवहृत किए जासकते हैं। त्र्यात्मक चेतनसर्ग **"जीव"** नामक जीववर्ग है। द्व्यात्मक, अर्द्धचेतनवर्ग **"मूल"** नामक जीववर्ग है। एवं एकात्मक अचेतनवर्ग **"धातु"** नामक जीववर्ग है। विज्ञान-सिद्धान्त के अनुसार तीनों हीं सर्ग स्तौम्यत्रिलोकी से सम्बन्ध रखते हुए पार्थिव हैं। पृथिवी क्योंकि भूतसमयी है, अतएव चतुर्दशविध इस पार्थिवसर्ग को हम अवश्य ही **'भूतसर्ग (भूतसृष्टि–पार्थिवप्रजा)** कह सकते हैं।

७८–दुरत्यया, दुर्विज्ञेया सर्गपरम्परा, एवं उसके 'भाव–गुण–विकार' नामक तीन विवर्त्तों का संस्मरण—

जब प्रकृति ही दुरत्यया होती हुई दुर्विज्ञैया है, तो प्रकृति से उत्पन्न सर्ग कैसे सुविज्ञेय रह सकते हैं। इन सर्गों की दुर्विज्ञेयता **भाव-गुण–विकार** भेद से तीन भागों में विभक्त हैं। **भावसृष्टि अव्ययसृष्टि है,** इसे ही **मानसीसृष्टि** भी कहा जाता है। **गुणसृष्टि अक्षरसृष्टि है,** इसे ही **प्राकृतिकसृष्टि** भी कहा जाता है। **विकारसृष्टि क्षरसृष्टि है,** यही **मैथुनीसृष्टि, याज्ञिकीसृष्टि, वैकारिकीसृष्टि, अदितिसृष्टि, पार्थिवीसृष्टि, भूतसृष्टि, मायिकसृष्टि, कश्यपसृष्टि, त्रिदेवसृष्टि, त्रिगुणसृष्टि** आदि विविध नामों से प्रसिद्ध है। इस त्रिगुणात्मिका **क्षरसृष्टि** का एकमात्र पार्थिव द्यावापृथिवी से ही सम्बन्ध है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर भगवान् ने कहा है—

> न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
> सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥
>
> —गीता

७९–त्रिगुणात्मिका प्रकृति की विश्वव्यापकता, एवं उसके भाव–गुण–विकार–नामक तीन महिमाविवर्त्त—

अव्ययानुगता मानसीसृष्टि की विकासभूमि **अव्यक्त–स्वयम्भू, एवं महत् परमेष्ठी** है। **ऋषि** [मौलिकप्राण], और **चार मनु** हीं इस भावात्मिका सृष्टि के प्रधान विवर्त्त हैं, जैसाकि–**'महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा। भवन्ति भावा भूतानां मत्त** [अव्ययतः] **एव पृथग्विधाः'** इत्यादि गीतासिद्धान्त से स्पष्ट है। **अक्षरानुगता गुणसृष्टि** की विकासभूमि विश्वकेन्द्रस्थ सूर्य्य है। त्रिगुणभाव का [अपने दर्शपूर्णमास यज्ञ से] स्वरूप समर्पक यही है, जैसाकि पूर्व में विस्तार से बतलाया जाचुका है। तन्मात्रारूप गुणों का उपक्रम यही स्थान है। **क्षरानुगता विकारसृष्टि** की विकासभूमि चन्द्रगर्भिता पृथिवी है। क्षर अक्षर का ही मर्त्यांश है। अतएव **'प्रकृति'** शब्द से दोनों गृहीत हैं। प्रकृति के ही अमृतप्रधान अक्षरभाग से गुणसृष्टि होती है, प्रकृति के ही मर्त्यप्रधान क्षरभाग से गुणसृष्टि होती है, एवं प्रकृति के ही मर्त्यप्रधान क्षरभाग से

विकारसृष्टि होती है, जैसाकि--'विकारांश्च गुणांश्चैतान् विद्धि प्रकृति-सम्भवान्' इत्यादि गीता-वचन से स्पष्ट है।

८०--सत्त्व--रज--स्तमो--गुणात्मिका प्रकृति के विश्वानुबन्धी 'परम--मध्यम--अवम--' नामक तीन धामों का संस्मरण—

निष्कर्ष यही हुआ कि, पञ्चपर्वात्मिका विश्वसृष्टि को हम सत्त्वानुगता अव्ययसृष्टि, रजोऽनुगता अक्षरसृष्टि, एवं तमोऽनुगता क्षरसृष्टि के भेद से तीन भागों में विभक्त करसकते हैं। यही विश्वसृष्टि का मौलिक विभाग है। स्वयम्भू-परमेष्ठी की समष्टि परमधाम है, चन्द्रमा-पृथिवी की समष्टि अवमधाम है, एवं सूर्य्य मध्यमधाम है। 'तस्मायत् किंचार्वाचीनमादित्यात् सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सूर्य्य से नीचे नीचे का विवर्त्त मर्त्यप्रधान है। ऊपर का भाग अमृतप्रधान है। 'निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च' इस यजुःश्रुति के अनुसार मध्यस्थ सूर्य्य दोनों का संयोजक बनता हुआ अमृतमृत्युमय है। अमृत-प्रधान परमधाम ÷ में अमृतप्रधान, सत्त्वमूर्त्ति अव्यय की प्रधानता है। मर्त्यप्रधान अवमधाम में मर्त्य--प्रधान, तमोमूर्त्ति क्षर की प्रधानता है, एवं उभयप्रधान मध्यमधाम में उभयप्रधान, रजोमूर्त्ति अक्षर की प्रधानता है।

८१—त्रिधामानुगत त्रिविध सर्ग, 'पुरुष-महामाया-योगमाया'-निबन्धना-सर्गत्रयी का विस्तार, एवं तालिका के द्वारा तत्समन्वय-प्रयास—

परमधाम ज्ञानयोगानुयायी है, मध्यमधाम भक्तियोगानुयायी है, एवं अवमधाम कर्म्मयोगानुयायी है। तीनों क्रमशः भाव-गुण-विकार-सृष्टियों के अधिष्ठाता बने हुए हैं। विज्ञान-दृष्टि से भावसर्ग सत्त्ववि-शाल है, गुणसर्ग रजोविशाल है, एवं विकारसर्ग तमोविशाल है। सत्त्वविशालसर्ग का स्वयं पुरुष से सम्बन्ध है, रजोविशालसर्ग का महामाया [अक्षर] से सम्बन्ध है, एवं तमोविशालसर्ग का योगमाया [क्षर] से सम्बन्ध है। तारतम्य से त्रिगुणात्मिका बनती हुई भी क्षररूपा योगमाया तमः-प्रधाना ही मानी जायगी। कारण-भगवान् ने योगमाया को आवरण * करने वाली बतलाया है, एवं आवरण करना एकमात्र तमोगुण का ही स्वाभाविक धर्म्म है। आपके सांख्याभिमत सत्त्व-रज-स्तमो-विशालसर्गों का विज्ञान-सिद्ध क्षरप्रधान योगमायानुबन्धी केवल तमोविशालसर्ग में ही अन्तर्भाव है, जैसा कि आगे की तालिकाओं से स्पष्ट है।

÷ स वेदैतत् परमं ब्रह्म धाम (उपनिषत्)
यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम। (गीता)

* "नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः" (गीता)

विज्ञानाभिमत त्रिविध सर्ग—

१–	(१) १–स्वयम्भूः (२) २–परमेष्ठी	परमधाम (अव्ययविकासभूमिः)—सत्त्वानुगतममृतम्	पञ्चपर्वा—विश्वम्
२–	(३) १–सूर्य्यः	मध्यमधाम (अक्षरविकासभूमिः)–रजोऽनुगतौ अमृतमृत्यू	
३–	(४) १–चन्द्रमाः (५) २–पृथिवी	अवमधाम (क्षरविकासभूमिः)—तमोऽनुगतं मर्त्यम्	

—*—

१–सत्त्वानुगतेनाव्ययेन—भावसृष्टिः (ऋषयः–मानवाः-पितरः–असुराः	सर्वसर्गसमष्टिः
२–रजोऽनुगतेनाक्षरेण–गुणसृष्टिः (पञ्चतन्मात्राः)	
३–तमोऽनुगतेन क्षरेण–विकारसृष्टिः (चतुर्द्दशविधो भूतसर्गः)	

—*—

१–सत्त्वविशालो—ज्ञानानुगतो—भावसर्गः—ज्ञानयोगानुगतः (भावसृष्टिः)

२–रजोविशालो—क्रियानुगतो—गुणसर्गः—भक्तियोगानुगतः (प्राणसृष्टिः)

३–तमोविशालोऽ–र्थानुगतो——विकारसर्गः–कर्म्मयोगानुगतः (मैथुनीसृष्टिः)

—*—

१–अव्यक्तमहत्सृष्टिः (स्वायम्भुवी—पारमेष्ठिनी)—पुरुषानुगता—निर्गुणा सृष्टिः

२–व्यक्ताव्यक्तसृष्टिः (सौरी) —महामायानुगता-गुणात्मिका सृष्टिः

३-व्यक्तसृष्टिः (चान्द्रमसी पार्थिवी) —योगमायानुगता-त्रिगुणात्मिका सृष्टिः

—*—

८२ – त्रिविध-सर्गानुगता पार्थिवी–त्रिलोकी, एवं तदनुगत चौदह प्रकार का भूत-सर्ग –

वैज्ञानिकी सृष्टिधारा की मीमांसा को छोड़िए। प्रस्तुत है सांख्याभिमत चतुर्द्दशविध भूतसर्ग का वैज्ञानिक विचार। वही अत्र मीमांस्य है। यह पूर्णरूपेण लक्ष्य में रखना चाहिए कि, इस सर्ग का केवल **चन्द्रगर्भिता पृथिवी** से ही सम्बन्ध है। पृथिवी के **चित्य-चितेनिधेय** भेद से दो विवर्त्त माने गए हैं। संक्षेप में इस सम्बन्ध में यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, पिण्डपृथिवी के केन्द्र से निकल कर २१ वें स्तोम पर्य्यन्त व्याप्त प्राणाग्निमय मण्डल ही चितेनिधेया पृथिवी है। इसके त्रिवृत् (९), पञ्चदश (१५) एकविंश (२१) ये तीन विभाग हैं। त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पार्थिव प्राणमण्डल इस पृथिवी का पृथिवीलोक है, पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न पार्थिव प्राणमण्डल इसका अन्तरिक्षलोक है, एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्न पार्थिव प्राणमण्डल इसका द्युलोक है। इसप्रकार केवल स्तोमभेद से पृथिवी में हीं तीनों लोकों का भोग सिद्ध होजाता है। विज्ञानभाषा में यज्ञपृथिवीरूपा यही त्रिलोकी **"स्तोम्यात्रिलोकी"** नाम से प्रसिद्ध है। इसे ही **'अदितिपृथिवी'** भी कहा जाता है। यही ब्राह्मणग्रन्थों की **"द्यावापृथिवी"** है। **पृथिवी माता है, द्यु पिता है। पृथिवी योनि है, द्यु रेतोधा है**, पार्थिव–**द्यु रस रेत है**। तीनों के समन्वय से ही चतुर्द्दशविध भूतसर्गों की अभिव्यक्ति हुई है।

८३—त्रैलोक्यदेवताओं का तानूनप्त्र, तन्निबन्धन सर्वज्ञ, हिरण्यगर्भ, विराट्–नामक त्रैलोक्य-देवता, एवं इनकी ज्ञान-क्रिया–अर्थ–रूपता का समन्वय—

त्रिवृत्पृथिवी अग्निप्रधान है। यह पार्थिव प्राणाग्नि अर्थशक्ति का अधिष्ठाता है। पञ्चदश अन्तरिक्ष वायुप्रधान है। यह क्रियाशक्ति का अधिष्ठाता है। एकविंश द्युलोक इन्द्रप्रधान है। यह ज्ञानशक्ति का अधिष्ठाता है। इन तीनों त्रैलोक्य-देवताओं का परस्पर **तानूनप्त्र [संगमन]** होता है। फलतः तीनों तीनों शक्तियों से युक्त होजाते हैं, केवल प्रधानता अप्रधानता का तारतम्य रहता है। ज्ञानशक्तियुत इन्द्र, क्रियाशक्तियुत वायु, इन दोनों को अपने गर्भ में रखने वाला, अतएव इन्द्र-वायु-अग्नि–मूर्त्ति-अर्थशक्तियुत अग्नि **"विराट्"** नाम से प्रसिद्ध है। यही **"मूलात्मा"** **"विष्णु"** इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। अर्थशक्तियुत अग्नि, ज्ञानशक्तियुत इन्द्र, इन दोनों को अपने गर्भ में रखने वाला, अतएव अग्नि-इन्द्र-वायुमूर्त्ति क्रियाशक्तियुत वायु **"हिरण्यगर्भ"** नाम से प्रसिद्ध है। यही **"हंसात्मा"***–**"ब्रह्मा"** आदि नामों से प्रसिद्ध है। अर्थशक्तियुत अग्नि, क्रियाशक्तियुत वायु, इन दोनों को अपने गर्भ में रखने वाला, अतएव अग्नि-वायु-इन्द्रमूर्त्ति ज्ञानशक्तियुत इन्द्र **"सर्वज्ञ"** नाम से प्रसिद्ध है। यही **"इन्द्रात्मा"** **"शिव"** इत्यादि नामों से भी प्रसिद्ध है। तानूनप्त्र के कारण यद्यपि तीनों हीं तीनों शक्तियों से युक्त हैं, परन्तु क्रमशः **अग्नि-वायु-इन्द्र** की प्रधानता से तीनों क्रमशः **अर्थ-क्रिया-ज्ञान**-प्रधान ही बन रहे हैं।

---

* गयाश्राद्धानुगामी प्रेत हंसात्मा को इस हंसात्मा से सर्वथा पृथक् समझना चाहिए।

८४—सर्वज्ञानुगत संसज्ञसर्ग, हिरण्यगर्भानुगत अन्तःसंज्ञसर्ग, विराडनुगत असंज्ञसर्ग–भेद से त्रिविध–सर्गों का समन्वय, एवं तालिका–माध्यम से सर्गत्रयी का स्वरूप–व्यवच्छेद—

अर्थ का क्षर से सम्बन्ध है, अव्यय की क्षरानुगता वाक् से सम्बन्ध है, एवं यही तमोभाव का अधिष्ठाता है। अतएव तत्प्रधान अर्थमूर्त्ति विराट् विष्णु को हम तमोऽनुबन्धी कर्मयोग का अध्यक्ष कह सकते हैं। क्रिया का अक्षर से सम्बन्ध है, अव्यय के अक्षरानुगत प्राण से सम्बन्ध है, एवं यही रजोभाव का अधिष्ठाता है। अतएव तत्प्रधान क्रियामूर्त्ति हिरण्यगर्भ ब्रह्मा को हम रजोऽनुबन्धी भक्तियोग का अध्यक्ष मान सकते हैं। ज्ञान का अव्यय से सम्बन्ध है, अव्ययानुगत मन से सम्बन्ध है, एवं यही सत्त्वभाव का अधिष्ठाता है। अतएव तत्प्रधान ज्ञानमूर्त्ति सर्वज्ञ शिव को हम सत्त्वानुबन्धी ज्ञानयोग का प्रवर्त्तक कह सकते हैं-"**ज्ञानमिच्छेन्महेश्वरात्**"। तीनों लोकों के अधिष्ठाता ये ही तीनों देवता **संसज्ञ-अन्तःसंज्ञ-असंज्ञ** इन तीन भूतसर्गों के प्रवर्त्तक बनते हैं, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

महापृथिवी —*— स्तोमत्रिलोकी–पार्थिवी:

१–त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्नं—प्राणमण्डलम्—अग्निमयम्—(पृथिवी)
२–पञ्चदशस्तोमावच्छिन्नं--प्राणमण्डलम्—वायुमयम्—(अन्तरिक्षम्)
३–एकविंशस्तोमावच्छिन्नं--प्राणमण्डलम्—इन्द्रमयम्—(द्यौः)

} चन्द्रगर्भिता–पृथिवी

—:—*—:—

१–अग्निः (अर्थमयः)—पार्थिवः——वाङ्मयः——क्षरानुगतः।
२–वायुः (क्रियामयः)—आन्तरिक्ष्यः-प्राणमयः—-अक्षरानुगतः।
३–इन्द्रः (ज्ञानमयः)—दिव्यः——मनोमयः——अव्ययानुगतः।

} **विश्वेदेवाः**

——*——

१–इन्द्रः (ज्ञानम्)—मनः—अव्ययः—सत्त्वम्
१ २–वायुः (क्रिया)—प्राणः—अक्षरः – रजः
३–अग्निः (अर्थः)—वाक्—क्षरः—तमः

} अग्निवायुगर्भितः-"इन्द्रः" इन्द्रात्मा सर्वज्ञः-शिवः

——*——

१-वायुः (क्रिया)—प्राणः—अक्षरः—रजः	अग्नीन्द्रगर्भितः-"वायुः" हंसात्मा
२ २--इन्द्रः (ज्ञानम्)—मनः—अव्ययः—सत्त्वम्	हिरण्यगर्भः-ब्रह्मा
३--अग्निः (अर्थः)—वाक्—क्षरः—-तमः	

—-—*—-—

१-अग्निः (अर्थः) वाक् —क्षरः—तमः	इन्द्रवायुगर्भितः"अग्निः" मूलात्मा
३ २-वायुः (क्रिया) प्राणः—अक्षरः--रजः	विराट्-विष्णुः
३-इन्द्रः (ज्ञानम् , मनः— अव्ययः--सत्त्वम्	

—-—*—-—

१-सर्वज्ञः—-शिवः—दिव्यः——दिव्यसर्गाधिष्ठाता —सत्त्वमूर्त्तिः

२-हिरण्यगर्भः-ब्रह्मा—आन्तरिक्ष्यः—-आन्तरिक्ष्यसर्गाधिष्ठाता-रजोमूर्त्तिः

३-विराट्—-विष्णुः-पार्थिवः——पार्थिवसर्गाधिष्ठाता—-तमोमूर्त्तिः

——*——

१-सत्त्वमूर्त्तिः शिवः—सत्वविशालसर्गप्रवर्त्तकः—ज्ञानयोगाधिष्ठाता-—ससंज्ञभूतसर्गाणाञ्च ।

२-रजोमूर्त्तिर्ब्रह्मा—-रजोविशालसर्गप्रवर्त्तकः —भक्तियोगाधिष्ठाता-—अन्तःसज्ञभूतसर्गाणाञ्च ।

३--तमोमूर्त्तिर्विष्णुः—तमोविशालसर्गप्रवर्त्तकः—कर्म्मयोगाधिष्ठाता—असंज्ञभूतसर्गाणाञ्च ।

——*——

८५—इन्द्रात्मलक्षण सर्वज्ञ शिव से अनुप्राणित त्र्यात्मक-सत्त्वविशाल-ससंज्ञ-सर्ग का स्वरूप-परिचय-(सत्त्वविशालसर्गस्त्र्यात्मकः-दिव्यः-(१)—

चतुर्दशविध भूतसर्गों की मूलप्रतिष्ठा का दिगदर्शन कराया गया। अब क्रमशः-तीनों के अवान्तर विभागों का विवेचन करते हुए तीनों के स्वरूपों की मीमांसा प्रस्तुत की जाती है। क्रमप्राप्त पहिले सत्त्वमूर्त्ति, सत्त्व-विशालसर्ग के प्रवर्त्तक सर्वज्ञ इन्द्रात्मा शिव से सम्बन्ध रखने वाले **ससंज्ञसर्ग** का ही विचार कीजिए।

'संसज्ञ' उस सर्ग का नाम है, जिस में ज्ञानभाग (चिदंश) की अभिव्यक्ति--प्राधान्य के साथ साथ क्रिया, एवं अर्थशक्ति का भी विकास रहे। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि, जिस जीव में ज्ञानप्रधान सर्वज्ञ, क्रियाप्रधान हिरण्यगर्भ, एवं अर्थप्रधान विराट्, इन तीनों आधिदैविक आत्माओं का, किंवा एक ही आत्मा के इन तीनों विवर्तों का समावेश रहेगा, समावेश नहीं (क्योंकि समावेश तो त्रिवृद्भाव के कारण सब में है), अपितु अभिव्यक्ति रहेगी, वही **'संसज्ञजीव'** कहलाएगा। एवं उसे ही हम **"चेतन"** कहेंगे।

यह चेतनसर्ग चान्द्र सोम, तथा दिव्य इन्द्र के भेद से दो भागों में विभक्त है। पाठकों को स्मरण होगा कि, हमने सचन्द्रा पृथिवी को भूतसर्ग की प्रवर्तिका बतलाया था। जिन चेतनजीवों में चान्द्रसोम की प्रधानता रहती है, उन्हें **'देवता'** कहा जाता है, और ये पूर्वकथनानुसार **ब्रह्म-प्रजापति** आदि भेद से आठ भागों में विभक्त हैं। जिनमें **चान्द्रप्राण** गौण, एवं इन्द्रप्राण मुख्य रहता है, वही दूसरा चेतनवर्ग है। इसके **मनुष्य पशु-पक्षी-कीट-क्रमि,** ये पाँच विभाग हैं।

पाचों पें भी क्रमिक, ज्ञानवृद्धि है, यह बतलाया ही जाचुका है। क्रमि के **सहस्रपात्-शतपाद्-षोडशपात्** आदि अनेक भेद हैं। इनमें चेतना की अभिव्यक्ति स्वल्पमात्रा में है। पार्थिव आकर्षण अधिक है, ज्ञानप्रद इन्द्र की मात्रा स्वल्प है। अतएव ये भूपृष्ठ पर रेंगते हुए ही चलते हैं। भूपृष्ठ को छोड़कर अधर उठ जाना इन की शक्ति के बाहिर है। **भ्रमर-मक्षिका-मशक-**आदि वे सब प्राणी **कीट** कहलावेंगे, जो भूपृष्ठ के साथ साथ निरावलम्ब भी रहसकते है। क्रमि की अपेक्षा इन में चेतना की अधिक अभिव्यक्ति हुई। परिणामतः पार्थिव-आकर्षण शिथिल हुआ। क्रमिके अनन्तर **पक्षियों** का स्थान है। पक्षी में और अधिक चेतना आई। पक्षी का मस्तकभाग द्युलोकस्थ इन्द्राकर्षण से थोड़ा ऊँचा होगया, पृष्ठभाग नीचा रहा। यहाँतक तो एक क्रम चला। अब यहाँ से पशु में क्रम बदल गया। पार्थिव, एवं सौर आकर्षण समानभाव में परिणत होगया। पक्षी के मस्तक-पृष्ठ भाग जहाँ ऊर्ध्व-अधः थे, वहाँ पशु के मस्तक-पृष्ठभाग समान धरातल पर आगए। आगे फिर क्रम बदला। मनुष्य में चेतना की पूर्ण अभिव्यक्ति होगई। फलतः इसके आगे का मस्तकभाग पार्थिव आकर्षण से विमुक्त होता हुआ सौर इन्द्र की ओर वितत होकर (तन कर) खड़ा होगया। परन्तु इसके शरीर में मिट्टी का भाग अधिक रहा, अतएव यह भूपृष्ठ को न छोड़सका। इसी आधारभाव के लिए इसे पैरों की अपेक्षा हुई—**"पद्भ्यां भूमिं प्रतिष्ठितः"**। आगे आकर सोम की वृद्धि से चेतना में और भी अधिक वृद्धि हुई। सोम चिद्ग्राहक **'ध्रीध्र'** पदार्थ है। यही चित् को अपने गर्भ में धारण कर प्राणात्मक इन्द्र को **प्राज्ञ**, किंवा **सर्वज्ञ** बनाता है। क्योंकि सोम की वृद्धि से चेतना की अधिक अभिव्यक्ति हुई, अतएव वह चेतनसर्ग पार्थिव आकर्षण से सर्वथा मुक्त होगया। उसे पैरों की आवश्यकता नहीं रही। आवश्यकता पड़ने पर सब प्रकार के शरीर धारण कर लेना इस का जन्म--सिद्ध धर्म्म बन गया। क्रमि-कीटादि की भाँति इन आठ देवियोंनियों में भी चेतना की क्रमिक अभिव्यक्ति हुई, जिस का कि विस्तार करना सर्वथा अप्राकृत होगा। इसप्रकार-चान्द्र सोम,--और दिव्य इन्द्रके तारतम्य से चेतन-सर्ग दो भागों विभक्त होगया। पहिला सर्ग आठ भागों में विभक्त हुआ, दूसरा ५ भागों में। सम्भूय सत्त्व--विशाल चेतनसर्ग के १३ विवर्त्त होगए। इसे हम **दिव्यसर्ग** ही कहेंगे। विराट् का अंश यहाँ **'वैश्वानर'** कहलाया, हिरण्यगर्भ का अंश **'तैजस'** कहलाया, एवं सर्वज्ञ का अंश **'प्राज्ञ'** कहलाया।

इन तीन आत्म-विवर्त्तों के कारण ही यह ससंज्ञ--सत्त्वविशालसर्ग "त्र्यात्मक" सम्बोधन का अधिकारी बना ।

८६–वाय्वात्मलक्षण हिरण्यगर्भ ब्रह्मा से अनुप्राणित द्व्यात्मक-रजोविशाल-अन्तःसंज्ञ-सर्ग का स्वरूप-परिचय (रजोविशालसर्गः--द्व्यात्मकः--आन्तरिक्ष्यः-(२)—

पार्थिवभाग की अधिकता से जीवों में चेतनांश अभिभूत होगया (दब गया), वे ही जीव "**अन्तः--संज्ञ**" नाम से प्रसिद्ध हुए । इन में आन्तरिक्ष्य हिरण्यगर्भ ब्रह्मा के, एवं पार्थिव विराट् विष्णु के प्रत्यशों की ही प्रधानता रही । सर्वज्ञ के तिरोभावलक्षण अभाव से ये पृथिवी के मूल को न छोड़सके। विराट् के द्वारा इनके शरीर का निर्म्माण हुआ, एवं हिरण्यगर्भांशभूत तैजसवायु के द्वारा इन में ऊर्ध्वगमन--लक्षण गतिभाव का विकास हुआ । हिरण्यगर्भांशभूत तैजसवायु के विकास से ये बढ़ तो अवश्य गए, परन्तु मूल (भूगर्भ) को न छोड़सके । अतएव इन्हें **मूलजीव** कहा गया । यद्यपि अमरवल्ली आदि कुछ एक वल्लियाँ अवश्य ही ऐसी हैं, जो वृक्षों पर विना पृथिवीमूल के भी व्याप्त होजातीं हैं । परन्तु इन में भी पूर्वदेश त्याग--उत्तर प्रदेशसंयोग--लक्षणा--प्राज्ञानुगता गति का तो अभाव ही है । अतएव इन को भी निर्म्मूल नहीं माना जासकता । इन मूलजीवों का आरम्भ स्तम्ब से होता है, एवं समाप्ति वृक्षों पर होती है । **स्तम्ब–कुश-काश-वल्ली-गुल्म-लता-तृण-उलुप-शुपक-वृक्ष** आदि अनेक विवर्त्तों में ये अन्तःसंज्ञ विभक्त हैं । इनमें केवल त्वगिन्द्रिय का ही विकास रहता है । जो अवस्था स्वप्नावस्था में मानव की रहती है, वही अवस्था इन अन्तः-संज्ञ जीवों की है । स्वप्न में हमारी **संज्ञा (प्रज्ञानमनोऽनुगत चिदंश)** अन्तर्मुख रहती है, एवमेव इनकी चेतना सदा अन्तर्मुख ही रहती है । अतएव इन्हें—"**अन्तःसंज्ञ**" कहा जाता है । त्वगिन्द्रिय के विकास के द्वारा ही इनमें **श्रवण-दर्शन-हसन-गन्ध--ग्रहणादि व्यापार होते हैं** । इसी के द्वारा इन्हें सुख-दुःखानुभव हुआ करता है । परन्तु जिसप्रकार स्वाप्न दुःख--सुखों--के प्रतीकार में हम असमर्थ रहते हैं, एवमेव स्वप्नावस्था से नित्ययुक्त ये अन्तःसंज्ञ जीव सुख--दुःख का अनुभव करते हुए भी इनके प्रतीकार में असमर्थ रहते हैं—"**अन्तःसंज्ञा भवत्येन्ते सुखदुःखसमन्विताः**" (महाभारत) ।

इनका प्रधान आत्मा रजोमूर्त्ति हिरण्यगर्भ ब्रह्मा (वायु) है, अतएव इन्हें हम पूर्वपरिभाषानुसार भक्तियोगानुमामी कहसकते हैं । इन में ज्ञान का भी आंशिक समावेश है, इसलिए तो ये अतःसंज्ञ हैं, अर्थ का भी समावेश है, इसलिए ये असंज्ञवत् हैं । सान्ध्य-अवस्था ही स्वप्नावस्था है । ज्ञानानुगता जाग्रदवस्था का इनमें अभाव है । उधर आप का भक्तियोग भी सान्ध्य ही माना गया है । ब्रह्मा का अन्तरिक्ष से सम्बन्ध है, अतवए इस अन्तःसंज्ञ, रजोविशालसर्ग को हम "**आन्तरिक्ष्य**" कह सकते हैं । वृक्षों में चेतना है, अथवा नहीं ?, इस प्रश्न की मीमांसा की आज कोई भी आवश्यकता नहीं रही, जब कि भारतललाम स्व० श्री **जगदीशचन्द्र वसु** ने यन्त्रों के द्वारा इस रहस्य को सभी के लिए व्यक्त कर दिया है ।

८७–अग्न्यात्मलक्षण विराट् विष्णु से अनुप्राणित एकात्मक तमोविशाल-सर्ग का स्वरूप-परिचय–(तमोविशालसर्गः-एकात्मकः–पार्थिवः-(३)—

पार्थिवभाग की ओर वृद्धि हुई । शेषभूता चेतना भी आत्यन्तिकरूप से अभिभुत होगई । केवल पार्थिव अग्नि का ही (विराडंशका ही) साम्राज्य शेष रह गया । वे ही जीव "**असंज्ञ**", किंवा '**अचेतन**' कह-

लाए । यह तो प्रत्येक दिशा में नहीं हीं भुलाना चाहिए कि, **चेतन–अचेतन--अर्द्धचेतन** इत्यादि व्यवहारों का कारण "**चिद्भाव--चिदभाव (आत्मसत्ता--आत्माभाव**) नहीं है । क्योंकि वैदिक-विज्ञान के अनुसार (आत्मा के त्रिवृद्भाव के कारण) ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, **जिसमें मनः-प्राण-वाङ्मय आत्मा प्रतिष्ठित न हो** । चिंदश का विकास, एवं अविकास ही उक्त व्यवहार का कारण है । इन्द्रियों के द्वारा ही चिदंश विकसित होता है । मेघ से यदि सौरप्रकाश आवृत होगया, मुखावरोध से घटस्थ दीपक का प्रकाश यदि अवरुद्ध होगया, तो इस अवरोधमात्र से ही सौरप्रकाश, एवं दीपप्रकाश का त्रैलोक्यावच्छिन्न पुराणाकाश में, एवं घटावच्छिन्न घटाकाश में अभाव नहीं माना जासकता । एवमेव प्रकाशसूचक इन्द्रियवर्ग के अभाव से यदि किसी भौतिक पदार्थ में चेतना का विनिर्गमन नहीं है, तो एतावता ही उसके भूताकाश को आत्मशून्य नहीं कहा जासकता । **इन्द्रियसत्ता, एवं इन्द्रियाभाव ही चेतन-जड़ भेद का कारण है, न कि आत्मसत्ता, एवं आत्माभाव**, जैशाकि–"**सेन्द्रियं चेतनद्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्**" इत्यादि आर्षवचनों से स्पष्ट है ।

जो अवस्था सुषुप्तिकाल में हमारी रहती है, वही अवस्था इन असंज्ञजीवों की रहती है । इन में सर्वज्ञ शिवांशरूप प्राज्ञ, हिरण्यगर्भ ब्रह्मांशभूत तैजस (ज्ञान–क्रिया) दोनों अभिभूत हैं । केवल विराट् विष्णु के अंशभूत अर्थप्रधान वैश्वानर की ही इन में प्रधानता है । अतएव इन्हें "**एकात्मक**" कहाजाता है । ये ही '**धातुजीव**' नाम से भी प्रसिद्ध हैं । सर्वज्ञ के विकासाभावलक्षण अभाव से न इन में ज्ञान है, एवं हिरण्यगर्भ के विकासाभावलक्षण अभाव से न इनके स्वरूप में वृद्धि है । ये जैसे के तैसे ही रहते हैं । यही सांख्यशास्त्र का "**स्थावरसर्ग**" है । क्योंकि इन में त्रिवृत्स्थानीय पार्थिव वैश्वानर का ही विकास है, अतएव इसे हम पार्थिवसर्ग ही कहेगें । वैश्वानर क्षरानुगामी बनता हुआ तमोमय है । अतएव इस सर्ग को "**तमोविशालसर्ग**" कहा जायगा ।

सौगन्धिक, पद्मराग, अनवद्यराग, पारिजातपुष्पक, बालसूर्य्यक, वैदूर्य्य, इन्द्रनील, कलायपुष्पक, महानील, नन्दक, शीतवृष्टि चन्द्रकान्त), सूर्य्यकान्त आदि मणियाँ, सप्त धातु, सप्त उपधातु, सप्त रस, सप्त उपरस, सप्त विष, सप्त उपविष आदि ४२ रसगर्व, पन्ना, पुखराज, हीरक, मोती, अभ्रक, काच, आदि आदि सब इस तीसरे स्थावर असंज्ञसर्ग में हीं अन्तर्भूत हैं । तमोविशाल असंज्ञसर्ग का यही संक्षिप्त स्वरूप–निदर्शन है ।

अष्टविकल्प दैवसर्ग, पञ्चविकल्प तिर्य्यक्सर्ग, इन १३ सर्गों की समष्टि ही सत्त्वविशाल दिव्यसर्ग है । एकविंशस्तोमावच्छिन्न पार्थिव द्युलोक ही इन की मूलप्रतिष्ठा है । ज्ञानयोग ही इनका अधिष्ठान है । एकविध, किंवा अनेकविध अन्तःसर्ग ही रजोविशाल आन्तरिक्ष्य सर्ग है । पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न पार्थिव अन्तरिक्षलोक ही इन की मूल प्रतिष्ठा है । भक्तियोग ही इनका अधिष्ठान है । एकविध, किंवा अनेकविध असंज्ञसर्ग ही तमोविशाल पार्थिवसर्ग है । त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पार्थिव पृथिवीलोक ही इन की मूलप्रतिष्ठा है । एवं कर्म्मयोग ही इन का अधिष्ठान है । सत्त्वविशालसर्ग जाग्रत्-अवस्था है, रजोविशालसर्ग स्वप्नावस्था है, एवं तमोविशालसर्ग सुषुप्तिअवस्था है । सत्त्वरजस्तम के तारतम्य से इनमें प्रत्येक में भी तीन तीन विभाग होसकते हैं, जैसाकि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा ।

विज्ञानसम्मत–योगमायानुबन्धी सर्ग—

(१) १—ब्रह्म (१)
(२) २—प्रजापतिः (२)
(३) ३—इन्द्रः (३)
(४) ४—पितरः (४)
(५) ५—गन्धर्वः (५)
(६) ६—यक्षः (६)
(७) ७—राक्षसः (७)
(८) ८—पिशाचः (८)

चान्द्रसोमप्रधानसर्गः ८

* * *

(९) १—मनुष्यः (१)
(१०) १—पशुः (२)
(११) २—पक्षी (३)
(१२) ३—कीटः (४)
(१३) ४—कृमिः (५)

इन्द्रप्राणप्रधानसर्गः ५

एकविंशस्तोमावच्छिन्नः–विराट्–हिरण्यगर्भगर्भितः–सर्वज्ञः शिवः–ज्ञानप्रधानः–प्रतिष्ठाभूमिः, सर्गप्रवर्त्तकश्च ।

सत्त्वविशालसर्गः–दिव्यः–(संसज्ञाः–त्र्यात्मकाः जीव–जीवाः)

* * *

—–o—–

स्तम्ब
कुश
काश
वल्ली
तृण
उलुप
शुपक
वृक्षादि

पञ्चदशस्तोमावच्छिन्नो विराट्–गर्भितः–हिरण्यगर्भो ब्रह्मा क्रियाप्रधानः–प्रतिष्ठाभूमिः, सर्गप्रवर्त्तकश्च ।

पार्थिवप्रधानभूतसर्गः १

रजोविशालसर्गः–आन्तरिक्ष्यः–(अन्तःसंज्ञाः–द्व्यात्मकाः मूल–जीवाः)

—*—

——*——

मणि
मुक्ता
वज्र
काच
गंधक
पारद
अभ्रक–आदि

त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्नो विराट् विष्णुः–अर्थप्रधानः–
प्रतिष्ठाभूमिः सर्गप्रवर्तकश्च ।

तमोविशालसर्गः--पार्थिवः–(ससंज्ञाः--एकात्मकाः धातु--जीवाः)

——*——

१—सर्वज्ञांश——प्राज्ञः——ज्ञानप्रधानः—अग्निवायुगर्भितः—इन्द्रः—इन्द्रात्मा—शिवः

२—हिरण्यगर्भांशः–तैजसः—क्रियाप्रधानः–अग्नीन्द्रगर्भितः——वायुः—हंसात्मा—ब्रह्मा

३—विराडंशः——वैश्वानरः-अर्थप्रधानः-वाय्विन्द्रगर्भितः——अग्निः--मूलात्मा---विष्णुः

——*——

१—मूलात्मा-विष्णुः	२—हंसात्मा-ब्रह्मा	३—इन्द्रात्मा-शिवः
तमोमूर्त्तिः	रजोमूर्त्तिः	सत्त्वमूर्त्तिः
१—विरा धिदैवतम्)	१—हिरण्यगर्भः (अधिदैवतम्)	१—सर्वज्ञः (अधिदैवतम्)
२—वैश्वानरः (अध्यात्मम्)	२—तैजसः (अध्यात्मम्)	२—प्राज्ञः (अध्यात्मम्)
३—त्रिवृत्स्तोमः (अधिदैवतम्)	३—पञ्चदशस्तोमः (अधिदैवतम्)	३—एकविंशस्तोमः (अधिदैवतम्)
४—मूलग्रन्थिः (अध्यात्मम्)	४—हृद्ग्रन्थिः (अध्यात्मम्)	४—ब्रह्मरन्ध्रम् (अध्यात्मम्)
अपानमण्डलम्	व्यानमण्डलम्	प्राणमण्डलम्
पृथिवी	अन्तरिक्षम्	द्यौः
अर्थशक्तिः	क्रियाशक्तिः	ज्ञानशक्तिः
असंज्ञविवर्त्तभावः	अन्तःसर्गविवर्त्तभावः	ससंज्ञविवर्त्तभावः
एकविधः	एकविधः	त्रयोदशविधः
अचेतनः	अर्द्धचेतनः	चेतनः

पञ्चदशविधो भूतसर्गः

मणि
मुक्ता
वज्र
काच
गंधक
पारद
अभ्रक–आदि

त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्नो विराट् विष्णुः—अर्थप्रधानः—
प्रतिष्ठाभूमिः सर्गप्रवर्त्तकश्च ।

तमोविशालसर्गः--पार्थिवः–(ससंज्ञाः--एकात्मकाः धातु--जीवाः)

——*——

१—सर्वज्ञांश ——प्राज्ञः——ज्ञानप्रधानः—अग्निवायुगर्भितः—इन्द्रः—इन्द्रात्मा—शिवः

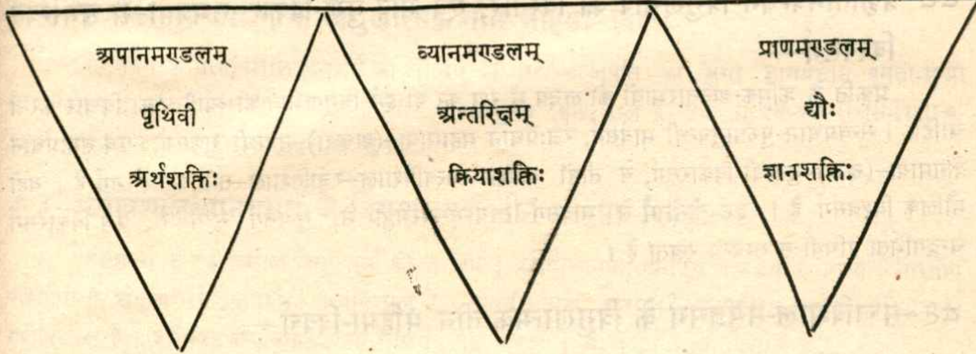
२—हिरण्यगर्भांशः–तैजसः—क्रियाप्रधानः–अग्नीन्द्रगर्भितः——वायुः—हंसात्मा—ब्रह्मा

३—विराडंशः——-वैश्वानरः-अर्थप्रधानः-वाय्विन्द्रगर्भितः——अग्निः--मूलात्मा---विष्णुः

——*——

१—मूलात्मा-विष्णुः	२—हंसात्मा-ब्रह्मा	३—इन्द्रात्मा-शिवः
तमोमूर्त्तिः	रजोमूर्त्तिः	सत्त्वमूर्त्तिः

१—विरा धिदैवतम्)	१—हिरण्यगर्भः (अधिदैवतम्)	१—सर्वज्ञः (अधिदैवतम्)
२—वैश्वानरः (अध्यात्मम्)	२—तैजसः (अध्यात्मम्)	२—प्राज्ञः (अध्यात्मम्)
३—त्रिवृत्स्तोमः (अधिदैवतम्)	३—पञ्चदशस्तोमः (अधिदैवतम्)	३—एकविंशस्तोमः (अधिदैवतम्)
४—मूलग्रन्थिः (अध्यात्मम्)	४—हृदग्रन्थिः (अध्यात्मम्)	४—ब्रह्मरन्ध्रम् (अध्यात्मम्)



असंज्ञविवर्त्तभावः	अन्तःसर्गविवर्त्तभावः	ससंज्ञविवर्त्तभावः
एकविधः	एकविधः	त्रयोदशविधः
अचेतनः	अर्द्धचेतनः	चेतनः

पञ्चदशविधो भूतसर्गः

१–प्राज्ञः
२–तैजसः } ससंज्ञास्त्र्यात्मका जीवाः–(जीवाः) ज्ञानयोगानुगताः
३–वैश्वानरः

१–तैजसः
२–वैश्वानरः } अन्तःसंज्ञाः–द्व्यात्मका जीवाः (मूलानि) भक्तियोगानुगताः

१–वैश्वानरः]- असंज्ञाः–एकात्मका जीवाः (धातवः) कर्म्मयोगानुगताः

——*——

८८–प्रकृतिनिबन्धन-त्रिगुणभाव का विस्तार, एवं भाव-गुण-विकार--सर्गत्रयी--से समन्वित विश्वसर्ग—

प्रकृति के क्रमिक अवतारभावों को लक्ष्य में रख कर ही हमें त्रिगुणभाव की व्याप्ति का विचार करना चाहिए। सत्त्वप्रधान पुरुषानुबन्धी भावसर्ग, रजःप्रधान महामाया--(अक्षरा)--नुबन्धी गुणसर्ग, एवं तमःप्रधान योगमाया--(क्षरा)--नुबन्धी विकारसर्ग, ये तीनों क्रमशः सत्त्वविशाल–रजोविशाल–तमोविशाल-सर्ग हैं। यही मौलिक विश्वसर्ग है। इन तीनों में से भावसर्ग स्वयम्भू–परमेष्ठी से, गुणसर्ग सूर्य्य से, एवं विकारसर्ग चन्द्रगर्भिता पृथिवी से सम्बन्ध रखता है।

८९–सत्त्वविशाल-ससंज्ञसर्ग के त्रिगुणात्मक तीन महिमा-विवर्त्त—

इस तमोविशाल पार्थिवसर्ग के भी सत्त्वविशाल ससंज्ञसर्ग, रजोविशाल अन्तःसंज्ञसर्ग, एवं तमोविशाल असंज्ञसर्ग भेद से तीन विभाग होजाते हैं। इनमें भी प्रत्येक सर्ग तीनों सर्गों से आक्रान्त है। क्रमप्राप्त पहिले सत्त्वविशाल-ससंज्ञसर्ग को ही लीजिए। अष्टविध दिव्य चान्द्रदेवसर्ग सत्त्वविशाल है, मनुष्य सर्ग आन्तरिक्ष्य बनता हुआ रजोविशाल है, एवं पशु-पक्षी-कृमि-कीट, इन चारों की समष्टि पार्थिवप्राण-प्रधान बनती हुई तमोविशाल है।

९०–रजोविशाल–अन्तःसंज्ञसर्ग के त्रिगुणात्मक तीन महिमा-विवर्त्त—

दूसरा रजोविशाल अन्तःसंज्ञसर्ग है। कितने एक पहाड़ी वृक्ष ऐसे हैं कि, यदि कोई प्राणी उनके समीप से निकलता है, तो वे उसीप्रकार अपनी शाखाओं से उसका वेष्टन कर लेते हैं, जैसेकि एक चेतन मनुष्य किसी वस्तु को बाहुपाश से बद्ध कर लेता है। अवश्य ही ऐसे वृक्ष–लतादि ज्ञानप्रधान माने जायँगे। छुई–मुई [लाजवन्ती] के यदि करस्पर्श कर दिया जाता है, तो वह उसीप्रकार नत हो जाती है, जैसेकि एक स्त्री श्वसुरादि के साक्षात्कार से लज्जा से विनम्रमुखी बन जाती है। ऐसे कतिपय अन्तःसंज्ञजीवों को हम अवश्य ही ज्ञानप्रधान मानते हुए सत्त्वविशाल कहेंगे। कमल–सूर्य्यमुखी आदि कतिपय पुष्पों में विकास-

एवं मुकुलित-भावानुबन्धी क्रियाभाव प्रत्यक्ष में देखा जाता है। क्रिया का रजोगुण से सम्बन्ध है। ऐसी दशा में ऐसे अन्तःसंज्ञ जीवों को अवश्य ही 'रजोविशाल' माना जासकता है। वट–पिप्पल–निम्ब–करीर–ताल [खजूर] आदि कर्कशाङ्ग, सर्वथा स्थूणरूप वृक्ष–ओषधि आदि अन्तःसंज्ञ जीवों को अवश्य ही तमोविशाल माना जासकता है।

९१–तमोविशाल-असंज्ञसर्ग के त्रिगुणात्मक तीन महिमा–विवर्त्त—

तीसरा तमोविशाल असंज्ञवर्ग है। चन्द्रकान्त, सूर्य्यकान्त, स्फटिक, वैदूर्य्य, आदि ज्योतिर्घन मणियाँ प्रकाशरूप ज्ञानविकास के सम्बन्ध से सत्त्वविशाल मानी जासकती हैं। रेडियम, फास्फोरस, हीरक, मुक्ता, माणक, पन्ना, नीलम, पुष्पराग [पुखराज], गोमदेक, आदि पदार्थों को सामान्य विकास के सम्बन्ध से रजोविशाल कहा जासकता है। एवं सुवर्ण, रजत, ताम्र, सीसक, काँस्य, पित्तल आदि स्थूल, अप्रकाशित धातुवर्ग को अवश्य ही तमोविशाल माना जासकता है।

९२–सत्त्वविशाल-देवसर्ग के त्रिगुणात्मक तीन महिमा–विवर्त्त

संसज्ञवर्ग के सत्त्वविशाल देवसर्ग को लीजिए। ब्रह्म–प्रजापति का युग्म ज्ञानप्रधान बनता हुआ सत्त्वविशाल है, इन्द्र-पितर का युग्म क्रियाप्रधान बनता हुआ रजोविशाल है, एवं गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पिशाच-चारों अर्थप्रधान बनते हुए तमोविशाल हैं।

९३–रजोविशाल-मानवसर्ग के त्रिगुणात्मक तीन महिमा–विवर्त्त—

ससंज्ञवर्ग के रजोविशाल मनुष्यसर्ग को लीजिए। ब्रह्मवीर्य्ययुक्त, अतएव ज्ञानप्रधान मनुष्य [भारतीय परिभाषा के अनुसार ब्राह्मणवर्ण] सत्त्वविशाल है। क्षत्रवीर्य्ययुक्त, अतएव क्रियाप्रधान मनुष्य [क्षत्रियवर्ण] रजोविशाल है। एवं विड्वीर्य्ययुक्त, अतएव अर्थप्रधान मनुष्य [वैश्यवर्ण] तमोविशाल है।

९४–मानवव्यक्ति-निबन्धन-त्रिगुणात्मक तीन महिमा–विवर्त्त—

केवल मनुष्य का ही विचार कीजिए। ज्ञानशक्तियुक्त शिरोभाग सत्त्वविशाल है, क्रियाशक्तियुक्त हस्त-वक्षस्थल रजोविशाल है, एवं अर्थसंचयाधिष्ठाता उदरभाग तमोविशाल है। अथवा ललाट प्रदेशस्थ शिरोगुहारूप अमृतस्थान ज्ञानात्मक श्वेतवर्ण प्रज्ञान शिव से युक्त होता हुआ सत्त्वविशाल है। हृदयस्थान क्रियाप्रधान रक्तवर्ण ब्रह्मा से युक्त होता हुआ रजोविशाल है। एवं नाभिस्थान अर्थप्रधान, नीलवर्ण विष्णु से युक्त होता हुआ तमोविशाल है। केवल मस्तिष्क को लीजिए। आदित्यात्मक [इन्द्रात्मक] चक्षु ज्ञानप्रधान बनता हुआ सत्त्वविशाल है। वाय्वात्मिका नासिका क्रियाप्रधान बनती हुई रजोविशाल है। एवं अग्न्यात्मक मुख अर्थप्रधान बनता हुआ तमोविशाल है। करणों की दृष्टि से देखिए। ज्ञानाधिष्ठात्री बुद्धि सत्त्वविशाल है, उभयात्मक मन रजोविशाल है, एवं अर्थानुगत इन्द्रियवर्ग तमोविशाल है। खण्डात्मदृष्टि से मनुष्यशरीरगत आत्मविवर्त्त का विचार कीजिए। अव्यक्त-महत् का युग्म ज्ञानप्रधान बनता हुआ सत्त्वविशाल है, विज्ञानात्मा [बुद्धि] क्रियाप्रधान बनता हुआ रजोविशाल है, एवं प्रज्ञानयुक्त प्राणात्मा अर्थासक्त बनता हुआ तमोविशाल है।

६५--भूतसर्गनिबन्धन-त्रिगुणात्मक-विविध महिमा--विवर्तों का स्वरूप-समन्वय—

ससंज्ञवर्ग के तमोविशाल पश्वादिसर्ग की मीमाँसा कीजिए । ज्ञान की विशेष मात्रा से युक्त पक्षी सत्त्वविशाल है, क्रियानुगत पशु मध्यम श्रेणि में प्रतिष्ठित होता हुआ रजोविशाल है, एवं कृमि-कीटवर्ग जड़ समकक्ष बनते हुए तमोविशाल हैं । केवल पक्षियों को लीजिए । स्वर्गीय भेरुण्ड, शुक, सारिका आदि ज्ञानीय पक्षी सत्त्वविशाल हैं, चटक-सारस-तीतर-बाज-बगुला आदि पक्षी रजोविशाल हैं । एवं काक-गृद्ध-चिल्ह आदि पक्षी तमोविशाल हैं । पशुओं को लीजिए । हाथी-अश्व आदि पशु ज्ञानप्रधान बनते हुए सत्त्वविशाल हैं । वृषभ, हरिण, शूकर, सिंह, व्याघ्र आदि पशु क्रियाप्रधान बनते हुए रजोविशाल हैं । एवं गर्दभ-श्वान-शृगाल आदि मूर्ख पशु तमोविशाल हैं । कृमियों को लीजिए । पिपीलिका [चिऊँटी] कीट [कीड़ा] आदि ज्ञानानुगत कृमि सत्त्वविशाल हैं । मत्कुण-ऊर्णनाभि आदि क्रियानुगत कृमि रजोविशाल हैं । एवं कर्द्दम-विष्ठा आदि निकृष्ट पदार्थों को ही अपनी आवासभूमि बनाने वाले स्थूल सूक्ष्म कृमि अर्थानुगत बनते हुए तमोविशाल हैं । कीट विभाग पर दृष्टि डालिए । भ्रमर-पतंग आदि ज्ञानानुगत कीट सत्त्वविशाल हैं । वायुसंचरणशील विविध कीट [क्रियानुगत] रजोविशाल हैं । एवं मशक-मक्षिका आदि अर्थप्रिय कीट तमोविशाल हैं । इसप्रकार ससंज्ञसर्ग के प्रत्येक पर्व में भी तीनों योग व्याप्त होरहे हैं । यही दशा रजोविशाल अन्तःसंज्ञसर्ग, एवं तमोविशाल असंज्ञसर्ग की समझिए । यही नहीं, महतोमहीयान् से आरम्भ कर अणोरणीयान पर्य्यन्त, स्थूलतम से आरम्भ कर सूक्ष्मतम पर्य्यन्त, द्रव्य से आरम्भ कर परमाणु पर्य्यन्त त्रिगुणभावमय त्रियोग व्याप्त है । **ज्ञान-भक्ति-कर्म्म**-युत आत्मा का यह विश्वसर्ग इन स्वाभाविक आत्मसर्गों से कैसे वञ्चित रह सकता है- **'मत्तः परतरं नान्यत किञ्चिदस्ति धनञ्जय'** ! । आगे की तालिकाएँ प्रकृति के इसी त्रिगुणात्मक विस्तार का यशोगान कर रही हैं

१-विश्वावयवेषु योगत्रयोपभोगः—(मौलिकयोगत्रयी)

१—सत्त्वानुबन्धी भावसर्गः [अव्ययकृतः—मानसः—ज्ञानम्—ज्ञानयोगः [सत्त्वविशालसर्गः महद्गर्भितः स्वायम्भुवः]

२—रजोऽनुबन्धी गुणसर्गः [महामायाकृतः—प्राणमयः-क्रिया—भक्तियोगः [रजोविशालसर्गः सौरः]

३—तमोऽनुबन्धी विकारसर्गः[योगमायाकृतः—वाचिकः-अर्थः—कर्म्मयोगः [तमोविशालसर्गः--चन्द्रगर्भितः पार्थिवः]

—*—

२-योगमायानुगतेषु जीवेषु योगत्रयोपभोगः—(विकारसर्गे वा)-(पार्थिवसर्गे वा)

(क)

१—वैश्वानरतैजसप्राज्ञमूर्त्तिर्जीवः—ससंज्ञः—ज्ञानानुगतः [जीवजीवाः] सत्त्वविशालः

२—वैश्वानरतैजसमूर्त्तिर्जीवः——अन्तःसंज्ञः-क्रियानुगतः- [मूलजीवाः] रजोविशालः

३—वैश्वानरमूर्त्तिर्जीवः———असंज्ञः—अर्थानुगतः [धातुजीवाः] तमोविशालः

—*—

(ख)

१—मनः (ज्ञानं)—अव्ययः–सत्त्वं–इन्द्रः [२१]–द्यौः–शिवः–ज्ञानम्
२—प्राणः [क्रिया]–अक्षरः–रजः–वायुः [१५]–अन्त०–ब्रह्मा–भक्तिः
३—वाक् [अर्थः]–क्षरः–तमः–अग्निः [९]–पृथिवी–विष्णुः–कर्म्म

} सर्वज्ञः–इन्द्रः–ज्ञानयोगाधिष्ठाता

—*—

(ग)

१—प्राणः [क्रिया]–अक्षरः–रजः–वायुः [१५] अन्त० ब्रह्मा कर्म्म
२—मनः [ज्ञानं]–अव्ययः–सत्त्वं–इन्द्रः [२१] द्यौः–शिवः–भक्तिः
३—वाक् [अर्थः]–क्षरः–तमः–अग्निः [९] पृथिवी–विष्णुः–ज्ञानम्

} हिरण्यगर्भो वायुः-भक्तियोगाधिष्ठाता

—*—

(घ)

१—वाक् [अर्थः]–क्षरः–तमः–अग्निः [९] पृथिवी-विष्णुः-कर्म्म
२—प्राणः [क्रिया]–अक्षरः–रजः–वायुः [१५] अन्त०-ब्रह्मा-भक्तिः
३—मनः [ज्ञानं]–अव्ययः–सत्त्व-इन्द्रः [२१] द्यौः-शिवः–ज्ञानम्

} विराड्विष्णुः–कर्म्मयोगाधिष्ठाता

—*—

(ङ)

१—सर्वज्ञांशभूताः —वैश्वानरतैजसप्राज्ञलक्षणजीवाः—ससंज्ञाः —ज्ञानिनः
२—हिरण्यगर्भांशभूताः–वैश्वानरतैजसलक्षणजीवाः —अन्तःसंज्ञाः—उपासकाः
३—विराडंशभूताः —वैश्वानरलक्षणाजीवाः —असंज्ञाः —कर्म्मपरतन्त्राः

—*—

३–सत्त्वविशालेषु-ज्ञानयोगानुगतेषु–ससंज्ञेषु योगत्रयोपभोगः—

१—अष्टविकल्पो दैवसर्गः —सत्त्वविशालः—[ज्ञानयोगी]
२—मनुष्यसर्गः —रजोविशालः —[उपासकः]
३—पशु-पक्षि-कृमि-कीट-सर्गः —तमोविशालः —[कर्म्मपरतन्त्रः]

—*—

४-रजोविशालेषु-भक्तियोगानुगतेषु-अन्तःसंज्ञेषु योगत्रयोपभोगः—

१— लाजवन्ती	—चेतनायुक्ताः	—पर्वतीयवृक्षाः	—सत्त्वविशालाः	—ज्ञानिनः
२— कमल	—सूर्य्यमुखी	—आदित्यपुष्पाः	—रजोविशालाः	—उपासकाः
३— वट	—पिप्पल	—तालादिवृक्षाः	—तमोविशालाः	—कर्म्मपरतन्त्राः

\-\-\-\-\-*\-\-\-\-\-

५--तमोविशालेषु-कर्म्मयोगानुगतेषु--असंज्ञेषु--योगत्रयोपभोगः —

१— मणिवर्गः	—सत्त्वविशालः	—ज्ञानी
२—हीरकपन्नकादिवर्गः	—रजोविशालः	—उपासकः
३—सुवर्ण-रजतादिधातुवर्गः	—तमोविशालः	—कर्म्मपरतन्त्रः

*

६-ससंज्ञात्मके-सत्त्वविशाले-ज्ञानयोगानुगते--देवसर्गे योगत्रयोपभोगः—

१—ब्रह्म च प्रजापतिश्च	—सत्त्वविशालौ	—ज्ञानिनौ
२—इन्द्रश्च पितरश्च	—रजोविशालौ	—उपासकौ
३—गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पिशाचाः	—तमोविशालाः	—कर्म्मपरतन्त्राः

\-\-\-\-\-*\-\-\-\-\-

७--ससंज्ञात्मके--रजोविशाले--भक्तियोगानुगते—मनुष्यसर्गे-योगत्रयोपभोगः—

१—ब्रह्मवीर्य्योपेता मनुष्याः	—सत्त्वविशालाः	—ज्ञानिनः
२—क्षत्रवीर्य्योपेता मनुष्याः	—रजोविशालाः	—उपासकाः
३—विड्वीर्य्योपेता मनुष्याः	—तमोविशालाः	—कर्म्मपरतन्त्राः

\-\-\-\-\-*\-\-\-\-\-

८-केवलेषु-मनुष्येष्वेव योगत्रयोपभोगः—

(क)	१—शिरोभागः	—सत्त्वविशालः	—ज्ञानी
	२—हस्तौ, उरश्च	—रजोविशालः	—उपासकः
	३—उदरम्	—तमोविशालः	—कर्म्मपरतन्त्रः

*

(ख)	१—शिरोगुहात्मकममृतस्थानम्	—सत्त्वविशालम्	—ज्ञानी
	२— हृदयस्थानम्	—रजोविशालम्	—उपासकः
	३—नाभिस्थानम्	—तमोविशालम्	—कर्म्मपरतन्त्रः

*

९–केवलमस्तिष्के–एव योगत्रयोपभोगः—

१—इन्द्रात्मकश्चक्षुः —सत्त्वविशालम् —ज्ञानी

२—वाय्वात्मिका नासिका—रजोविशाला —उपासकः

३—अग्न्यात्मकं मुखम् —तमोविशालम् —कर्म्मपरतन्त्रः

—*—

१०–करणेषु योगत्रयोपभोगः—

१—बुद्धिः —सत्त्वविशाला —ज्ञानयोगानुगता

२—मनः —रजोविशालम् —भक्तियोगानुगतम्

३—इन्द्रियाणि–तमोविशालानि —कर्म्मयोगानुगतानि

—*—

११–खण्डात्मवर्गे योगत्रयोपभोगः—

१—महद्गर्भिताव्यक्तात्मा—सत्त्वविशालः—ज्ञानी

२—विज्ञानात्मा —रजोविशालः—उपासकः

३—प्रज्ञानगर्भितप्राणात्मा—तमोविशालः—कर्म्मपरतन्त्रः

—*—

१२–ससंज्ञात्मके तमोविशाले कर्म्मयोगानुगते पश्वादिसर्गे योगत्रयोपभोगः—

१—पक्षिणः—सत्त्वविशालाः—ज्ञानिनः

२—पशवः —रजोविशालः —उपासकः

३—कृमिकीटाः–तमोविशालाः—कर्म्मपरतन्त्राः

—*—

१३–सत्त्वविशालेषु ज्ञानयोगानुगतेषु पक्षिषु योगत्रयोपभोगः—

१—भेरुण्ड–शुक—सारिकादयः—सत्त्वविशालाः—ज्ञानिनः

२—चटक–सारस—बकुलादयः—रजोविशालाः —उपासकाः

३—काकगृद्धादयः — —तमोविशालाः —कर्म्मपरतन्त्राः

—*—

१४–रजोविशालेषु भक्तियोगानुगतेषु पशुषु योगत्रयोपभोगः—

१—गज —तुरगादयः —सत्त्वविशालाः—ज्ञानिनः

२—वृषभ—मृगादयः —रजोविशालाः—उपासकाः

३—गर्द्दभ—श्वानादयः–तमोविशालाः —कर्म्मपरतन्त्राः

—*—

१५–तमोविशालेषु, कर्म्मयोगानुगतेषु कृमिषु योगत्रयोपभोगः—

१—पिपीलिका—कीटादयः —सत्त्वविशालाः—ज्ञानिनः
२—ऊर्णनाभि—मत्कुणादयः–रजोविशालाः—उपासकाः
३—मलिनद्रव्यगताः —तमोविशालाः—कर्म्मपरन्त्राः

——*——

१६–तमोविशालेषु कर्म्मयोगानुगतेषु कीटेषु योगत्रयोपभोगः—

१—भ्रमर—पतंगादयः ——सत्त्वविशालाः—ज्ञानिनः
२—अन्तरिक्षचारिणो विविधाः —रजोविशालाः—उपासकाः
३—मक्षिका–मशकादयः ——तमोविशालाः—कर्म्मपरतन्त्राः

——*——

त्रिगुणात्मिका प्रकृति [योगमाया] क्या करती है ?, इस प्रश्न का प्रतिप्रश्न है–प्रकृति क्या नहीं करती ? । त्रैलोक्य [पार्थिव-द्यावापृथिवी] में जो कुछ "अस्ति" कहने योग्य है, वह सबकुछ अदितिपृथिवीरूपा [चन्द्रगर्भिता] इसी त्रिगुणात्मिका दुरत्यया, दुर्विज्ञेया योगमाया का विस्तार है । अपने सत्त्वानुबन्धी ज्ञान–योग से, रजोऽनुबन्धी भक्तियोग से, एवं तमोऽनुबन्धी कर्म्मयोग से यह सर्वत्र व्याप्त होरही है । इसकी इसी योगात्मिका व्याप्ति से त्रैलोक्य में रहने वाले अचेतन–अर्द्धचेतन–चेतन, सब पदार्थ [प्रत्येक] तीनों योगों से व्याप्त हैं । यह स्वाभाविक ज्ञान–कर्म्म-भक्तियोग के तारतम्य से सर्वत्र सब में व्याप्त है । यही इन तीनों योगों की प्रकृतिसिद्धा * चातुर्वर्ण्यसमा नित्यता है । एवं यही **"योगत्रयी का संक्षिप्त मौलिक विचार"** है ।

'योगत्रयी का मौलिक–विचार' नामक द्वितीय–प्रकरण उपरत

२

——*——

*–**"प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं, संस्कारविशेषाच्च"** ।
––वसिष्ठः

श्रीः

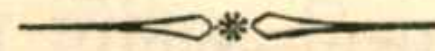
इति-भक्तियोगपरीक्षायां-पूर्वखण्डे—

"योगत्रयी का मौलिक विचार"

नामक

द्वितीय-प्रकरण-उपरत

२



श्रीः

अथ–भक्तियोगपरीक्षायां–पूर्वखण्डे—

"योगत्रयी, और भारतीय महर्षि"

नामक

तृतीय–प्रकरण

३

श्रीः

३–योगत्रयी और भारतीय–महर्षि

१–प्रकृतिसिद्धा-ज्ञान, भक्ति, कर्म्म-योगत्रयी, तीनों योगों का सह-समन्वय, एवं कल्पित ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगों के द्वारा प्रकृतिसिद्धा योगत्रयी की अन्तर्म्मुखता—

द्वितीय-प्रकरणोपवर्णिता प्रकृतिसिद्धा **योगत्रयी** का उन आप्त महर्षियोंनें अपनी योगजदृष्टि से प्रत्यक्ष किया। प्रत्यक्ष कर प्रकृतिसिद्धा वर्णव्यवस्था की भाँति तीनों योगों को प्रकृति के अनुसार वर्णधर्म्मों का अनुगामी बनाते हुए भारतीय-मानव-समाज में इन तीनों योगों को व्यवस्थित किया। ऋषियों के द्वारा व्यवस्थित वे ही प्राकृतिक योग भारतीय-शास्त्र में **ज्ञानयोग-कर्म्मयोग-भक्तियोग**, इन नामों से प्रसिद्ध हुए। तीनों हीं योग सनातन हैं, नित्यसिद्ध हैं। तीनों के सम्बन्ध में यह कल्पना करना कि, **"पहिले कर्म्म-योग का आविष्कार हुआ, अनन्तर भक्तियोग प्रचलित हुआ, सर्वान्त में एकेश्वरवादमूलक ज्ञान-योग का परिज्ञान हुआ"** सर्वथा भ्रान्ति ही मानी जायगी। अपितु जिस देवयुग में **कर्म्मयोग** का आविर्भाव हुआ था, उसी युग में **भक्तियोग**, एवं **ज्ञानयोग** भी विकास की चरमसीमा पर पहुँच चुके थे। हाँ, इस सम्बन्ध में यह तो फिर भी माना जा सकता है कि, **सत्ययुगोपलक्षित देवयुग में ज्ञानयोग की, त्रेतायुगोपलक्षित वैदिकयुग में कर्म्मयोग की, एवं द्वापरयुगोपलक्षित पौराणिकयुग में भक्तियोग की विशेष प्रधानता रही।** आगे जाकर **कलियुगोपलक्षित अन्धयुग** में तीनों हीं योगों का स्वरूप विलुप्त होगया। **ज्ञानयोग का आसन कल्पित अद्वैतवाद ने छीन लिया। कर्म्मयोग का आसन कल्पित, अवैध यज्ञकर्म्मों नें छीन लिया, एवं ज्ञानवैराग्यानुगामी भक्तियोग का आसन अज्ञान-आसक्ति के अनुयायी, नामसंकीर्त्तन-परायण, लोकयशःकामुक वञ्चक भक्तों नें छीन लिया।**

२–'योग' शब्द–व्यवहार का कारणान्वेषण–प्रयास—

जबकि तीनों योग प्रकृतिसिद्ध थे, सहजसिद्ध थे, तो इनके विरुद्ध अपनी कल्पना का समावेश कर तीन शास्त्रीय योगों का आविष्कार क्यों किया गया?, यह भी एक सहज प्रश्न है। '**विष्णुमाया**' नाम से प्रसिद्धा **योगमाया** का स्वरूप बतलाते हुए यह कहा गया है कि, **"योग"** शब्द का अर्थ है - **संगमन, मेल, सम्बन्ध**। अब इस सम्बन्ध में हमें यह विचार करलेना चाहिए कि **ज्ञान, कर्म्म, भक्ति**, इन तीनों के साथ किस का योग (सम्बन्ध) हुआ, जिससे कि ये तीनों प्रकृतितन्त्र "योग" शब्द से व्यवहृत होने लग पड़े?।

३–वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञ–मूर्त्ति शारीरिक भूतात्मा से अनुप्राणित 'योग', और तदनुबन्धिनी योगत्रयी—

मानववर्ग से सम्बन्ध रखने वाली **योगत्रयी** का **पार्थिवसर्ग** से सम्बन्ध है, जैसाकि पूर्वप्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। पार्थिवसर्ग में पार्थिव आत्मा हीं प्रधान है। इसी पार्थिव आत्मा को

सांख्यपरिभाषानुसार **शारीरिक आत्मा** कहा जाता है, मनु के शब्दों में यही कर्म्मकर्त्ता **भूतात्मा है**—"यः करोति तु कर्म्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः" (मनु१२।१२)। इस भूतात्मा की **अर्थप्रधान वैश्वानर, क्रियाप्रधान तैजस, एवं ज्ञानप्रधान प्राज्ञ,** ये तीन कलाएँ हैं। त्रिकल भूतात्मा इन्द्रियों के द्वारा वैश्वानर भाग से भूतानुबन्धी **'अर्थ'** के साथ **'योग'** करता है, तैजसभाग से अर्थानुबन्धी **'कर्म्म'** के साथ **'योग'** करता है, एवं प्राज्ञ भाग से अर्थानुबन्धी **'ज्ञान'** के साथ योग करता है।

४–लौकिक–सामान्य-मानववर्ग के प्रकृत्यनुगत प्राकृत–ज्ञान, भक्ति, कर्म्म–योगों का स्वरूप–दिग्दर्शन—

"प्रत्येक मनुष्य कुछ न कुछ जानता है"—इस वाक्य का यही अर्थ है कि, इसके आत्मा के साथ (प्राज्ञभाग के साथ) भौतिक ज्ञान का योग होरहा है। **यही प्रकृतिसिद्ध ज्ञानयोग है। "प्रत्येक मनुष्य कुछ न कुछ करता रहता है"**—इस वाक्य का यही अर्थ है कि, इसके आत्मा के साथ (तैजस भाग के साथ) भौतिक सम्मुन्नति–लक्षण कर्म्म का योग हो रहा है। **यही प्रकृतिसिद्ध भक्तियोग** है। जानने-ओर-करने से, दूसरे शब्दों में ज्ञानपूर्वक कर्म्म करने से भौतिकी अर्थसम्पत्ति प्राप्त होती है। इस अर्थसम्पत्ति के साथ भी कर्त्ता-ज्ञाता आत्मा का (आत्मा के वैश्वानर भाग का) सम्बन्ध होता है। **यही प्रकृतिसिद्ध कर्म्मयोग है।**

५–प्राणिमात्र से समन्विता लौकिकी-प्राकृतिकी-ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगत्रयी—

मूर्ख से मूर्ख मनुष्य, एवं विद्वान् से विद्वान् मनुष्य, सब में भूतात्मानुगामी प्रकृतिसिद्ध ये तीनों योग व्यवस्थित हैं। जिनका योग होता है, वे हैं **वैषयिक ज्ञान, भौतिक कर्म्म, एवं भौतिक पदार्थ**। जिनके साथ योग होता है, वह है **भूतात्मा, किंवा भूतात्मा की ज्ञानमय--प्राज्ञ, कर्म्ममय--तैजस, एवं अर्थमय वैश्वानर नाम की तीन कलाएँ**। प्रकृतिमूलक, प्रकृतिसिद्ध ये तीनों योग न केवल मनुष्यों में हीं, अपितु प्राणीमात्र में प्रतिष्ठित हैं।

६–मानव के वैय्यक्तिक, एवं पारिवारिक योगक्षेम, तत्संसाधक तीन सामान्ययोग, एवं लौकिक योगत्रयी से अनुप्राणित भोगपरायण मानववर्ग—

ऐसे प्रकृतिसिद्ध तीनों योग केवल **योग-क्षेम** के ही साधन हैं, प्रकृतिसमता के ही आधार हैं। यदि मनुष्य ज्ञानपूर्वक कुछ करता रहेगा, तो अर्थ-प्राप्ति के द्वारा इसकी जीवनयात्रा का सुचारु-रूप से निर्वाह होता रहेगा। ऐसे **ज्ञानी-भक्त** एवं **कर्म्मठ** को अपने लिए, किंवा अपने कुटुम्ब के लिए भरण-पोषण की चिन्ता का विशेष सामना न करना पड़ेगा। एक शिल्पी (कारीगर) ज्ञानपूर्वक प्रासाद-निर्म्माण का काम करता है, अर्थप्राप्ति होती है। उसके द्वारा यह अपने भूतात्मा का भी भरण पोषण करता है, एवं अपने कुटुम्ब का भी पालन करता है। यदि वह प्रकृतिसिद्ध इन तीनों तन्त्रों का परित्याग करता हुआ, अकर्मण्य बन जायगा, तो अन्नमय इसका भूतात्मा भी सुरक्षित न रहेगा, एवं साथ ही यह कुटुम्ब-कलह का भी कारण बन जायगा। तात्पर्य्य यही हुआ कि, **भूतात्मा**, भूतात्मा से सम्बद्ध **शरीर**, एवं भूतात्मा-सम्बन्धी **पुत्र-स्त्री-बन्धुवर्ग**, आदि की जीवनयात्रा को लक्ष्य में रखते हुए, इनकी रक्षा के लिए भौतिक-प्राकृतिक

ज्ञान-कर्म्म-अर्थों की ओर अपने भूतात्मा को झुकाते हुए, **भोजन के लिए आत्मसमर्पण करते हुए,** परसिद्धान्त के अनुसार "**खाना-पीना-मौज उड़ाना**" इस आदर्श ? का अनुगमन करते हुए, **लौकिक ज्ञान-लौकिक कर्म्म,** एवं **लौकिक अर्थों** का अपने भूतात्मा के साथ योग करा देना ही प्रकृतिसिद्ध–**ज्ञान-भक्ति-कर्म्म–योग** हैं। इन सहजसिद्ध योगों का अनुगामी बनता हुआ **शारीरक भूतात्मा बहिर्जगत् का ही उपासक बन रहा है।**

७–बहिर्योगत्रयी से समन्वित भूतात्मा की प्रत्यगात्मानुबन्धिनी योगत्रयी से पराङ्-मुखता, एवं आत्मयोगत्रयी से वञ्चित कामभोगात्मक-बहिर्योग से समन्वित मानव की अशान्ति के मूलकारणान्वेषण का प्रयास—

शारीरिक आत्मा में जहाँ भी कहीं से **ज्ञान-कर्म्म-अर्थ** की मात्राएँ आई हैं, जिनके अंशानुमन से कि शारीरक भूतात्मा **ज्ञान-कर्म्म-अर्थ**-मय बना हुआ है, उन पर [ईश्वराव्ययप्रदत्ता]–मात्राओं से कृतमूर्त्ति भूतात्मा बहिरङ्ग जगत् के **ज्ञान-कर्म्म-अर्थो** के साथ जहाँ युक्त है, वहाँ उस **'परसम्पत्ति' [आत्मसम्पत्ति]** से वियुक्त है। अंशीरूप-'**परमात्मा**' "**प्रत्यगात्मा**" कहलाता है। इसीके अंश से देहाभिमानी शारीरिक भूतात्मा का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है। क्योंकि योगमाया क्षरानुबन्धिनी है, उधर स्वयं भूतात्मा भी (मनुष्य-सर्ग भी) क्षरानुबन्धी है, एवं बहिर्जगत् भी भूतप्रधान बनता हुआ क्षरानुबन्धी ही है, अतएव क्षरप्रपञ्च में स्वभावतः आसक्त [**'प्रवृत्तिरेषा-भूतानाम्'**] भूतात्मा उस क्षरातीत प्रत्यगात्मा के योग से, किंवा प्रत्यगात्म-सम्बन्धी—**अनासक्त ज्ञान-कर्म्म-अर्थों के योग** से तो वञ्चित रहता है, एवं क्षरप्रधान बाह्यजगत् के प्राकृतिक [क्षरानुबन्धी], किंवा योगमायानुबन्धी ज्ञान-कर्म-अर्थ-प्रपञ्चों के साथ युक्त रहता है। यही बाह्ययोग [उदरपोषण का साधक बनता हुआ भी, वैषयिक क्षणिक सुखों का उत्तेजक बनता हुआ भी] इसकी अशान्ति का ही मूलकारण प्रमाणित होजाता है।

८–पशुसर्गानुगता पशव्या योगत्रयी के साथ प्राकृत मानवसर्गानुगता मानुषी-योगत्रयी का सह समतुलन, एवं इस की आत्यन्तिकी भयावहता—

प्राकृतिक–योगत्रयी की दृष्टि से **मनुष्य,** और **पशु,** दोनों समधरातल पर ही प्रतिष्ठित हैं। **पशु भी प्राकृतिक-योगत्रयी का अनुगमन करता हुआ जीवनयात्रा का निर्वाह कर ही लेता है, उधर मनुष्य भी प्राकृतिक-योगत्रयी का अनुगमन करता हुआ जीवितमात्र तो रह ही सकता है। वह सींग पूँछ वाला पशु है, तो यह बिना सींग पूँछ का पशु है।** ऐसी योगत्रयी से न इसके आत्मानुगामी ज्ञान का विकास होता, न कर्म्म का विकास होता, एवं न अर्थ का। होता भी है,—तो उस **ज्ञान** का, जो कि ज्ञान-क्षणिक **विज्ञान** का बाना पहिनता हुआ मानवसमाज की शान्ति का मूलोच्छेदक ही है, उस **कर्म्म** का, जो मानव की वासनाओं को उत्तेजित ही करने वाला है, एवं उस **अर्थ** का, जो कि आत्मस्थिरता का भञ्जक ही है। इस दृष्टि से तो यह **मानुषी–योगत्रयी पशव्या–योगत्रयी** से भी कहीं भयानक बन जाती है।

९–सीमित योगक्षेमानुगत पशुसर्ग की प्राकृतिक तुष्टि, एवं तत्समतुलन में कामासक्तिमय मानव को प्रवृद्धा योगक्षेमवासना, तथा तन्निबन्धन प्रवृद्धतम इसका क्षोभ—

कारण–पशुओं का भूतात्मा सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है, अपितु वह नियतिचक्र का अनुगामी है। अतएव उसके ज्ञान-कर्म्म-अर्थ-भूतानुगामी बनते हुए भी वहींतक सीमित रहते हैं, जहाँतक कि उसका योग-क्षेम-पर्य्याप्त बना रहता है। इधर ज्ञानस्वातन्त्र्य से समन्वित मनुष्य ज्ञान का दुरुपयोग करता हुआ योग-क्षेम मर्य्यादा का भी अतिक्रमण कर जाता है। प्रकृति इसे जितना देना चाहती है, आसक्तिवश इसकी यह भूख आर भी बढ़ जाती है। और यों "जस जस सुरसा वदन बढ़ावा" किंवदन्ती सर्वात्मना चरितार्थ होजाती है। कहना न होगा कि, पृथिवीमण्डल के समस्त मनुष्य प्रकृतिसिद्ध इन्हीं तीनों योगों के अनुगामी हैं। और यही योगानुगमन मानव की अशान्ति का मूल कारण है।

१०–'वदतोव्याघात' न्यायमूला एक विप्रतिपत्ति, एवं प्रकृतियोग, तथा पुरुषयोग के व्यवच्छेद-माध्यम से विप्रतिपत्ति का समन्वय-प्रयास—

यह वदतो-व्याघात कैसा ?। द्वितीय प्रकरण में प्रकृति के स्वरूप का उपक्रम करते हुए हमने यह कहा है कि, प्रकृति के अनुसार चलने में ही आनन्द है, शान्ति है। आज ठीक इसके विपरीत यह कहा जारहा है कि, **प्रकृतिसिद्धा योगत्रयी तो पशुधर्म्म है, अशान्ति की जननी है**। दुरत्यया प्रकृति यदि वदतो-व्याघात करने के लिए हमें विवश करे, तो इसमें हमारा क्या दोष ?। **प्रकृति का अनुगमन सर्वथा शान्तिकर, किन्तु प्रकृति का ही अनुगमन सर्वथा अशान्ति कर**। यदि हमारा भूतात्मा योग–क्षेम-निर्वाह के लिए प्रकृतिसिद्ध योगों का अनुगमन करता हुआ **प्रत्यगात्मधर्म्मों** [**पुरुषधर्म्मों**] के साथ भी युक्त रहता है, तो इसे **समत्त्वसम्पत्ति** भी प्राप्त होजाती है। दोनों ओर से भार का समतुलन होजाता है। "**प्रकृतिसिद्ध-योग शान्तिकर है**" इस वाक्य का अर्थ है—'**पुरुषयोगानुबन्धी प्रकृतिसिद्ध योग**'। यदि केवल प्रकृति का ही योग है,-तो अवश्य ही महद्भय उपस्थित है। अपने लिए ही महद्भय नहीं, अपितु अपने साथ साथ जगत् का भी विनाश है। पशु जहाँ अपने तन्त्र से प्रकृति के अनुगामी रहते हैं, वहाँ पर तन्त्र से नियन्त्रित रहते हुए पुरुषयोग से भी एकान्ततः वञ्चित नहीं रहते हैं। अतएव विशुद्ध प्रकृतितन्त्रानुयायी मनुष्य की अपेक्षा पशु प्रकृत्यैव तुष्ट रहते हैं। उधर उस मनुष्य की अपेक्षा, जो केवल पशुधर्म्मवत् योगक्षेम पर ही अपने योगों को विश्रान्त कर देता है, वे मनुष्य अधिक अशान्त रहते हैं, जो कि योग-क्षेम–मर्य्यादा का अतिक्रमण कर अपने वासनाजगत् को निःसीमरूपेण उद्दीप्त कर लेते हैं। योगक्षेमानुगामी श्रमिक (मजदूर) रूखा-सूखा खाकर भी सुखी है, किन्तु अर्थकामुक श्रीमन्त षट्त्रिंशत् व्यञ्जन-प्रसाद करता हुआ भी क्लान्त है, इस सर्वानुभूत सिद्धान्त का कौन विरोध कर सकता है ?।

११–अव्ययपुरुषप्रधान ईश्वर, अक्षरप्रकृतिप्रधान जीव (मानव), क्षरविकृतिप्रधान जगत्, एवं विश्वमायात्मिका योगमाया का सहज आकर्षण—

तात्पर्य्य कहने का यही हुआ कि, प्रकृति का वही योगानुगमन शान्तिकर है, जिसमें पुरुषयोग समाविष्ट हो। पुरुषयोग से वञ्चित प्रकृतियोग क्यों अशान्ति का कारण बन जाता है ?, इस प्रश्न के समाधान

का भी समन्वय कर लीजिए। योगमाया ही यहाँ **प्रकृति** शब्द से ग्राह्य है। योगमाया क्षरप्रधाना है। एवं यही भूतसर्ग की अधिष्ठात्री है। स्वयं भूतात्मा महामायानुबन्धी बनता हुआ अक्षरप्रधान है, एवं प्रत्यगात्मा अव्ययप्रधान है। **अव्ययप्रधान प्रत्यगात्मा (आध्यात्मिक) ईश्वर है, अक्षरप्रधान शारीरिक आत्मा जीव है, एवं क्षरप्रधान विश्व जगत् है।** योगमाया क्योंकि क्षरप्रधाना है, एवं इसीके गर्भ में अक्षर-प्रधान जीव का जन्म होता है, अतएव वह विशेषतः योगमाया से आकर्षित होता हुआ तद्रूप भौतिक वर्गों का ही अनुगामी बना रहता है।

१२-पुरुष-प्रकृति-निबन्धन भूमानन्द का तारतम्य, तन्निबन्धन शान्ति-सुख तारतम्य, एवं प्रकृतियोग के क्षेत्र में शान्ति का अत्यन्ताभाव—

यह भी सिद्ध विषय है कि, अव्यय के द्वारा अक्षर में पुरुषप्रकाश का आगमन हुआ है, एवं अक्षर के द्वारा क्षर में। इसी द्वार-सम्बन्ध से यह भी निश्चित है कि, अव्ययप्रधान प्रत्यगात्मा की अपेक्षा अक्षर-प्रधान शारीरक आत्मा में प्रकाश अल्प है, इसकी अपेक्षा मनोयुक्त इन्द्रियवर्ग में कम है, एवं तदपेक्षया क्षरप्रधान विश्व में कम है। आनन्दलक्षणा तृप्ति का भूमाभाव से ही सम्बन्ध है। उधर योगमायानुबन्धी भौतिक वर्ग की अपेक्षा भूतात्मा स्वयं भूमामय है। ऐसी दशा में इसकी तृप्ति वही आनन्द कर सकता है, जो कि इसकी अपेक्षा भूमाभावापन्न हो। भौतिक पदार्थों में उस भूमा का अभाव है-"**नामृतत्त्वस्य तु-आशा-स्ति वित्तेन**"। परिणामतः अभिलषित आनन्द न मिलने से विशुद्ध प्रकृतियोगों के अनुगामी को कभी शान्ति नहीं मिल सकती।

१३-सहज-शान्ति-प्राप्ति से अनुप्राणित पुरुषानुबन्धी 'योग', सहज-शान्ति-विघातक प्रकृत्यनुबन्धी 'अयोगात्मक-योग', एवं दोनों का तारतम्य—

शान्ति मिले कब, जबकि जीवनमात्र-निर्वाह के लिए आवश्यक योगक्षेममात्रार्थ प्रकृतिसिद्ध योगत्रयी का अनुगमन करता हुआ भूतात्मा पुरुषसिद्धा (प्रत्यगात्मसिद्धा) योगत्रयी में प्रतिष्ठित रहे। पुरुषसिद्धा योग-त्रयी ही **समाधि है**, इसमें प्रतिष्ठित योगी ही प्रकृतिसिद्ध योगत्रयी का अनुगमन करता हुआ ऐहलौकिक अभ्यु-दय के साथ साथ पारलौकिक शाश्वत भूमानन्द (निःश्रेयस) का भी अधिकारी बनता हुआ **निर्योगक्षेम-आत्मवान्** बन जाता है। क्योंकि विशुद्ध प्राकृतिक-योगत्रयी केवल भौतिक-सम्पत्ति की अभिवृद्धि का कारण बनती हुई, भूतात्मा को अपनी ओर आकर्षित करती हुई उसे प्रत्यगात्मयोग से वञ्चित कर देती है, अतएव इस योग को हम "**अयोग**" ही कहेंगे, जिसके कि अनुगामी सम्पूर्ण प्राकृत विश्व, एवं तदात्मक यच्चयावत् प्राकृत मानव बने हुए हैं।

१४-आत्मस्वरूप के साक्षात्कारकर्त्ता महर्षियों के द्वारा दृष्टा, व्यवस्थिता पुरुषयोगत्रयी, तदनुगामी भारतवर्ष, एवं शेष का शेषभूतत्त्व—

आत्मसाक्षात्कार करने वाले महर्षियोंनें इस विप्रतिपत्ति का अनुभव किया। और इसके निराकरण के लिए ही प्रकृतिसिद्धा योगत्रयी के आधार पर **पुरुषानुगामी तीन योगों** का आविष्कार किया। इस

आविष्कार का, अविष्कार के प्रचार का, प्रचार के अनुगमन का एकमात्र श्रेय मिला आविष्कर्त्ता-भारतीय महर्षियों को, मन्वादि धर्म्माचार्य्यों को, एवं तदनुगामिनी भारतीय-वर्णाश्रम--धर्म्मानुगता प्रजा को। इसी वैशिष्ट्य से यह आविष्कार एकमात्र भारतवर्ष की ही प्रातिस्विक सम्पत्ति बन गया। शेष देश 'शेषकोटि' में रहते हुए-"**तत्रैवावलम्बितो वेताल:**" की सूक्ति को चरितार्थ करने वाले ही बने रह गए।

१५-अंशी प्रत्यगात्मा, एवं अंश भूतात्मा के ज्ञान-क्रिया-अर्थ-पर्वों का योगात्मक-'योग', तथा तन्निबन्धना ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-रूपा 'पुरुषयोगत्रयी'-का स्वरूप-समन्वय—

ज्ञान-कर्म्म-अर्थ-घन जिस प्रत्यगात्मा का शारीरिक आत्मा (मानवीय भूतात्मा) अंश है, अंशात्मिका उन ज्ञान-कर्म्म-अर्थ-मात्राओंक। अंशी की घनात्मिका ज्ञान-कर्म्म-अर्थ-कलाओं के साथ योग-होजाना हीं व्यावहारिक (शास्त्रमूलक व्यावहारिक, अतएव इस दृष्टि से पारमार्थिक) ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-योग है। दूसरे शब्दों में-**प्रत्यगात्मा और शारीरक के ज्ञानों का योग ही ज्ञानयोग है, कर्म्मों का योग ही भक्तियोग है, एवं अर्थों का योग ही कर्म्मयोग है**। इन योगो की साधनभूता प्रक्रियाएँ भी आगे जाकर ताच्छब्द्यन्याय से 'योग' नाम से ही प्रसिद्ध होगई हैं। **वस्तुतः योग सिद्ध पदार्थ है**। सिद्धयोग के साधन के लिए, दूसरे शब्दों में योगविभूति प्राप्त करने के लिए जिन साधनों का अनुगमन किया जाता है, वे साधन भी 'योग' नाम से हीं प्रसिद्ध हैं। आज वे साधन हीं सर्वसाधारण में **'योग'** नाम से प्रसिद्ध होरहे हैं। परन्तु योगतत्त्व की मीमांसा करते हुए हमें यह नहीं भुला देना चाहिए कि-**ज्ञान-भक्ति-कर्म्म**, तीनों हीं **योग नित्य हैं, सिद्ध हैं**। अंशी का अंश के साथ, किंवा अंश का अंशी के साथ कभी योग न रहे, यह सर्वथा असम्भव है। हाँ, अंशात्मा अपने प्रज्ञापराध से संस्कारावरण को लेकर इस सिद्धयोगविभूति को मलिन अवश्य ही बना लेता है। इस मलिनता का प्रभाव भी अंश पर ही होता है। अंशी तो फिर भी निर्लेप ही रहता है। **पुरुष** का पुरुषार्थ यही है कि वह उपायविशेषों से आवरण को हटा दे। आवरण के हटाते ही **सिद्धयोगविभूति** का उदय होजायगा, एवं शारीरक आत्मा प्रत्यगात्मानुग्रह प्राप्त करता हुआ पूर्ण बन जायगा। अल्पता की आत्यन्तिक उत्क्रान्ति होजायगी, एवं नित्य भूमानन्द अभिव्यक्त होपड़ेगा।

१६-गीताशास्त्र की योगत्रयी के सम्बन्ध में पिष्टपेषणात्मिका महती विप्रपत्ति—

योगप्रेमी पाठक यह प्रश्न करेंगे कि, योगत्रयी अनादि है, एवं इसके अनुगमन से पुरुष का पुरुषार्थ सिद्ध होजाता है। फिर गीताने इन के सम्बन्ध में पिष्टपेषण के अतिरिक्त और क्या बतालाया ?। प्रश्न का समाधान पूर्वप्रकरणों में कई प्रकार से किया जाचुका है। यहाँ भी प्रकरणसङ्गति के लिए दो अक्षर कह देना अनुचित न होगा।

१७-ज्ञानयोगवादी सांख्यों का कल्पित अद्वैतवादमूलक कर्म्मत्यागात्मक कल्पित ज्ञानयोग, और उसकी आपातरमणीयता—

प्रकृतिसिद्धा योगत्रयी को बन्धन का कारण मानने वाले संशोधकोंनें रोग की चिकित्सा के साथ साथ रोगी की भी चिकित्सा कर डाली। सबसे पहिले **ज्ञानयोगवादी सांख्यों** को ही लीजिए। उन्होंनें यह समझा कि, ज्ञान एक पवित्र वस्तु है, एवं यही एकमात्र आत्मा का स्वरूपधर्म्म है। सांसारिक क्षर भौतिक अर्थोंनें, एवं

भौतिक कर्म्मोंनें हीं पवित्र ज्ञानात्मा को मलिन कर रक्खा है। ऐसी दशा में भूतात्मा को जबतक कर्म्मार्थप्रपञ्चों से पृथक् नहीं कर दिया जायगा, तबतक बन्धविमोक असम्भव है। एकमात्र इसी हेत्वाभास को आगे करते हुए कपिल ने कर्म्म का खण्डन करते हुए विशुद्ध ज्ञानानुष्ठान का ही आदेश दे डाला। इसप्रकार व्यक्त **कर्म्मवाद से विरहिता सांख्यनिष्ठा विशुद्ध अव्यक्तरूप में ही परिणत होगई**। इस निष्ठा में योग--क्षेम की भी सर्वथा उपेक्षा ही की गई।

१८-कर्म्मयोगवादी कर्म्मठों का कामनामय काम्य-कर्म्मयोग, एवं उसकी निस्सारता, तथा भक्तियोगवादी भक्तों के काम्य भक्तियोग का दिग्दर्शन—

कर्म्मयोगियोंनें यह सिद्धान्त स्थापित किया कि, जगदीश्वर ने कर्म्म के द्वारा ही यह लोकवैभव प्राप्त कर रक्खा है, तो हम भी इसकी कामना क्यों न करैं ?। इसी **कामना को, फलासक्ति** को आगे करते हुए उन्होंनें विशुद्ध व्यक्त--कर्म्ममार्ग की ही श्रेष्ठता स्वीकार की। एतदतिरिक्त एक ऐसा मध्यम वर्ग अभिव्यक्त होगड़ा, जिसने कर्म्म को भी छोड़ना ठीक न समझा, एवं ज्ञानमूर्त्ति ईश्वर की उपेक्षा भी इस से सह्य न हुई। फलतः इस मध्यम वर्ग ने अपना यह किश्चय प्रकट किया कि, **कर्म्म करो, परन्तु ईश्वरार्प्पणबुद्धि से**। ऐसा करने से तुम्हें कर्म्म का फल भी मिल जायगा (क्योंकि कर्म्म कभी निरर्थक नहीं जाता), एवं ईच्छा क्योंकि ईश्वर की रहेगी, तुम केवल निमित्तमात्र रहोगे, अतएव कर्म्मजनित--संस्कारलेप का भी तुम पर कोई प्रभाव न होगा। इस ईश्वरानुग्रह से ही तुम्हारे सम्पूर्ण पाप पलायित हो जायँगे--**"अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच !"**।

१९-कपिलसम्मता ज्ञानभावुकता, हिरण्यगर्भसम्मता भक्तिभावुकता, एवं स्वयम्भुसम्मता कर्म्मभावुकता का स्वरूप-दिग्दर्शन, तथा समत्वमूला-बुद्धियोगान्विता ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगनिष्ठाओं का पावन संस्मरण—

कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग, कामफलासक्तिलक्षण कर्म्मयोग, एवं ईश्वरानुग्रहप्राप्ति-प्राकाम्य-लक्षण भक्तियोग, ये तीनों योग कहने को अवश्य ही प्रत्यगात्मा के अनुगामी बन गए। परन्तु वास्तविक-दृष्टि से विचार किया जाता है, तो इनका आसन उन तीनों योगों के समधरातल पर ही प्रतिष्ठित मानना पड़ेगा, जो कि तीनों योग विशुद्ध प्रकृति के अनुगामी बनते हुए योगक्षेम के साधक माने गए हैं। **अव्यक्त प्रकृति (अक्षर) ज्ञानप्रधाना है, व्यक्त प्रकृति (क्षर) कर्म्मप्रधाना है**। एक में ज्ञानप्रधान, एवं कर्म्म-गौण है, एक में कर्म्म प्रधान, तथा ज्ञान गौण है। फलतः विषमभावयुक्त दोनों हीं योग समत्वमूलक प्रत्यगात्मा (अव्यय) की समता से तो सर्वथा ही वञ्चित हैं। भक्तियोग मध्यममार्ग बनता हुआ यद्यपि **'सम'** है, परन्तु ईश्वरानुग्रह--प्राप्ति--कामना के बीज से यह भी **विषम** ही बना हुआ है। इसप्रकार **भूतानुगामी लौकिक ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-यदि विशुद्ध क्षर के (योगमाया के) अनुगामी बनते हुए विषम हैं, तो लोकप्रचलित कपिल-हिरण्यगर्भ-स्वयम्भू- सम्मत शास्त्रीय ज्ञान--भक्ति--कर्म्मयोग--अक्षरानुगामी बनते हुए विषम हैं। समता का एकमात्र अध्यक्ष है-प्रत्यगात्मलक्षण ईश्वराव्यय**। बिना उसके योग के तीनों शास्त्रीय योग भी अयोग ही हैं। कपिल ने अव्यय को तटस्थ समझ कर ही अपने ज्ञानयोग को भ्रान्त बनाया। हिरण्यगर्भ ने त्रिगुणमाया से समन्वित सगुणेश्वर के कारण भ्रान्ति की। एवं स्वयम्भू का कर्म्म-

योग कामना के द्वारा विकृत बना दिया गया। भगवान्‌ने तीनों का संशोधन किया, और उस संशोधन की मूलप्रतिष्ठा बना एकमात्र **अव्ययपुरुष, तथा बुद्धियोग**। **बुद्धियोग-सम्पत्ति से युक्त, अव्ययानुगामी, अतएव कर्म्मपरिग्रहलक्षण ज्ञानयोग ही वास्तविक ज्ञानयोग माना गया, कामनात्यागलक्षण कर्म्मयोग ही वास्तविक कर्म्मयोग माना गया, एवं निष्कामभावयुक्त भक्तियोग ही वास्तविक भक्तियोग माना गया,** जैसाकि **पूर्वखण्डानुगत-ज्ञानयोगपरीक्षा-प्रकरण में** विस्तार से बतलाया जाचुका है।

२०-अभ्युदय-निःश्रेयस-संसाधक 'गीताओं' का ब्रह्मर्षियों, एवं विशेषतः राजर्षियों के द्वारा आविष्कार, तथा गीतायोगानुबन्धी 'निष्कामभाव' का संस्मरण—

इस प्रकार प्रकृतिसिद्धा योगत्रयी के आधार पर भारतीय **ब्रह्मर्षियों के द्वारा**, विशेषतः **राजर्षियों के द्वारा** मानव-समाज के अभ्युदय--निःश्रेयस् के लिए अधिकारभेद से तीन योगों का आविष्कार हुआ। ये ही तीन योग मानव--समाज के अभ्युदय, एवं निःश्रेयस् के कारण बने। बुद्धियोग के समावेश से शास्त्रमर्य्यादा की रक्षा के साथ साथ इन योगों में लोकसंग्रह का भी सर्वात्मना समावेश होगया। वर्णधर्म्मात्मक कर्त्तव्यकर्म्म को ही **'स्वधर्म्म'** का स्थान दिया गया। शास्त्रीय **ज्ञान-भक्ति-कर्म्म**-योगों को सर्वोच्च आसन प्रदान किया गया। एवं इन सभी विवर्त्तों की आधारभूमि माना गया एकमात्र **निष्कामभाव**। जिन कर्म्मों से लोकसंग्रह सुरक्षित रहता है, यदि वे वर्णधर्म्म के विरोधी भी हैं, तब भी उन का आदर किया गया, किन्तु अपवादरूप से, परिस्थितियों की दिग्देशकालानुगता--समता--विषमता के तारतम्यानुपात से।

२१-वर्णाश्रमधर्म्मानुगता ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगत्रयी का ही सर्वतः श्रेयोपथत्त्व, एवं युगधर्म्मानुबन्ध से वर्णाश्रमधर्म्म का शैथिल्य—

सर्वतः श्रेयोपथ तो यही है कि, प्रत्येक वर्ण अपने अपने **वर्णधर्म्म** का अनुगमन करता हुआ **शास्त्रसिद्ध-ज्ञान-कर्म्म-भक्ति**, इन तीनों मे से किसी एक का ही अनुगमन करे। परन्तु युगधर्म्मों का परिवर्त्तन भी (शास्त्र के कथनानुसार ही) सहज लोकधर्म्म बन जाता है। शास्त्र ही हमें यह भी कहते हैं कि, कलियुग में वर्णधर्म्म शिथिल होजायगा, वर्णधर्म्म पर आरूढ रहना मानव--समाज के लिए कठिन होजायगा। इस का यह तात्पर्य्य तो नहीं है कि, हम स्वयं हीं युगधर्म्म के उत्तेजक बनते हुए वर्णधर्म्म के विरोधी बन बैठें। किंवा वर्णधर्म्म-प्रतिपादक शाश्वत धर्म्मगोप्ता शास्त्रों की निन्दा करते रहैं, किंवा उन्हें असामयिक बतलाते हुए उन के विरुद्ध विष-वमन किया करैं।

२२-सनातन ईश्वर-प्रजापति के सनातन विश्व की सनातन--लोकविभूतियाँ--

शास्त्रों की निर्भ्रान्तता, प्रामाणिकता, अतएव उपादेयता नित्यसिद्धा है। कोईसा भी युग हो, शास्त्रादेशानुसार वर्णधर्म्म-मूलक कर्त्तव्यकर्म्म पर आरूढ रहना अभ्युदय का ही कारण माना जायगा। परिवर्त्तनशीला क्षरप्रकृति प्रतिक्षण नवीन नवीन रूप धारण करती हुई हमारे सामने आती रहती है। इसीलिए संसार को परिवर्त्तनशील माना गया है। प्रकृति के इस सहजसिद्ध परिवर्त्तन के साथ साथ अपरिवर्त्तनीय भावों की भी उपेक्षा नहीं की जासकती। प्रकृति के **इन्द्र-वायु-अग्नि-जल-प्रकाश-विद्युत्-सोम** आदि आदि

जो भी तत्त्व सृष्टि के आरम्भ में जैसे थे, आज भी ज्यों के त्यों विद्यमान हैं। अतीत में उन से जो कर्म्म होता था, आज भी वही कर्म्म होरहा है। इसीप्रकार **जौ--गेंहू--चाँवल--उर्द--मूँग आदि ओषधियाँ. आम्र--केला नारङ्गी आदि वनस्पतियाँ**, ओर ओर भी धातुवर्ग जैसे पहिले थे, आज भी हैं। **मनुष्य** पशु---पक्षी---आदि के स्वरूपों का संघठन जैसे हजारों वर्ष पहिले था, आज भी है।

२३--प्रकृतिपरिवर्त्तनात्मक युगधर्म्म से अनुप्राणिता--परिवर्त्तन--भ्रान्ति, भ्रान्तिमूलक विसंवाद, एवं परिवर्त्तनवादियों के काल्पनिक-परिवर्त्तन के सम्बन्ध में नैष्ठिक--मानव का उद्बोधनसूत्र--

'प्रकृतिपरिवर्त्तनात्मक' जिस **युगधर्म्म** शब्द को आगे कर कुछ एक बुद्धिवादी शास्त्र-परिवर्त्तन की जिज्ञासा प्रकट करते हैं, साथ ही इसी हेत्वाभास को आगे कर प्रकृतिरहस्यानभिज्ञ जो महानुभाव वर्त्तमानयुग के लिए शास्त्रों की अनुपादेयता सिद्ध करने में हीं प्राणपण से प्रयत्नशील बने हुए हैं, क्या उनका यह प्रयत्न सर्वथा आपातरमणीय ही नहीं हैं ?। पीने के लिए वही पानी, भोजन के लिए वही अन्न, भोक्ता वही आत्मा, भोगसाधन वे ही इन्द्रियाँ। क्या उन्होंने इन में परिवर्त्तन की चेष्टा की है ?। परिवर्त्तन के पक्षपाती उन महानुभावों से हम पूँछते हैं कि, क्यों नहीं वे उस ईश्वर को ही बदल देते, जो कि आज बहुत पुराना हो-गया है ?। क्यों नहीं उस विश्व का ही कायाकल्प कर डालते, जिसमें **सूर्य्य--चन्द्र--ग्रह--नक्षत्रादि** अवयव यथास्थान व्यवस्थित रहते हुए आजतक उसी ढचरे पर चले आरहे हैं ?। क्यों नहीं उन वेदों के स्थान में नए वेद बना डालते, जब पुराने वेदों की भाषा आज के संघर्षशून्य, अतएव अनुकूलताप्रेमी मानव के लिए अत्यन्त क्लिष्ट, अतएव अनुपयुक्त है ?। क्यों नहीं प्रचलित भाषा में, छोटे छोटे वाक्यों के संग्रहरूप नवीन ही वेद बना दिए जाते ?। और फिर उन्हें **मनुष्य**, मनुष्यों में भी **भारतीय**, भारतीयों में भी **द्विजातिवर्ग**, ही अपना प्रातिस्विक-दायाद (मौरूसी जायदाद) समझें, इस की भी क्या आवश्यकता ?। वेद यदि ईश्वरीय ज्ञान है, तो उस का क्यों नहीं समानरूप से मनुष्यमात्र को अधिकार ?। न, न, पशुओंने क्या अपराध किया है। क्यों नहीं **चतुष्पदान्त-जनता** वेदभाषा में ही बात चीत करें ?। क्यों नहीं जौ--गेंहू के स्थान में पाषाणादि को ही अन्न बना लिया जाय ?। पानी के स्थान में अग्निपान ही क्यों न किया जाय ?। क्या ये सब ताण्डवनृत्य सम्भव हैं ?। यदि नहीं, तो शास्त्रों में भी परिवर्त्तन असम्भव है। फलतः उन मञ्चों पर वेतालनृत्य करने वाले परिवर्त्तनवादियों के उद्गार भी सर्वथैव निरर्थक हैं। प्रक्रान्त--युगधर्म्माभिनिविष्टों की इत्थंभूता भावुकता--पूर्णा मान्यताओं का चित्रण करते हुए ही नैष्ठिक मानव के मुख से ये उद्गार अभिव्यक्त हो ही तो पड़ते हैं कि---

स्यादन्यः परमेश्वरः, स हि नवं ब्रह्माण्डमुत्पादयेत् ।
तत्राप्युल्वणवाच्य--वाचक-गुणान्-वेदान् समुल्लासयेत् ॥
तान्-विन्देत चतुष्पदान्तजनन्ता, चेष्टेत साप्युत्पथम् ।
तर्ह्येवाद्य सभाजुषां हि हृदयोद्गारोऽपि पारं नयेत् ॥

२४–अपरिवर्त्तनीय अक्षर से नियन्त्रित परिवर्त्तनशील क्षर के परिवर्त्तनों का भी अपरिवर्त्तनत्व, एवं सनातन ईश्वर के निःश्वासभूत शास्त्र का सनातनत्व—

अक्षरानुगामी अपरिवर्त्तनीय-भावों के साथ रहने वाला क्षरानुगामी परिवर्त्तन ही **वास्तविक परिवर्त्तन है**। मूलप्रकृति को गर्भ में रखती हुई ही विकृति अपने स्वरूप को सुरक्षित रखने में समर्थ है। जबतक स्थिति को प्रवाहरूपा गति की प्रतिष्ठा नहीं बना लिया जाता, तबतक प्रवाहरूपा गति की स्वरूपरक्षा ही सम्भव नहीं है। इस प्रावाहिक परिवर्त्तन को त्रिकालज्ञ शास्त्र नहीं जानता था, यह कौन कह सकता है। जिसने आत्मा–परमात्मा जैसे अतीन्द्रिय-भावों का स्पष्टीकरण कर दिया, वह शास्त्र **"कल क्या होगा"** यह जानने में असमर्थ होता हुआ अस्त-व्यस्त बक गया, यह वाक्य भी हमें प्रायश्चित का भागी बना रहा है। फिर युगधर्म्मानुसार जहाँ जितने अंशों में परिवर्त्तन अपेक्षित था, उस का निर्णय भी तो शास्त्रों-नें कर ही दिया है। इसीलिए हम कह सकते हैं कि—**"सनातन ईश्वर की दिव्यवाणी की प्रतिकृतिरूप शास्त्र भी अवश्य ही सनातन है।"**

२५–गीताशास्त्र की 'शास्त्र' के प्रति अनन्यनिष्ठा—

परिवर्त्तन के पक्षपाती, साथ ही **गीताभक्ति** का डिण्डिमघोष करने वाले उन उत्पथानुगामी आत्मबन्धुओं से हम पूँछते हैं कि, जब **गीताशास्त्र** ही इस समय के लिए उपयोगी है, इतर **मन्वादि शास्त्र** अनुपयुक्त हैं, तो भगवान् ने कर्त्तव्यकर्त्तव्य के निर्णय में शास्त्र का महत्त्व क्यों स्वीकार किया ?। यदि भगवान् की दृष्टि में शास्त्र-सामयिक ही होते, तो कभी उनके मुख से (परिवर्त्तनात्मक शास्त्र के सम्बन्ध में आपकी दृष्टि से) **"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते"** ये अक्षर न निकलते।

२६–शास्त्रीय सनातन सिद्धान्तों की सदैकरसता–निबन्धना सनातनता, एवं तदनुप्राणित शाश्वत–सनातनधर्म्म—

सत्य-अहिंसा-अस्तेय आदि नैतिक नियमहजारों वर्ष पहिले भी उत्तम माने जाते थे, आज भी उनकी उत्तमता ज्यों की त्यों अक्षुण्ण है। युगधर्म्माक्रमण से यदि आज कोई अज्ञ इन नैतिक **आज्ञाओं** का उल्लंघन करता है, तो क्या समाज उसे ऊँची दृष्टि से देखता है ?। क्या युगधर्म्म को, किंवा परिवर्त्तनमार्ग को आगे करते हुए—**"सत्य बोलना पाप है, चोरी करना पुण्य है"** इसप्रकार से उन नैतिक आज्ञाओं में परिवर्त्तन चाहने वाला व्यक्ति आदर की दृष्टि से देखा जायगा ?। हमें स्मरण रखना चाहिए कि, सत्य सदा सत्य ही है, उत्तम वस्तु सदा उत्तम ही है। अभ्युदय–निःश्रेयस-साधक शास्त्रादेशों का जो महत्त्व पूर्व-युगों में था, आज भी है। और उसी के अनुगमन में हमारा अभ्युदय भी है। परिस्थितिवश यदि कोई व्यक्ति सत्य का आचरण नहीं करता, तो क्या उसका यह कर्त्तव्य उत्तम माना जायगा कि, वह सत्य की निन्दा करने लगे ?। नहीं। यथाशक्ति हमें सत्य का ही अनुगमन करना चाहिए। परिस्थितिवश जहाँ मिथ्या का अवसर आवे, वहाँ से यथाशक्य आत्मपरित्राण का ही प्रत्यन करना चाहिए, और विवशता में मिथ्यानुगमन करने से हमें दुःखात्मक प्रायश्चित्त ही करना चाहिए।

२७–अविचारितरमणीया शास्त्रनिन्दा, एवं कल्पनाओं का काल्पनिक-व्यामोहन—

जबकि गीतासिद्धान्त के अनुसार ही शास्त्र सनातनसत्य है, तो उसके सम्बन्ध में भी हमें उक्त नीति का ही अनुगमन करना चाहिए। **"हम शास्त्रादेशानुगमन करने में असमर्थ हैं,"** एकमात्र इसी हेतु

को आगे कर हम शास्त्र की निन्दा करने लगें, निन्दा का आवेशपूर्वक प्रचार करने लगें, अपनी इस कुप्रवृत्ति के लिए दुःख मानने के स्थान में उद्दण्डतापूर्वक शास्त्रसिद्धान्तों के खण्डन में ही अपने बल-बुद्धि-तर्क का बलप्रयोग करने लगें,**क्या इसी का नाम गीताभक्ति है** ?।क्या गीता से हमने अशिक्षात्मिका ऐसी ही शिक्षा प्राप्त की है ?। क्या इसी आधार पर हम अपने को **'पक्का'** ईश्वरवादी, एवं आस्तिक मानने का अभिमान कर रहे हैं ?। अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! महतीविडम्बना !!!

२८--'परिस्थिति' मूलक हेत्वाभास का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं शास्त्रीय-कर्त्तव्य के प्रति हेत्वाभासानुयायियों की निरपेक्षता—

आज कुछ एक संशोधक महोदय शास्त्रादेशों के सम्बन्ध में ये भी उद्गार निकाला करते हैं कि, जब परिस्थितिवश हम शास्त्रादेशों का यथावत् पालन नहीं कर सकते, तो फिर उन आदेशों को धोका भी क्यों दिया जाय ?। क्यों नहीं उस दशा में हम शास्त्रों को कुछ समय के लिए एक कोने में रखकर समयानुसार प्रवाहित होने वाली प्रगति के ही अनुयायी बन जाँय ?। **संध्या-तर्पण-श्राद्ध आदि** कर्म्मों का जैसा विधान है, ठीक उसी विधान के अनुसार वैसा ही करना परिस्थितिवश वर्त्तमान युग में असम्भव है। जिन्हें सुविधाएँ प्राप्त हैं-वे करें, जो नहीं कर सकते, पूरी इतिकर्त्तव्यता नहीं निभासकते, वे करें ही क्यों।

२९–'असामर्थ्य' प्रयुक्त हेत्वाभास का वाग्विजृम्भण, तदनुगामी 'मध्यमवर्ग', एवं काल्पनिक-विविध-समस्याओं के सर्ज्जन के द्वारा कर्त्तव्यनिष्ठा के प्रति तद्वर्ग की निरपेक्षता—

स्वागतं भोः। ऐसे वर्ग को ही हम माध्यमिक वर्ग भी कह सकते हैं। विचारपरामर्श से इस वर्ग के सम्बन्ध में भी हमें दो धारणाएँ व्यक्त करनी पड़ती हैं। फलतः धारणाभेद से इस माध्यमिक वर्ग के भी आगे जाकर दो विभाग होजाते हैं। कुछ एक महानुभाव तो अवश्य ही ऐसे हैं, जो शास्त्रों पर पूर्ण श्रद्धा-विश्वास रखते हैं। शास्त्र का अक्षर अक्षर उनके लिए मान्य है। परन्तु साथ ही **"यदि कर्म्म का स्वरूप बिगाड़ दिया, तो वह कर्म्म लाभ के स्थान में हानि का ही कारण बन जायगा"** इस शास्त्रादेश की विभीषिका से वे शास्त्रीय कर्म्मों में प्रवृत्त होते हुए ही डरते हैं। **सेवावृत्ति,शास्त्रीय ज्ञान का अभाव, कौटुम्बिक-चिन्ता, अर्थसंकट,** आदि अनेक कारणों को अपने गर्भ में रखने वाली परिस्थिति से विवश होकर उक्त विभीषिका को मूल में रखते हुए ही ये महानुभाव कहा करते हैं कि, क्या करें, दुःख तो अवश्य होता है, अशास्त्रीय कर्म्मों से आत्मग्लानि भी होती है, परन्तु विवश हैं। इसी विवशता में पड़कर यहश्रद्धालुवर्ग शास्त्रीय **कर्म्म-ज्ञान-भक्ति**–योगों से वञ्चित होता हुआ कहा करता है कि–**"जब हम ठीक ठीक कर नहीं सकते, तो करें ही क्यों"**।

३०--समाजानुबन्ध से प्रदर्शनमात्र के लिए शास्त्रभक्ति-प्रदर्शनपरायण वञ्चक-वर्ग का अनर्गल-प्रलाप-

कतिपय सज्जन ऐसे भी हैं, जो अन्तरात्मा से तो शास्त्र पर अणुमात्र भी श्रद्धा-विश्वास नहीं रखते। परन्तु जिस समाज में रहकर इन्हें अपनी अर्थलालसा पूरी करनी होती है, स्वार्थसिद्ध के लिए इन्हें उस समाज-

निष्ठा की हाँ में हाँ मिलानी पड़ती है । अवसर आने पर सच्चे श्रद्धालु की भाँति भावावेश प्रकट करते रहने में भी ये महानुभाव अणुमात्र भी संकोच नहीं करते । यह उस वर्ग की दशा है, जिस का पालन पोषण समाज के श्रीमन्तों की कृपा पर ही निर्भर है । उस शास्त्रनिष्ठ समाज को प्रसन्न करने के लिए, साथ ही **"तुम शास्त्रानुसार कर्म्म क्यों नहीं करते"** इस प्रश्न के समाधान के लिए ये व्याघ्रचर्म्माच्छन्न रासभ कहा करते हैं कि–"जी ! इच्छा तो बहुत कुछ है, परन्तु क्या करें, परिस्थितिवश नहीं कर सकते । पूरी विधि न जानने से भय लगता है कि, कहीं भलाई के स्थान में बुराई न हो जाय । करें, तो ठीक ठीक करें, नहीं तो कुछ भी न करें" ।

३१--युगधर्म्मानुगामी विभिन्न दो वर्गों का स्वरूपेतिवृत्त, एवं तत्सम्बन्ध में विविध उहापोहों का स्वरूप--दिग्दर्शन—

इसप्रकार एक वर्ग हृदय से शास्त्र के प्रति निष्ठा रखता हुआ, दूसरा वर्ग समाजानुबन्ध से शास्त्रमान्यता का दम्भ करता हुआ वर्त्तमान युग में शास्त्रीय कर्म्म की उपेक्षा ही कर रहा है । दोनों में प्रथम वर्ग के लिए ही हमने **"स्वागतम्"** कहा है । दूसरे वर्ग के लिए तो–**"दुर्ज्जनं प्रथमं वन्दे"** ही पुरस्कार है । क्योंकि जो वर्ग उन्मुक्तरूप से(खुल्लम खुल्ला)शास्त्र की निन्दा करता रहता है,उसकी अपेक्षा भी यह द्वितीय वग कहीं अधिक भयङ्कर है । कारण स्पष्ट है । जो महानुभाव पूर्ण सम्पन्न हैं, शास्त्रीय-मर्म्मज्ञान से कोसों दूर हैं, पश्चिमी-शिक्षा की सजीव-प्रतिमा हैं, जो स्वयं समाज के नहीं, अपितु जिनका समाज हैं, तात्पर्य्य--अर्थकुचक्र के द्वारा दुर्य्योधन की भाँति जिह्नोंनें भीष्म-कृप-द्रोण सदृश कतिपय महापुरुषों को भी स्व-व्यामोहन–पाशमें सर्वथा आबद्ध कर रक्खा है, शकुनिस्थानीय कतिपय दुर्ज्जन ही जिनके पथप्रदर्शक हैं, दुर्ज्जन-सज्जनों के मध्य में रहने वाले माध्यमिक भी यदागमन्याय से जिनके पाश में परम्परया बद्ध हैं, ऐसे कतिपय धनमदान्ध व्यक्ति ही स्पष्ट शब्दों में शास्त्रों की निन्दा से अपनी जिह्वा कलङ्कित करते रहते हैं । अर्थाधिपत्य के अभिमान से ये शास्त्राधिकारी भी बने रहेते हैं । शास्त्र के सम्बन्ध में ये अपनी ऐसी परिष्कृत सम्मति देते रहते हैं, मानो इह्नोंनें शास्त्रों का आमूलचूड़ मन्थन ही कर डाला हो । साथ ही **"हाँ बाबू बिलकुल ठीक"** कहने वालों की भी कमी नहीं रहती । ऐसे ही महानुभाव अपनी विलासलीला की सुविधाके अनुसार शास्त्रों में परीवर्त्तन चाहते रहते हैं । ये ही शास्त्रों के निन्दक हैं । इत्थंभूत वर्ग के लिए तो **"कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः"** ही पर्य्याप्त होगा ।

जो अपने श्रीमुख से-**"अच्छा लो हम नास्तिक हैं, शास्त्र वास्त्र नहीं मानते, तुम्ही स्वर्गासन छीन-लेना"** बड़े अभिमान के साथ यह कहते रहते हैं, अवश्य ही विज्ञान की विमलधारा मे स्नान कराकर इह्नें पवित्र किया जासकता है । क्योंकि–**"अज्ञानं तस्य शरणम्"** । अज्ञान से ही इह्नोंनें असद्भावना को अपना लिया है । यदि विज्ञान-सम्मत तर्क के द्वारा इनके सम्मुख शास्त्रों का मर्म्म रक्खा जाता है, तो अवश्य ही कालान्तर में ये घोरघोरतम नास्तिक भी परम आस्तिक बन सकते हैं, जैसाकि हमें इस विषय का व्यक्तिगत अनुभव है । परन्तु जिसका आराध्य मन्त्र-**"मुखमें राम बगल में छुरी"** यही है, उस दूसरे अभिनिविष्ट वर्ग की चिकित्सा तो कठिन ही क्या, हमारे जैसे साधारण मनुष्यों के लिए तो असम्भव ही है । सम्भव है, 'तपस्वी' महर्षि अपने तपोबल के प्रयोग से उन का भी उद्धार कर सकें ।

३२–गीताशास्त्र की प्रवृत्ति का मुख्य उद्देश्य—

अब हमारे सामने वह पहिला वर्ग बच रहता है, जो कि पूर्ण श्रद्धालु होता हुआ भी या तो परिस्थितिवश शास्त्रकर्म्मानुष्ठान न करने के कारण, अथवा विभीषिकावश न करने के कारण वर्त्तमान युग के लिए शास्त्रों को अनुपादेय बतला रहा है। **"हमारा गीताशास्त्र इन्हीं के उद्धार के लिए प्रवृत्त हुआ है"** यदि गीता के सम्बन्ध में यह भी कह दिया जाय, तो भी कोई अत्युक्ति न होगी।

३३-शास्त्रीय कर्त्तव्य-कर्म्मों के सम्बन्ध में साभिमान आवेश, और उसका नीरक्षीर-विवेक—

वैसे तो इस कलहमूलक कलियुग में कुछ एक परिगणित अपवादों को छोड़कर किसी को भी पूर्णरूप से शास्त्रीय आदेशों पर चलने का न तो अधिकार ही है, न योग्यता ही है, न साधन ही है, न समय ही है। स्मरण कीजिए उस वर्ण–व्यवस्था के वैज्ञानिक स्वरूप का, जिसके सम्बन्ध में बड़े अभिमान के साथ हमने यह कहा था कि—**"वर्णव्यवस्था प्रकृतिसिद्धा है, जन्मसिद्धा है"**। इसलिए प्रत्येक वर्ण को अपना अपना शास्त्रसिद्ध आधिकारिक कर्म्म हीं करते रहना चाहिए। वर्णधर्म्म–विरोधी शास्त्रसिद्ध कर्म्म कभी शाश्वत शान्ति के कारण नहीं बन सकते—**"न स सिद्धिमवाप्नोति, न सुखं न परां गतिम्"**।

३४--आदर्शवाद, और यथार्थवाद का समतुलन, एवं यथार्थवाद से वञ्चित आदर्शवाद-की आत्यन्तिक-यातयामता—

यदि इसी आदर्शवाक्य पर सुख, एवं मुक्ति का विश्राम मान लिया जाता है, तब तो सम्पूर्ण शास्त्र वर्त्तमान युग के लिए केवल नमस्कार की ही वस्तु बने रह जाते है। **आदर्शवाद की शोभा है-व्यवहार मार्ग।** ऐसे सिद्धान्त, जो आदर्शवाद की दृष्टि से स्वर्ग के सप्तम सोपान पर प्रतिष्ठित हैं, यदि व्यवहार में नहीं आते, किंवा नहीं आसकते, तो उस दशा में सचमुच वे सिद्धान्त दूर से ही प्रणम्य हैं। और सच पूँछिए, तो हमें निःसंकोच होकर कहना पड़ेगा कि, भारतश्री के ह्रास के जहाँ ओर ओर कई एक कारण हैं, वहाँ उन कारणों में **विशुद्ध आदर्शवाद,** किंवा **सिद्धान्तवाद** भी एक मुख्य कारण है। यदि हमारे सनातन-धर्म्मी पाठक बुरा न माने, तो यह भी कह देने में हम किसी आपत्ति वा अनुभव नहीं करेंगे कि, एक मात्र विशुद्ध आदर्शवादने ही हमारा सर्वनाश किया है। कैसे ?. तो सुनिए !

३५--गीताप्रतिपादित-शास्त्रीय-सिद्धान्त के सम्बन्ध में 'आदर्शवाद' का अन्वेषण-प्रयास, एवं गीताशास्त्र की पिष्टपेषणता, अतएव निरर्थकता—

आदर्श सदा आदर्श ही रहेगा, इसमें भी कोई सन्देह नहीं। उत्तम वस्तु सदा उत्तम ही मानी जायगी, यह भी निर्विवाद है। शास्त्र सनातन सत्य हैं, और उनके निर्दिष्ट पथ का अनुगमन करने पर ही मानव-समाज का अभ्युदय सम्भव है, यह भी ध्रुव सत्य है। फलतः **"गीता प्रधानरूप से शास्त्रसिद्ध वर्णाश्रम-धर्म्मानुकूल कर्म्मों का ही प्रतिपादन करती है"** यह सिद्धान्त भी सर्वमान्य है। परन्तु केवल इसी सिद्धान्त पर गीतोद्देश्य का विश्राम मान लेने से तो गीता की अपूर्णता, विलक्षणता, एवं पूर्णता कदापि सिद्ध

नहीं होसकती। फिर तो यह कह देने में भी कोई आपत्ति न होगी कि, वर्णाश्रम का मौलिक रहस्य मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद से ही गतार्थ है। रहस्यज्ञान के सम्बन्ध में जो कुछ ज्ञातव्य है, वेद ने उससे भी अधिक बतला दिया है। वर्णाश्रमकर्म्मों की इतिकर्त्तव्यता (किस को कब कौनसा कर्म्म करना चाहिए, यह पद्धति) मन्वादि-धर्म्मशास्त्रों से गतार्थ है। यदि गीता का यही चरम लक्ष्य है, तो श्रुति-स्मृति से सर्वथा गतार्थ उस उद्देश्य के समतुलन में गीता एक पिष्टपेषणमात्र ही है, अतएव वह एक निरर्थक शास्त्र ही है।

३६-वैदिक-कामनामय-कर्म्मकाण्ड का संशोधक ? निष्काम-कर्म्मयोगात्मक गीता-शास्त्र—

यदि इस सम्बन्ध में कोई गीताभक्त यह कहे कि, श्रुति-स्मृति में जिन कर्त्तव्य-कर्म्मों का विधान हुआ है, वे कामनामय होने से शाश्वत-शान्ति के कारण नहीं बन सकते। वेदादि शास्त्रविहित कर्म्म— **"ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत"** इत्यादिरूप से सर्वथा सकाम हैं। **फलकामासक्ति को मूल में रखते हुए ही वैदिक कर्म्म विहित हैं।** गीताने श्रुति-स्मृति-सिद्ध तीनों योगों का आदर अवश्य किया है, परन्तु साथ ही कामना के परित्याग का आदेश दिया है। **"निष्कामकर्म्म ही शाश्वत-शान्ति के कारण हैं"** गीता का यही संशोधन है। और इसी संशोधन से गीता की अपूर्वता सिद्ध हो-जाती है।

३७-वैदिक कर्म्मयोग की निष्कामता के समतुलन में गीता के कर्म्मवाद का शैथिल्य, एवं पुनश्च गीता की पिष्टपेषणता—

परन्तु जब हम वैदिक-कर्म्मों के मौलिक रहस्य का अन्वेषण करने चलते हैं, तो उक्त हेतुवाद भी गीता की अपूर्वता सुरक्षित नहीं रख सकता। यह ठीक है कि कर्म्मकाण्डप्रधान ब्राह्मणग्रन्थों में पदे पदे **"किं काम्या यजेमहि"—"किं ततो मे स्यात्"-स्वर्गकामो यजेत"** इत्यादि रूप से कामभावों का प्राचुर्य्य उपलब्ध होता है। परन्तु वेद का ही अन्तिमभागरूप उपनषत्-तन्त्र स्पष्ट शब्दों में निष्कामकर्म्म की ही घोषणा करता हुआ, एकमात्र उसे ही परा शान्ति का कारण बतलाता हुआ हमारे सामने आता है। गीताने स्थान स्थान पर अमृत-मृत्यु-लक्षण ज्ञान-कर्म्म के समन्वितरूप जिस समत्व का निरूपण किया है, उपनिषदों में विस्तार के साथ उस का भी निरूपण हुआ है, जैसाकि— **"स शान्तिमाप्नोति न कामकामी"—"कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि"—"सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह"—"विद्यां चाविद्यां च यस्तेद्वेदोभयं सह" "अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्"** इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। यहीं नहीं, जिस बुद्धियोग को गीता का अपूर्व विषय बतलाया गया है, उसका मूल भी उपनिषदों में व्यक्त है, जैसाकि **भाष्यभूमिका-प्रथमखण्ड** में विस्तार से बतलाया जाचुका है। स्वयं मानवधर्म्मशास्त्रने भी— **"प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म्म वैदिकम्"** इत्यादि रूप से वैदिक-कर्म्मों को **प्रवृत्त (सकाम), निवृत्त (निष्काम)** भेद से क्रमशः प्रवृत्तकर्म्म को स्वर्गसुख का कारण माना है, एवं निवृत्तकर्म्म को पराशान्ति-प्राप्ति का हेतु बतलाया है। फलतः यदि गीता ने निष्कामकर्म्म का निरूपण किया है, तो यह भी गीता का पिष्टपेषण ही है।

३८--शास्त्रसार--समन्वयात्मिका गीता का सर्वशास्त्रमयत्त्व--प्रदर्शन—

वादी यदि यह कहे कि श्रुति–स्मृति–शास्त्र आचार्य्यभेद से अत्यन्त दुर्गम है, अतएव सामान्य मनुष्य श्रौत-स्मार्त्त–कर्मों के सम्बन्ध में बहुविस्तृत श्रुति-स्मृति-ग्रन्थों से अपने इस स्वल्प जीवन में निर्णय नहीं कर सकता। इसी विप्रतिपत्ति से मनुष्य श्रौत-स्मार्त्त कर्म्म–जाल से भय खाता हुआ कर्त्तव्य–कर्म्म से विमुख होजाता है। भगवान् ने गीताशास्त्र में बड़े संक्षेप से कर्म्म का निर्णय कर दिया है। अनन्त वेदशास्त्र, एवं असंख्य स्मृतिशास्त्रों के दुर्गम कर्म्मजाल का समन्वय करते हुए केवल सातसौ श्लोकों से समन्वित गीता में उन सब के लिए सरलपथ प्रदर्शित कर दिया है। इसीलिए गीता—'**सर्वशास्त्रमयी**' कहलाती है।

३९–गीता के सम्बन्ध में--'किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः' मूला नितान्त--भ्रान्त--धारणा—

इसी हेतुवाद को आगे करते हुए ये महानुभाव यह भी कहा करते हैं कि—'**जिसने गीता का मर्म्म समझ लिया, उसने सब कुछ जान लिया**'। गीतास्वाध्याय के अनन्तर मनुष्य के लिए कुछ भी ज्ञातव्य-कर्त्तव्य नहीं रह जाता। केवल गीता ही कर्म्मनिर्णय के सबन्ध में पर्य्याप्त साधन है–"**किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः**"। केवल इसी आधार पर आज कतिपय महानुभावों के श्रीमुख से यह भी सुनने का सौभाग्य प्राप्त होता रहता है कि—**सब शास्त्र निरर्थक हैं। यदि उन्हें थोड़ी देर के लिए सार्थक मान भी लिया जाय, तो भी "गीता के अतिरिक्त गीता के रहते उनको कोई आवश्यकता नहीं रह जाती"**। देश के एक महान् नेता ने इस सम्बन्ध में अपने ये भाव प्रकट करते हुए कहा है—

"गीता के द्वारा हम अपनी तमाम धार्म्मिक उलझनें समझ लेंगे।……… … । ऐसी एक भी धार्म्मिक समस्या नहीं, जिसे गीता हल न कर सके" (श्रीगान्धीजी)

४०–आपणव्यवसायात्मक आज का गीताशास्त्र, और राष्ट्रीय--गीताभक्तों का शास्त्रों के प्रति प्रचण्ड--आक्रोश--

यही कारण है कि भारतीय–राष्ट्रवर्ग में सब शास्त्रों का आसन आज गीताने ही अपहृत कर लिया है। धार्म्मिक–शिक्षा क्या होनी चाहिए ?, इस प्रश्न के उत्तर में गीता को ही आगे रक्खा जाता है। इसप्रकार सर्वशास्त्र–विरहिता भगवान् की यह गीता आज एकप्रकार से '**आपणव्यवसाय**' का ही माध्यम बन गई है। सभी गीता के मर्म्मस्पर्शी बने हुए हैं। आज गीताध्ययन ही सब को प्रिय है। सचमुच यह 'आदरभाव' सौभाग्य के चिह्न हैं। चिह्नों का विचार तो फिर किया जायगा। प्रकृत में वक्तव्य यही है कि, हेतुवादियों के कथनानुसार गीता सब शास्त्रों का निचोड़ है, कर्म्म–निर्णय करने वाला राजमार्ग है। और यही गीता की विशेषता है।

४१–कर्म्मेतिकर्त्तव्यता से असंस्पृष्ट गीताशास्त्र, अतएव गीताशास्त्र की शास्त्रदृष्ट्या अकृत्स्नता, असर्वता, एवं स्वयं गीताशास्त्र की श्रुति--स्मृति--शास्त्रैकशरणता—

विचार करने पर इस युक्ति का भी कोई मूल्य नहीं रह जाता। आस्था–निष्ठा के माध्य से यह स्पष्टरूपेण प्रमाणित है कि, **गीता किसी भी कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता नहीं बतलाती**। अथ से इति पर्य्यन्त गीता के

अक्षरों का अन्वेषण कर जाइए, आपको–"**स्वधर्म्म का पालन करना चाहिए**"–"**वर्णाश्रम-कर्म्मों का आसक्ति छोड़कर अनुगम करना चाहिए**"–"**क्षत्रिय को युद्ध से विमुख नहीं होना चाहिए**"–"**सबको अपने अपने कर्म्मों में निष्कामभाव से प्रवृत्त रहना चाहिए**" इसप्रकार से स्वधर्म्म का शिक्षण अवश्य मिलेगा। परन्तु उस स्वधर्म्म का क्या स्वरूप है ?, **क्या इतिकर्त्तव्यता है ?, ब्राह्मण--क्षत्रियादि वर्णों के कर्म्म किस पद्धति से होते हैं ?**, इन प्रश्नों का आचार–पद्धतिरूप कोई भी समाधान आपको गीताशास्त्र में उपलब्ध न होगा। यह तो एक गीताभक्त को भी मान हीं लेना पड़ेगा कि, द्विजातिवर्ग के लिए विहित मन्वादि शास्त्रसिद्ध–कर्म्म भगवान् को पूर्ण अभिमत हैं। परन्तु क्या कोई गीताभक्त केवल गीता के आधार पर ही उन सब कर्म्मों का अनुष्टान कर सकता है ?। "**किस वर्ण को, किस आश्रम में कौनसा कर्म्म करना चाहिए ?**" इस प्रश्न का समाधान गीता से नहीं होसकता, एवं न होने की आवश्यकता ही है। यह प्रश्न श्रुति-स्मृति-शास्त्रों से जब गतार्थ है, तो उसका उल्लेख होता ही क्यों। किस वर्ण को क्या करना चाहिए ?, इस सम्बन्ध में भगवान् का–"**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्य--व्यवस्थितौ, ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्म कर्त्तुमिहार्हसि**" यह उत्तर ही पर्याप्त है।

४२–गीताशास्त्र की अपूर्वता का आधारभूत 'कर्म्मकौशल', एवं तदनुबन्धी समत्व--योगानुगत--'बुद्धियोग'—

यदि गीता ही हमारी कर्म्मेतिकर्त्तव्यता की जिज्ञासा शान्त कर देती, तो भगवान् कभी शास्त्रविधान की अर्गला में हमें न डालते। बिना इतर शास्त्रों के केवल गीता के आधार पर हमारा कोई भी कर्म्म सिद्ध नहीं होसकता। हमें अगत्या शास्त्रों के उस दुर्गम पथ का आश्रय लेना हीं पड़ता है, और लेना हीं पड़ेगा। **गीता का स्वधर्म्म शास्त्रविधानोक्त कर्म्म ही है**। जो महानुभाव भगवान् की उक्त आज्ञा के विरुद्ध स्वधर्म्म की कल्पित व्याख्या कर शास्त्रविधान की उपेक्षा करते है, वे भगवान् के, और उनके गीतासिद्धान्त के घोरशत्रु ही हैं। और फिर हमारा तो यह भी दृढ़ निश्चय है कि, बिना वेदादि-शास्त्रों के परिज्ञान के गीता के एक अक्षर का भी मर्म्म समझ में नहीं आसकता। यदि उन्हीं विचारशीलों के मतानुसार गीता सम्पूर्ण शास्त्रों का सार है, तो वह शास्त्रों से भी अधिक दुर्गम है। बहुविस्तारसापेक्ष शास्त्र ही जब हमारे लिए कठिन हैं, तो उनका वह संक्षिप्तसार हमारी युगधर्म्मानुगता स्वल्प–प्रज्ञा के लिए और भी अधिक जटिल ही प्रमाणित होगा, यह कौन बुद्धिमान् स्वीकार न करेगा। गीता का कर्म्मवाद यदि "**अधिकार**" शब्द पर प्रतिष्ठित है, तो स्वयं गीताशास्त्र भी अधिकारी की अपेक्षा रखता है। हम शास्त्रों की सर्वथा उपेक्षा करदें, उनकी निन्दा करें, संस्कृतभाषा हमारे लिए "**होआ**" बनी रहे, शास्त्रीय--कर्म्म हमारे शत्रु बनें रहें, और फिर हम अपनी कल्पना से फूत्कारमात्र से गीता का निगरण कर जाँय–"**एकैकमप्यनर्थाय**"।

इसप्रकार न गीता के द्वारा कर्म्म का निर्णय ही सम्भव, न गीता का विषय ही अपूर्व, फिर गीता कहती क्या है ?, यह प्रश्न ज्यों का त्यों सुरक्षित रह जाता है। इस प्रश्न का उन्मूलक है--"**समन्वयभाव**"। गीता एकमात्र कर्म्मशैली का निरूपण करती है, और वह शैली ही गीता की अपनी देन है। यह प्रत्यक्षसिद्ध है कि, कभी कभी काम के तरीके को न जानने से उत्तम साधनों के रहते भी कर्म्म बिगड़ जाता है। उत्तम से उत्तम कर्म्म भी शैली के विकृत होजाने से अशुभोदर्क बन जाता है। भगवान् ने कर्म्मशैली [कर्म्म करने के तरीके--ढँग]

का ही प्रधानरूप से निरूपण किया हैं। यद्यपि कर्म्मेतिकर्त्तव्यता भी कर्म्म का एक ढंग ही है, परन्तु कर्म्म-पद्धतिरूप इस ढंग का गीता में निरूपण नहीं है। मनुष्य का क्या कर्त्तव्य है ?, इस प्रश्न पर गीता विशेष विचार नहीं करती। अपितु शास्त्रोक्त कर्त्तव्य-कर्म्मों का कौशल क्या है ?, गीता का यही प्रधान लक्ष्य है। और वह कौशल है एकमात्र वैराग्यलक्षण–"बुद्धियोग", जिसका कि निरूपण पाठक अगले प्रकरण में देखेंगे।

४३–गीताशास्त्र के उद्देश्य के सन्बन्ध में विविध कल्पनाएँ, एवं गीताशास्त्र की प्रातिस्विकता, तथा सार्वभौमता के अनुबन्ध से विचार--विमर्श—

हाँ, तो ऊपर की पङ्क्तियों से हम यह समझे कि, शास्त्रविहित कर्म्मों के साथ बुद्धियोगरूप कौशल का प्रदर्शन करने वाला शास्त्र ही "**गीताशास्त्र**" है। अवश्य ही गीता की यह अपूर्वता है। परन्तु केवल इसी अपूर्वता से गीता '**ईश्वरीयग्रन्थ**' नहीं माना जासकता। सम्भव है, गीता की यह अपूर्वता वर्णाश्रमधर्म्म के अक्ष-पाती एक भारतीय का उपकार करसके। परन्तु जो श्रुति-स्मृति-शास्त्र से परिचित नहीं, श्रौत-स्मार्त्त कर्म्मों का जिन्हें अधिकार नहीं, वे तो ऐसी गीता से वञ्चित ही रह जाते हैं। गीता न भारतवर्ष की है, न द्विजातिवर्ग की ही अपनी कोई प्रातिस्विक निधि (धरोहर) है। अपितु गीता तो उन भगवान् की है, जो कि भगवान् चर--अचर सब के हृदयों में अन्तर्य्यामीरूप से प्रतिष्ठित रहते हुए सबका अपने नियतिदण्ड से सञ्चालन कर रहे हैं। भगवान् का अवतार केवल भारतीयों के अभ्युदय के लिए ही नहीं हुआ है, अपितु-"**अनुग्रहाय भूतानां मानुषीं देहमाश्रितः**" के अनुसार सम्पूर्ण विश्व के अभ्युदय के लिए ही भगवान् का प्राकट्य है। उन सर्वव्यापक भगवान् का ज्ञान भी कभी किसी व्यक्ति, देश आदि में सीमित नहीं रह सकता। अवश्य ही भगवान् का गीताज्ञान मनुष्यमात्र के अभ्युदय के लिए ही प्रवृत्त हुआ है। सभी वर्ण, सभी जातियाँ समानरूप से गीतायोग के अधिकारी हैं। जहाँ श्रुति--स्मृति शास्त्र–"**यस्मिन् देशे मृगः कृष्णस्तस्मिन् धर्म्मं निबोधत**" की अर्गला से बद्ध होते हुए केवल भारतीय वर्णाश्रमानुगामिनी प्रजा के ही उपकारक बन रहे हैं, वहाँ गीताशास्त्र विश्वबन्धुत्त्व को अपना मूल बनाता हुआ संसार की निधि है। विभिन्न धर्म्म, विभिन्न मतवाद, व्यक्तिगत स्वार्थ, साम्प्रदायिक सीमाभाव आदि आदि सभी भेदवाद अभिन्न गीतायोग के सामने हतवीर्य्य हैं। यही गीताशास्त्र की अपूर्वता है। गीतोपदेश एक वेदानुयायी द्विजाति का जितना उपकार कर सकता है, एक ईसाई, पारसी, मुसलमान, यहूदी भी इस योग का अनुष्ठान करता हुआ कृतकृत्य बन सकता है। और अपने इसी गुणातिशय से गीता आज विश्वबन्द्य ग्रन्थ बन रहा है।

४४-सनातनधर्म्मी विद्वानों का प्रचण्ड आक्रोश, तत्प्रवर्द्धिका विचारशैली, एवं गीता से अनुप्राणिता विचार--द्वयी का परस्पर अश्वमाहिष्य—

सनातनधर्म्म के मौलिक रहस्य से अपरिचित, अतएव नाममात्र के सनातनधर्म्मी विद्वानों के सम्मुख जब गीतायोग के सम्बन्ध में गीता की उक्त अपूर्वता रक्खी जाती है, तो वे अग्निश्च–वायुश्च बन जाते हैं। वे यह कथमपि स्वीकार नहीं करसकते, कि गीताज्ञान का सबको समानाधिकार है। गीता को विश्ववन्द्य ग्रन्थ मानने में वे सनातनधर्म्म की हानि समझते हैं। और सामान्यदृष्टि से विचार करने पर हमें भी कुछ ऐसा ही प्रतीत होने लगता है कि, यदि गीता का सबको समानाधिकार दे दिया जायगा, तो गीता एक शास्त्रविरुद्ध ग्रन्थ बन

जायगा। क्योंकि श्रौत-स्मार्त्त ज्ञान--कर्म्म-भक्ति-योगों का अधिकार एकमात्र भारतीय वर्णप्रजा को ही है। यदि गीता के ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-योग शास्त्रसिद्ध हैं, तब तो इनका भी सबको अधिकार नहीं दिया जासकता। यदि शास्त्र-विरुद्ध हैं, तो फिर गीताशास्त्र इतर देशों के लिए भले ही उपयुक्त हो, कम से कम भारतीय प्रजा तो ऐसे शास्त्र-विरुद्ध गीतायोग को कभी आदर की दृष्टि से नहीं देख सकेगी। बात दोनों में से एक ही मानी जायगी। या तो गीता को श्रुति--स्मृत्यनुगामिनी मानते हुए केवल भारतीय प्रजा के लिए ही नियत मानिए। अथवा--शास्त्रमर्य्यादा से बहिष्कृत मानिए। दोनों में से कौनसी बात मानी जाय ?, पहिली में शास्त्रमर्य्यादा की रक्षा है, परन्तु भगवत्ता की व्यापकता जीर्ण शीर्ण है। दूसरी में भगवत्ता की तो रक्षा है, परन्तु शास्त्रमर्य्यादा जीर्ण--शीर्ण है। बड़ी कठिन समस्या है। गीताशास्त्र के अतिरिक्त इस समस्या को और कौन सुलझा सकता है ?।

४५–गीताशास्त्र की अपूर्वता से दोनों तथ्यों का समन्वय, शास्त्र सिद्धायोगत्रयी, एवं लोकानुगता मतप्रवृत्ति, तथा कल्पित आदर्शवाद का संस्मरण—

गीता की अपूर्वता ने दोनों विरुद्ध भावों का समन्वय कर रक्खा है। अवश्य ही गीताशास्त्र–श्रुति–स्मृति के अक्षर अक्षर का अनुगामी बनता हुआ हम भारतीयों की ही एकमात्र मौलिक निधि है, इसमें तो अणु-मात्र भी सन्देह नहीं हैं। और इस दृष्टि से गीता का योग एकमात्र हमारे ही अधिकार की वस्तु है। वर्णधर्म्म की अभेद्य चट्टान पर प्रतिष्ठित शास्त्रसिद्ध गीतोक्त ज्ञान–कर्म्म–भक्ति–योगों का एकमात्र हमें ही अधिकार है। जो व्यक्ति गीता को एक विनोद की सामग्री समझ रहे हैं, अवश्य ही वे भ्रान्ति में हैं। परन्तु इसके साथ ही गीता ने एक उपाय ऐसा भी बतला दिया है कि, जो व्यक्ति शास्त्रीय योगों का अनुगन न कर विरुद्धमार्ग का अनुगमन कर रहा है, वह भी उस उपाय से अपना जीवन सफल बना सकता है। शास्त्रसिद्धा योगत्रयी की अपेक्षा से जहाँ गीताशास्त्र वर्णाश्रमशृंखला से बद्ध होता हुआ देशविशेष के लिए सीमित है, वहाँ उपाय-दृष्ट्या वह सबका भी उपकारक है। क्योंकि जिसप्रकार योगत्रयी के लिए द्विजातिवर्ण ही अधिकारी माना जाता हैं, वहाँ उस उपाय का अनुगमन करने में वर्णनियन्त्रण की कोई आवश्यकता नहीं है। 'मनुष्य' शब्द ही उसकी व्याप्ति का स्थान है। वह क्या उपाय है ?, यह विचार पीछे किया जायगा। पहिले विशुद्ध आदर्शवादी काल्प–निक सनातनधर्म्मियों के काल्पनिक ताण्डवनृत्य का दृश्य देख लीलिए।

४६–यथार्थता से वञ्चित आदर्श की यातयामता—

जैसाकि पूर्व में कहा गया है, आदर्शवाद की शोभा व्यवहारमार्ग है, और व्यवहारमार्ग की प्रतिष्ठा सामयिक परिस्थिति है। धर्म्म की मौलिकता को प्राणपण से बचाने की चेष्टा करते हुए सामयिक परिस्थिति का अनुगमन करना हीं सम्पूर्ण शास्त्रों का रहस्यार्थ है। जो व्यक्ति सामयिक परिस्थिति की सर्वथा उपेक्षा कर केवल आदर्शवाद, किंवा सिद्धान्तवाद के ही गुणगान किया करते हैं, उनका यह विशुद्ध आदर्श सर्वथा निर–र्थक ही बन जाता है, और सनातनधर्म्मियों की ओर से आज यही होरहा है।

४७–आचारात्मक यथार्थ से शून्य आदर्श से अनुप्राणित सनातनधर्म्मियों का व्याज–धर्म्माचरण, एवं तथाभूत धर्म्मव्याज से हमारा आत्यन्तिक पतन—

प्रत्येक बात में हम शास्त्रों की, एवं धर्म्म की दुहाई देने लगते है। और इस आवेश में पड़ कर हम सामयिक परिस्थिति को सर्वथा भूल जाते हैं। उदाहरण के लिए उस वर्णव्यवस्था को ही लीजिए, जिससे सिद्ध

करने में हम एड़ी से चोटी तक का पसीना बहा देते हैं। वर्णव्यवस्था सर्वोत्तम है, यह भी ठीक। वर्णव्यवस्था का अनुगमन प्रत्येक दशा में अभ्युदयकर है, यह भी ध्रुवसत्य। परन्तु जो वस्तु सिद्धान्त में सर्वोत्तम हो, परन्तु सामयिक परिस्थिति जिस सिद्धान्त को पनपने में बाधा पहुँचा रही हो, उस सिद्धान्त का गुणानुवाद ही हमारा हित साधन नहीं कर सकता। जो विद्वान् वर्णव्यवस्था के उपदेशों से सभामञ्चों को कम्पित किया करते है, क्या हम उन से यह पूँछने की धृष्टता कर सकते हैं कि, आज अपने आपको सनातनधर्म्मी कहने का अभिमान करने वाले कितने उपदेशक ऐसे हैं, जो शास्त्रसिद्ध वर्णव्यवस्था के अनुसार कर्म्मों में प्रवृत्त रहते हैं?। हमनें तो प्रत्यक्ष में देखा है कि, बड़े बड़े संस्कृतज्ञ विद्वानों की, महामहोपदेशकों की सन्ततियाँ भी उन्हीं की इच्छा से आज वर्णधर्म्मविरोधिनी पश्चिमीशिक्षा का अनुगमन कर रही हैं। आज कौन वर्ण अपने धर्म्म पर प्रतिष्ठित है?। परिस्थितिवश कहिए, अथवा और किसी कारणविशेष से कहिए, सबका कर्म्म उत्पथ ही बन रहा है। ब्राह्मणवर्ण शूद्रसमकक्ष बनता हुआ भी अभिमान कर रहा है। क्षत्रियवर्ण तो सर्वथा ही अस्तप्राय है। वैश्यमहाभाग भी धर्म्म की ओट में स्वार्थसाधन ही कर रहे हैं। शूद्र अमर्य्यादित बन रहे हैं। कर्म्म-विरहित विशुद्ध जात्यभिमान ने भी क्या कभी वर्णधर्म्म की रक्षा की है?। व्यवहार हमारा सर्वथा पतित, और आदर्श इतना उदात्त। फिर कहिए तो सही, इस आदर्श का हम क्या करें?। और ऐसे आदर्शवादियों के उपदेश से जनता क्या लाभ उठावे?। स्मरण रखिए, आप कुछ समय के लिए अपनी वाणी को अवश्य ही धोका दे सकते हैं, परन्तु आत्मा को, एवं आत्ममूलक धर्म्म को धोका नहीं दिया जासकता। धोके में पड़ा हुआ यह धर्म्म ही अधर्म्म बन कर कभी हमें हीं धोका दे जायगा—"**न व्याजेन धर्म्ममाचरेत्**"।

४८–प्रचलित भक्तिकाण्ड की महती-विभीषिकाएँ, एवं तद्द्वारा आचारधर्म्म का अभिभव—

इसीप्रकार प्रचलित उपासनावाद को लीजिए। शास्त्रपद्धति के द्वारा वेदमन्त्रों से प्रतिष्ठित प्रतिमाएँ सर्वथा पवित्र हैं, एवं इनके दर्शन का एकमात्र अधिकार द्विजातिवर्ग को ही है, इस सत्यसिद्धान्त में कोई विप्रतिपत्ति नहीं उठाई जासकती। अवश्य ही शास्त्रमर्य्यादा की रक्षा के लिए अन्त्यंज–प्रवेश को रोकना चाहिए। परन्तु इस प्रवेश-निरोध का प्रचार करते समय हमारे सनातनधर्म्मी उपदेशक यह भूल जाते हैं कि, जिन प्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा की रक्षा के लिए हम भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं, वह प्राणप्रतिष्ठा हमारे दोष से पहिले से ही पलायित होचुकी है। बुरा न मानिए, विवेक से काम लीजिए। हृदय पर हाथ धर कर अन्तर्य्यामी से पूँछिए कि, क्या वे मन्दिर, जो आज स्वार्थी सन्त–महन्तों की व्यभिचारलीला के पातक क्षेत्र बने हुए हैं, कभी दिव्यभावना से युक्त रह सकते हैं?। जिन मन्दिर–मठों की सात्त्विक आय का उपायोग मन्दिर–मठाधीशों की विलासलीला में पानी की भाँति बहता रहता है, शास्त्रतत्त्वानभिज्ञ जिन पुजारियों के मलिन अन्तःकरणों से पवित्र भगवत्–प्रतिमाएँ अहोरात्र संश्लिष्ट रहती हैं, जहाँ का कोना कोना दुषित वातावरण की प्रतिमा बना हुआ है, उनकी रक्षा के लिए गला फाड़ना क्या सफल हो सकेगा?। क्या इस स्वार्थलीला को सुरक्षित रखने का नाम हीं मन्दिर, एवं प्रतिमाओं की पवित्रता की रक्षा है?।

४९–आचारहीन-पुरुषसमाज का स्त्रीवर्ग के प्रति दम्भपूर्ण आक्रोश, और आक्रोश-मूला पतनपरम्पराएँ—

और आगे बढ़िए। स्त्री का यह परम धर्म्म है कि, वह कभी परपुरुष का चिन्तन न करे। न केवल इस जन्म में हीं, अपितु परजन्म में भी वह उसी पति का अनुगनम करे। सचमुच सिद्धान्त बड़ा ही पवित्र

एवं प्रत्येक दशा से समादरणीय है। और नारी को इसी का अनुगमन करना भी चाहिए। परन्तु इस पातिव्रत्य-धर्म्म का उद्घोष करते हुए हम यह भूल जाते हैं कि, आज भारतीय पुरुषसमाज ने अपना व्यक्तित्त्व कहाँतक सुरक्षित रख रक्खा है ?। जगन्माता सीता, सावित्री, अनुसूया, दमयन्ती, नर्म्मदा, आदि महासतियों के चरित्रों को आगे कर जहाँ हम स्त्रीसमाज पर अपना प्रभाव डालना चाहते हैं, वहाँ साथ साथ ही हमें भी भगवान् राम, सत्यवान्, अत्रि, दुष्यन्त, आदि एकपत्नीव्रतनिष्ठों के आदर्श का अनुगमन करना चाहिए। हमारा चरित्र अथ से इति पर्य्यन्त दूषित रहे, और फिर हम अपने उसी कलङ्कित मुख से उस आदर्शवाद के कल्पित स्वप्न देखा करें, यह विडम्बना नहीं, तो और क्या है ?। निदर्शनमात्र है। आज हम सनातनधर्म्मियों के समीप कोरा आदर्श ही आदर्श रह गया है। उसका उपयोग होसकता है, तो यही कि–अपना कलङ्कित मुख उस आदर्श (दर्पण) में देख देख कर पश्चात्ताप किया करें। पद पद पर शास्त्रीय वचनों को, अतीत युग के आदर्श चरित्रों को सामने रखने से न आजतक किसी का अभ्युदय हुआ है, एवं न भविष्य में ऐसे धर्म्मव्याज से अभ्युदय की कोई आशा ही रखनी चाहिए। हाँ पतन अवश्य होता है, और होरहा है, जिसके कि कटुफल सनातन–धर्म्मी–जगत् को भोगने पड़ रहे हैं। आज प्रत्यक्ष में उनके शास्त्रों पर, शास्त्रीय कर्म्मों पर, आचारों पर, सभ्यता पर, देवमन्दिरों पर अज्ञजनों की ओर से भीषण आक्रमण होरहे हैं, और वे आक्रमण सफल भी होते जारहे है। इस पाप का भागी कौन ?, हम, एकमात्र सनातनधर्म्मी–जगत्, उसकी मोह निद्रा, उसका कोरा आदर्शवाद, और आदर्शवाद के उदर में पनपे वाला मिथ्याचार।

५०–आचारधर्म्म, एवं युगधर्म्म का परस्पर प्रचण्ड संघर्ष, तथा धार्म्मिक–प्रजा की किंकर्त्तव्यविमूढता—

मान लीजिए–हम आदर्शवाद को सुरक्षित रखना चाहते हैं, शास्त्रानुकूल कर्म्मों में हीं प्रवृत्त रहना चाहते हैं। परन्तु उन शास्त्रों के कथनानुसार ही वर्त्तमानयुग में आदर्श को, शास्त्रमर्य्यादा को यथावत् सुव्यवस्थित रखने का कोई मार्ग नहीं मिल रहा। धर्म्मशास्त्र कहते हैं कि, जिसके राज्य में अधर्म्म होता हो, ब्राह्मण दुःख पाते हों,............ की हिंसा होती हो, उस देश को छोड़ देना चाहिए। चलिए, कहाँ चला जाय ?। ढूँढिए उस देश को, जहाँ उक्त विभीषीकाएँ न हों। क्या ढूँढ सकेंगे ?। असम्भव। यही तो युगधर्म्म हैं। कृत और कलि में यही तो अन्तर है। धर्म्मशास्त्रों में ऐसे असंख्य नियमोपमनियम भरे पड़े हैं, जिनका युगधर्म्म की कृपा से अधिकांश में (इच्छा न रखते हुए भी) आज हम पालन नहीं कर सकते। और वर्त्तमान भारतवर्ष की तो चर्चा करना हीं व्यर्थ है, जहाँ की प्रजा स्वयं ही शास्त्रों को कुचलने के लिए सन्नद्ध खड़ी है। इसीलिए तो एक राष्ट्रीयनेताने अपने श्रीमुख से—**"यदि ब्राह्मण चाहेंगे, तो वे अछूत बन सकेंगे"** इस वाक्य से शब्दब्रह्म को कात्वालीकृत कर दिया था।

५१–अर्थसमस्यानुगत धार्म्मिक–संकट, और धर्म्मक्षेत्र की परवशता—

एक व्यक्ति आर्थिक सङ्कट में पड़कर सेवाधर्म्म स्वीकार कर लेता है। अहोरात्र परिश्रम करने पर कहीं वह अपना उदरपोषण करने में समर्थ होता है। प्राक्तनसंस्कारवश उस की शास्त्र पर भी पूर्ण निष्ठा है। परन्तु परिस्थितिवश उसे समय नहीं मिलता। बतलाइए, वह क्या करे ?। किस उपाय से वह इस धर्म्मसङ्कट से बचे ?। और हमारा विश्वास है कि, आज हजारों व्यक्ति एकमात्र अर्थसमस्या की जटिलता से ही अपनी

श्रद्धा को कार्य्यरूप में परिणत नहीं करसकते । क्या शास्त्रों में इन परवशों के अभ्युदय का कोई भी मार्ग नहीं है ?।

५२–अर्थप्रलोभनानुगता हमारी स्खलनपरम्पराएँ, एवं तद्रक्षणाय असत्य--दम्भ--छल-आदि आसुरधर्म्मों का अनुगमन—

और आगे चलिए । कितने एक व्यक्ति ऐसे भी हैं, जो किसी प्रकार परिस्थितियों का सामना करते हुए श्रद्धावश शास्त्रीय कर्म्मों के लिए समय निकालते हैं, यथाशक्ति करते भी हैं । परन्तु सब साधनों की अनुकूलता के अभाव से, साथ ही स्वयं शास्त्रज्ञान की कमी से वह कर्म्म जिस विधि से होना चाहिए, नहीं होता । उदाहरण के लिए एक वकील को लीजिए, ऐसे प्लीडर को लीजिए, जो जाति से ब्राह्मण है, मातापिता जिसके परम सनातनधर्म्मी हैं । आर्थिक परिस्थिति के कारण जिसे पश्चिमी–शिक्षा का अनुगामी बन जाना पड़ा है । परन्तु संस्काराकर्षणवश श्राद्धादि कर्म्मों में उसका पूर्ण विश्वास है । श्राद्ध का समय है अपराह्न । १० बजे उसे नियम से कोर्ट में पहुँच ही जाना चाहिए । फलतः उसे १० बजे से पहिले पहिले ही श्राद्धकर्म्म का श्राद्ध करदेना पड़ता है । इस शास्त्रविरुद्ध श्राद्धकर्म्म से होने वाले प्रत्यवाय से वह विवश व्यक्ति कैसे बचे ?। वह जानता है कि मिथ्या बोलना पाप है । परन्तु उसे यह भी ध्यान है कि, बिना इस ब्रह्मास्त्रप्रयोग के वह सफल प्लीडर नहीं बन सकता । बतलाइए, इसके उद्धार का क्या उपाय ?।

५३–कलियुगानुगता महती--बिभीषिकाएँ, एवं तत्परित्राणोपायभूत अन्यतम--'भक्तियोग'–

निदर्शनमात्र है । त्रिगुणभावात्मिका प्रकृति के गर्भ में रहने वाले सर्वथा अल्पशक्ति मनुष्य के जीवन में पद पद पर ऐसे धर्म्मसङ्कट उपस्थित होते रहते हैं । कभी कभी तो ये सङ्कट जीवनसूत्र का भी विच्छेद कर डाल देते हैं । इन विषम परिस्थितियों में पड़ने से हमारा रहा सहा विवेकज्ञान भी लुप्त होजाता है, हम किंकर्त्तव्यविमूढ बन जाते हैं । हम ऐसी परिस्थितियों में या तो यह निर्णय कर डालते हैं कि–छोड़ो इन सब झगड़ों को । अथवा यह निश्चय कर लेते हैं कि, जैसे तैसे भिक्षाटन करके ही कालयापन करलेंगे । कौन इन सांसारिक वैभवों के पीछे दौड़े । इसप्रकार हमें स्वतएव क्लैव्यावस्थापन्न अर्जुन का उत्तराधिकार मिल जाता है । अब यदि हमारे अभ्युदय का कोई मार्ग बच जाता है, तो वह है एकमात्र श्रीकृष्ण का उत्तराधिकारी "गीताशास्त्र" । करुणावरुणालय भगवान् से हमें अवश्य ही आश्वासन मिलेगा । भगवान् हमें परिस्थिति से होने वाले पातकों से बचाएँगे । उसके लिए वे प्रयोग करेंगे उसी उपाय का, जो कि शास्त्रभक्तों की शास्त्र–निष्ठा को पूर्णरूप से सुरक्षित रखता हुआ, अर्द्धभक्तों, अभक्तों का भी अभ्युदय साधन करेगा । और वही उपाय होगा–इस 'पूर्वखण्ड' का मुख्य प्रतिपाद्य "भक्तियोग" ।

५४–शास्त्रनिष्ठ आरूढयोगी, शास्त्रानुगत आरुरुक्षु मानवश्रेष्ठ, और सांसारिक-अस्मदादि सामान्य मानव—

शास्त्रसिद्ध कर्म्मों का यथाविधि अनुष्ठान करने वाले कृतकृत्य, निर्लेप सिद्धयोगी सर्वथा परिगणित हैं । स्थूलदृष्टि से तो ऐसे सिद्धयोगी सर्वथा ही परे हैं । युगधर्म्म के परिज्ञाता वे सच्चे योगी आज के संसार के सामने नहीं आते । आते हैं तो कब ?, जबकि सर्वनाश का समय उपस्थित होता है । फलतः इनके सम्बन्ध में तो कुछ भी

विचार करना अनधिकारचेष्टा ही होगी । कुछ महापुरुष ऐसे हैं, जो संसार में रहते हुए, यमनियमादि उपायों से इन्द्रियसंयम करते हुए, विविक्तदेशसेवी बनते हुए शास्त्रसिद्ध कर्म्म-ज्ञान-भक्ति, तीनों में से किसी योग का अनुष्ठान कर रहे हैं । प्रवृत्युन्मुख अस्मदादि संसारियों की दृष्टि में अवश्य ही वे परिगणित व्यक्ति शास्त्र के सम्यक् अनुष्ठाता कहला सकते हैं । फलतः गीता के शब्दों में इन आरुरुक्षु (साध्यावस्थापन्न) योगियों की चर्चा करने का भी हमें अधिकार नहीं है ।

५४-धर्म्मसूत्र का सञ्चालक-भारतीय मानववर्ग, एवं उसकी विविध उपाधियाँ —

अब हमारे सामने चार प्रकार का मानव समाज उपस्थित होता है । एक समाज तो ऐसा है, जो शास्त्रों का पूरा भक्त है, शास्त्रमर्म्म का भी परिज्ञाता है, परन्तु कहने भर के लिए वह शास्त्रसिद्ध योगानुष्ठान का भी अभिमान करता है । साधारण जनता इन्हें आदर की दृष्टि से भी देखती है, यथाशक्य इनके उपदेश-श्रवण का भी कष्ट उठाती है । सनातनधर्म्म के आचार्य्य, सन्त, महन्त, महामहोपदेशक, उपदेशक, धुरन्धर विद्वान्, इन सबको हम एक स्वतन्त्र श्रेणि में प्रतिष्ठित मानते हैं । धर्म्मसूत्र का सञ्चालक आज यही समुदाय है । परिणाम क्या होरहा है ?, यह आदर्शवत् ही प्रकट है ।

५६-सहज श्रद्धाशील, किन्तु शास्त्रकर्म्मानभिज्ञ मानववर्ग —

कुछ एक श्रद्धालु ऐसे हैं, जो न तो संस्कृतभाषा का ज्ञान रखते, न परिस्थितिवश इच्छा रखते हुए भी अपनी जिज्ञासा ही शान्त करसकते । परन्तु शास्त्रों पर श्रद्धा विश्वास रखते हुए जैसे तैसे अस्तव्यस्त-रूप से शास्त्रसिद्ध योगत्रयी का अनुगमन करते रहते हैं ।

५७-शास्त्र से तटस्थ प्राकृत मानवों का प्रदर्शनात्मक-छलपूर्ण शास्त्र-शब्दोद्घोष—

कुछ एक महानुभाव ऐसे भी हैं, जो शास्त्र वास्त्र जानते वानते कुछ नहीं । न शास्त्रों वास्त्रों, एवं तत्सिद्ध योगों वोगों में इनकी भक्ति-बक्ति ही । अन्तर्जगत् में यह सब कुछ इनके लिए ढकोसला है । परन्तु अपने प्रभुसम्प्रदाय को प्रसन्न रखने के लिए, अथवा शास्त्रनिष्ठ व्यक्तियों को व्यामोह में डाल कर उनसे स्वार्थ साधन करने के लिए ये सज्जन प्रकट में शास्त्रभक्ति का प्रचण्ड प्रदर्शन करते रहते हैं, साथ ही कर्त्तव्य के सम्बन्ध में अयोग्यता शब्द को आगे कर छुट्टी पालते हैं । यही नहीं, उन श्रद्धालुओं की निन्दा भी किया करते हैं कि, "देखो, वे जैसा चाहिए वैसा नहीं कर अनर्थ कर रहे हैं । और हम, हाँ हम इस अनर्थ से बचे हुए हैं"—"अन्तःशाक्ता बहिः शैवाः" ।

५८-शास्त्रद्रोही, परिवर्त्तनवादी उच्छृङ्खल-मानववर्ग, और उसका अनर्गल प्रलाप—

अब एक ऐसा वर्ग हमारे सामने आता है, जिसका अन्तः, और बहिः, दोनों हीं समान धारा में प्रवाहित है । इनकी उत्पत्ति भी भारतवर्ष में हीं हुई है । जन्म से भी ये द्विजाति ही हैं । परन्तु परिवर्त्तनप्रिय ये महानुभाव युगधर्म्मानुसार या तो शास्त्रों का परिवर्त्तन चाहते हैं, अथवा फिर शास्त्र का नामशेष भी नहीं रखना चाहते । इनकी दृष्टि में नाश का एकमात्र कारण है-भारतीय शास्त्र, उनके प्रवर्त्तक महर्षियों के स्वार्थ !

पूर्ण आदेश। केवल अर्थबल पर गलित-पतित समाज को अपना अनुयायी बनाते हुए, इसी निकम्मे, पुरुषार्थशून्य 'संघठन' को 'सङ्गच्छध्वम्' से अनुगत पवित्र संघठन शब्द से कलङ्कित करते हुए, हिन्दुत्त्व की रक्षा का ठेका लेकर हिन्दुत्त्व के विनाश पर तुले हुए, भारतीय सभ्यता से विरोध रखने वाले न्यायालयों के साथ समझौता करते हुए, अशास्त्रीय, अतएव सर्वथा असत्य आग्रह को उन्नति का मूल मन्त्र मानते हुए ये ही आज प्रबलवेग से भारतीय आदर्श-एवं बचे खुचे-व्यवहारकाण्ड को भी निर्म्मूल बनाने में प्रयत्नशील बन रहे हैं।

५९-विविध वर्गों के विविध विसंवाद—

एक कहते हैं, करो कुछ मत, केवल हमाहा शास्त्र, हमारा शास्त्र, हमारा सनातनधर्म्म, हमारा सनातनधर्म्म पुकारते रहो। दूसरे कहते हैं, सब कुछ करो, कोई नियन्त्रण नहीं, धर्म्म का नाम निशान मिटादो। सम्भव हो तो शास्त्रों को समुद्रगर्भ में विलीन करदो। "हम हिन्दू हैं हिन्दुस्तान हमारा है, स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है"-इस वाक्य का पारायण करते हुए आगे बढ़ते चलो। विरोधियों को साम-दाम-दण्ड-भेद से, जैसे बने कुचलते जाओ।

६०-परस्परात्यन्तप्रतिद्वन्द्वी दो वर्गविभाग, एवं उनकी क्रमशः 'धर्म्म', तथा 'सुधार' के प्रति आचारशून्या दम्भप्रवृत्तियों का नग्न चित्रण—

एक ओर धर्म्म के ठेकेदार, तो दूसरी ओर हिन्दुत्त्व के ठेकेदार। सचमुच यह ठेकेदारी बड़ी भयङ्कर वस्तु है। जबतक हमारे इस पवित्र देश में ठेकेदारी न थी, तबतक हम पूर्ण सुखी थे। परन्तु जब से ठेके-दारी चली है, तब से प्रत्येक वस्तु का मूल्य तो बढ़ गया, परन्तु वस्तु का स्वरूप नष्ट होगया। भला लोक-प्रचलित इस ठेकेदारी से धर्म्म-और हिन्दुत्त्व कैसे बचा रह जाता ?। इन दोनों ठेकेदारों नें धर्म्म-और हिन्दुत्त्व का मूल्य तो अवश्य बढ़ा दिया। "प्रत्याशं प्रचरन्ति धर्म्मकथकाः"-के अनुसार आज आपको सर्वत्र सनातनधर्म्मसभा, आर्य्यसमाजमन्दिर, व्याख्यानवाचस्पति, महामहा-उपदेशक, प्रतिनिधिसभा, शाखा-सभा, उपशाखासभा आदि का प्राचुर्य्य मिलेगा। असंख्य मन्दिर, सहस्रशः मठ, आदि के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त होगा। प्रत्येक श्रीमान् अपने जीवन में एक दो मन्दिर, धर्म्मशाला बनाकर अक्षय पुण्य लूटता ही मिलेगा। परन्तु "सन्ध्यापि वन्ध्यायते"! कोने कोने में धर्म्म की दुहाई लगने पर भी आज कोई ठीक समय पर सन्ध्या जैसा आवश्यक कर्म्म भी तो नहीं करता। इसीप्रकार हिन्दुत्त्व की सुदशा का नग्न चित्र हमारे सामने है। सर्वत्र हिन्दुत्त्व का आर्त्तनाद व्याप्त है। यही क्यों, आज तो ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रादि नामों का स्थान भी तो इसी हिन्दुत्त्वने छीन लिया है। इसप्रकार विज्ञान-सिद्धान्त के अनुसार आदि और अन्त, दोनों एक ही हृद्बिन्दु पर प्रतिष्ठित होरहे हैं। "य एवादिः, स एवान्तः"।

६१-'ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः'—

लक्ष्य एक, अभिनिवेश समान, परन्तु फल में बड़ा अन्तर। ऐसा क्यों ?, उत्तर उसी योममाया से पूँछिए। धर्म्मानुयायी (किन्तु आलस्य की सजीव प्रतिमा) महानुभाव केवल आदर्शवाद में पड़कर योग-मायानुबन्धी लोकवैभव से भी हाथ धोबैठे। न इधर के रहे, न उधर के। "ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः"।

६२--विभिन्न वर्गों की पारस्परिक-अहमहमिका, और तद्द्वारा राष्ट्रवैभव का अभिभव—

उधर योगमाया के ही अनन्य भक्त हिन्दुत्वानुयायी महानुभाव परमार्थदृष्टि से अन्ध पथ का अनुगमन करते हुए भी लोकवैभवसंग्रह में बाजी मार लेगए । कुछ सहयोग कालपुरुष का मिला, कुछ नैतिक सहयोग, कुछ चातुर्य्य, और सबसे बड़ा सहयोग लोकवैभव की अधिष्ठात्री योगमाया का । फिर क्या था । उन्हें जहाँ पेट भर भी अन्न न मिला, वहाँ इन्होंनें अधिक खाते खाते वान्तियाँ करना आरम्भ कर दिया । एक वर्ग अधिक कृश होने से आचारधर्म्म में असमर्थ है, तो दूसरा वर्ग अधिक स्थूल होने से असमर्थ बना रहता हुआ—'**अशुभं कृत्वा मेद्यति**' को चरितार्थ कर रहा है । इन दो ठेकेदारों के बीच में थे दो वर्ग-एक श्रद्धालु, दूसरे अन्तःशाक्ता-बहिः शैवाः । आगे जाकर दोनों में कौन किस ठेकेदार का अनुयाथी बन गया ?, यह भी स्पष्ट कर लीजिए । "**समानशीलव्यसनेषु मैत्री**" प्रसिद्ध है । श्रद्धालुवर्ग का झुकाव धर्म्माभिनिविष्टों की ओर होना आवश्यकता था । नाम के श्रद्धालुओं, किन्तु घोर अश्रद्धालुओं झुकाव हिन्दुत्व के पक्षपतियों के साथ हुआ । हाँ, कुछ एक श्रद्धालु ऐसे भी रहे, जो अन्नग्रहगृहीत बन कर उधर न रहकर इधर ही रहे । परन्तु इनका आत्मा उधर ही रहा । इसप्रकार सम्भूय भारतीय मानववर्ग ६ भागों में विभक्त माना जासकता है । इतर देशानुयायियों में से अधिक देश तो उन राष्ट्रवादियों के अनुगामी रहे, और कुछ आत्मभिमानी धर्म्माभिनिविष्टों के पक्षपाती रहे । हम किसी विशेष प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर ही उक्त वर्गीकरण को साथ लेकर पाठकों के समक्ष उपस्थित हुए हैं । अतः हम अनुरोध करेंगे कि, उक्त ६ ओं विभागों को ध्यान में रखते हुए हीं पाठक आगे के प्रकरण पर दृष्टि डालेंगे--

१-(१) १-सिद्धयोगिनः—आरूढाः——जीवन्मुक्ताः

२-(२) २-साध्ययोगिनः—आरुरुक्षवः—मुक्त्यनुगामिनः

——*——

३-(१) १-धर्म्माभिनिविष्टाः-कर्म्मशून्याः-विशुद्धसिद्धान्तवादिनः (आत्मभक्ताः-ज्ञानभक्ता वा)

४-(२) २-श्रद्धालवः———कर्म्मणि—--अस्तव्यस्तरूपेण प्रवृत्ताः धार्म्मिकाः-उभयवादिनः उभयनिष्ठाः

——*——

५-(३) १-अश्रद्धालवः———श्रद्धाडम्बराः—कर्म्मशून्याः—उभयवादिनः—निष्ठाविच्युताः

६-(४) २--हिन्दुत्वाभिनिविष्टाः—धर्म्मशून्याः-—राष्ट्रवादिनः—(शरीरभक्ताः—कर्म्मभक्ता वा)

——*——

६३-धर्म्मभीरु युधिष्ठिर की भयावहा धर्म्मभीरुता, भगवान् के द्वारा तद्भर्त्सन, एवं अभिनिविष्ट पाण्डवों का उद्बोधन—

गीता की आवश्कता क्यों हुई ?, एवं गीता ने वह कौनसा उपाय तलाया, जिससे उक्त चारों वर्गों का अभ्युदय सम्भव है ?, इसके लिए महाभारतकालीन मानवसमाज पर दृष्टि डालिए, समाधान हो-

जायगा । उस युग के अन्वेषण से पाठक इस निश्चय पर पहुँचेंगे कि, उस युग में मानवसमाज की प्रायः वही अवस्था थी, जिस अवस्था का कि पर्व में दिग्दर्शन कराया गया है । सिद्धयोगियों की भी उस युग में कमी न थी । पराशर–व्यास–परशुराम–आदि सब इसी कोटि में माने जासकते हैं । और सबसे बड़े योगी, साक्षात् योगेश्वर भगवान् कृष्ण भी उस युग का महत्त्व बढ़ा रहे थे । विदुर–उद्धव–बलराम–आदि साध्ययोगियों की भी उस युग में कमी न थी । अब शेष चारों दलों का विचार कीजिए । धर्म्माभिनिविष्ट पाण्डुपुत्र पैत्रिक-सम्पत्ति से क्यों वञ्चित रहे ?, इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर है–धर्म्माभिनिवेश । इन्होंने स्वधर्म्म का वास्तविक मर्म्म न समझते हुए—**"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्"** इस नीति का तिरस्कार किया । युधिष्ठिर जानते थे कि, कौरव द्यूत के बहाने मेरा सर्वस्व अपहरण करना चाहते हैं । फिर भी अपनी धर्म्मभीरुता से कौरवों के निमन्त्रण को स्वीकार कर ही लिया । और फिर प्रतिज्ञा की रक्षा के लिए जो न करना चाहिए था, भातृवर्ग की उपेक्षा कर वह सब कुछ कर डाला । स्वयं भगवान् कृष्णने युधिष्ठिर के इस कर्म्म की कैसी भर्त्सना की है, यह भी ऐतिह्य-तथ्यवेत्ताओं से छिपा नहीं है । हमें मानना पड़ेगा कि, युधिष्ठिर में धर्म्म का पूर्ण अभिनिवेश था । वे संसारयात्रा से अपरिचित थे । इसी दोष से उन्हें कष्ट सहने पड़े । यदि भगवान् कृष्ण मध्यस्थ बन कर इन्हें न संभाल लेते, तो पाण्डवों को यावज्जीवन ही कष्ट सहने पड़ते ।

६४-धर्म्माभिनिविष्ट युधिष्ठिर, एवं राज्यलिप्सासक्त-दुर्योधन, दोनों वर्गों का उत्पथ-गमन–एवं तत्सम्बन्ध में भगवान् का महान् उद्बोधनसूत्र—

दूसरा वर्ग कौरवों का था । इसके अधिनायक दुर्योधन की मनोवृत्ति के स्पष्टीकरण की कोई आवश्यकता नहीं है । राज्यलिप्सा ही इसका परमधर्म्म था । अपनी इस सत्तालिप्सा के लिए दुर्योधन नीच से से नीच कर्म्म करने में भी लज्जा का अनुभव नहीं करता था । धर्म्माभिनिविष्ट पाण्डुपुत्रों पर इस दुर्बुद्धि ने कैसे कैसे अत्याचार किए, यह सर्वविदित है । इन दोनों आद्यन्त के वर्गों के अनन्तर दोनों मध्यस्थ वर्ग हमारे सामने आते हैं । भीष्म, दोण, कृपादि धर्म्मरहस्यवेत्ता थे, पूर्ण श्रद्धालु थे । परन्तु अन्नग्रह से इनका शरीर दुर्योधन के ही साथ था । अन्तरात्मा से ये दुर्योधन की पापवृत्ति के घोर विरोधी थे । परन्तु परिस्थिति ने इन्हें विवश कर रक्खा था । शकुनि-कर्ण-दुःशासनादि हृदय के बड़े कुटिल थे । ये प्रत्यक्षरूप से दुर्योधन की पापनीति का समर्थन कर रहे थे । तटस्थ स्वदेशी विदेशी राजाओं में से अधिक भाग दुर्योधन की ही ओर था, एवं स्वल्पभाग पाण्डुओं की ओर था । कारण स्पष्ट है । पापप्रवृत्ति के साधन संसार में अधिक सुलभ हैं । कौरव-पाण्डव-समर न था, अपितु धर्म्माभिनिविष्टों, एवं सत्ताभिनिविष्टों का समर था । दोनों वर्ग युद्ध के लिए सन्नद्ध थे, परन्तु उसी धर्म्माभिनिवेश ने सहसा सब काम चौपट कर दिया । अर्जुन में कार्पण्य-दोष का आविर्भाव होगया । स्वधर्म्म का रहस्य विलीन होगया । बस इसी **"विषमे समुपस्थिते"** भगवान् का वह उपाय अर्जुन के सामने आया । और उस उपाय का परिणाम यह निकला कि, अन्त में अर्जुन के मुख से—**"करिष्ये वचनं तव"** ये अक्षर निकल पड़े । धर्म्माभिनिविष्टों का अभिनिवेश हटाया गया, और उनके सामने एक सर्वोच्च-सिद्धान्त रक्खा गया, जिसके कि सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि-विश्व में शान्ति बनाए रखने के लिए गीता का वह एक सिद्धान्त ही पर्य्याप्त है । और उस सिद्धान्त का स्वरूप हैं—

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्"

६५–'ये यथा मां प्रपद्यन्ते, तांस्तथैव भजाम्यहम्' का समन्वय, 'धर्म्म' और 'नीति' का समतुलन, तथा भारतीय राजनीति की धर्म्मसापेक्षता—

"तुम्हारे साथ जो जैसा वर्त्ताव करै, तुम भी उसके साथ वैसा ही व्यवहार करो" इसी नीति के गर्भ में ही विश्वशान्ति का बीज प्रतिष्ठित हैं। जब जब भी समाज, किंवा राष्ट्र ने इस नीति की उपेक्षा की है, तब तब ही उसे आपत्ति का सामना करना पड़ा है। पाठक जानते ही होंगे, कि गौवंश को अपनी सेना के आगे करते हुए विदेशी आततायिनोंने भारतवर्ष की धर्म्मभीरुता से क्या कर डाला था ?, जिसका कि प्रतिफल आजतक भारतीय प्रजा को भोगना पड़ रहा है। इसी धर्म्माभिनिवेश ने आज भी हमें अपने कर्त्तव्यपथ से वञ्चित कर रक्खा है। हम मिथ्याश्रद्धा में पड़कर "जैसे के साथ तैसा" नीति को भूल कर अपना सर्वनाश कर बैठते हैं। विशुद्ध धर्म्मनीति लोकवैभव की शत्रु है, जबतक कि उसके साथ राजनीति का समन्वय न करा दिया जाय। हाँ, राजनीति के सम्बन्ध में हमें प्रत्येक दशा में यह ध्यान रखना पड़ेगा, कि इस राजनीति का लोक-अभ्युदय से ही सम्बन्ध है। किसी व्यक्तिविशेष, अथवा देशविशेष के स्वार्थों की रक्षा करने वाली राजनीति कुटिल नीति ही मानी गई है। विष्णुगुप्त चाणक्य भले ही इसका समर्थन करैं, परन्तु मन्वादि धर्म्माचार्य्य उसे विशेष महत्त्व नहीं देते। समृद्ध नन्दवंश को उखाड़ कर यदि चन्द्रगुप्त को सर्वाधिकार दिला दिया गया, तो इससे क्या हुआ। 'राजनीति', जिसे साधारण भाषा में हम 'चातुरी' भी कह सकते हैं*, लोकद्वयसाधिनी ही होनी चाहिए। और यह तभी सम्भव है, जबकि राजनीति के मूल में धर्म्म प्रतिष्ठित किया जाय। इतर देशों की राजनीति, एवं भारतीय राजनीति में यही सबसे बड़ा अन्तर है। इतरदेशों में राजदण्ड राजनीति का ही सञ्चालन करता है, किन्तु भारतवर्ष में धर्म्मदण्ड ही राजनीति का सञ्चालन करता है।

६६--धर्म्मसमन्विता राजनीति का ही अभ्युदय-निःश्रेयस्-करत्त्व, एवं धर्म्मभावुक पाण्डवों की धर्म्मभावना के साथ भगवान् के द्वारा नीति का समन्वय—

विचारदृष्टि से यह भी सिद्ध है कि, धर्म्मनीति का विशुद्ध सांख्यनिष्ठा से सम्बन्ध है, एवं राजनीति का विशुद्ध योगनिष्ठा (कर्म्मनिष्ठा) से सम्बन्ध है। विशुद्ध धर्म्मनीतिमूला ज्ञाननिष्ठा हमें लोकवैभव से वञ्चित कर देती है, एवं विशुद्ध-कर्म्मनिष्ठा हमें परमात्मसम्पत्ति से वञ्चित कर देती है। एक में विशुद्ध परमार्थ माना जाता है, दूसरी में विशुद्ध स्वार्थ है। वस्तुतः गीता की दृष्टि में दोनों हीं विशुद्ध स्वार्थ है। हाँ अपेक्षाकृत राजनीति में अवश्य ही स्वार्थ के साथ साथ थोड़ा परमार्थ भी है। भगवान् दोनों का भेद बुरा समझते हैं। गीतोपदेशकाल में भगवान् के सामने ये ही दो मार्ग उपस्थित थे। एक विशुद्ध धर्म्मनीति के अनुगामी बनते हुए राज्यवैभव से वञ्चित होरहे थे, दूसरा वर्ग विशुद्ध राजनीति का अनुगामी बनता हुआ विश्व-अशान्ति का कारण बन रहा था। भगवान् ने गीता के द्वारा दोनों का समन्वय किया। यद्यपि भगवान् ने विशुद्ध राजनीति-परायण दुर्य्योधन को भी समझाने में कोई न्यूनता नहीं की थी। वे चाहते थे कि दुर्य्योधन अपनी राजनीति में थोड़ा सा संशोधन करता हुआ धर्म्मनीति को उसका मूल बनाले। परन्तु स्वार्थी दुर्य्योधन पर भगवान् के उपदेश का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। फलतः भगवान् की उस दूसरे वर्ग पर दृष्टि गई, जो कि-विशुद्ध धर्म्मनीति का अनुयायी था। उसके साथ भगवान् ने क्या किया ?, यह सर्वविदित

* या लोकद्वयसाधिनी तनुभृतां–सा चातुरी चातुरी ।

है। उनमें राजनीति का समावेश कराया गया, और उसका मूल उद्देश्य रक्खा गया, लोक–अभ्युदय।

६७–आपद्धर्म्मविधया विशेष-परिस्थितियों में धर्म्मनीति की उपेक्षा, एवं विशुद्ध राजनीति का अनुगमन, तथा तन्निबन्धना-पाप-पुण्य-मीमांसा—

इसी लोक-अभ्युदय की भावना से भगवान् ने विशेष परिस्थियों में धर्म्मनीति की उपेक्षा करने में भी कोई हानि नहीं समझी। जिस धर्म्मराज ने अपने जीवन में कभी मिथ्याभाषण नहीं किया था, उसे "नरो वा कुञ्जरो वा" कहने के लिए विवश करना विशुद्ध राजनीति नहीं, तो और क्या है?। क्या युधिष्ठर ने ऐसा कहते हुए सत्यधर्म्म को धोका नहीं दिया?। दिया, और अवश्य दिया। इसी पाप के फल से भूपृष्ठ से ऊँचा चलने वाला युधिष्ठिर का रथ जमीन पर आठहरा। इसी पाप से युधिष्ठिर को कुछ समय के लिए नरक-स्थान में भी निवास करना पड़ा। धर्म्मनीति के सर्वथा विरुद्ध भीम को दुर्य्योधन की जङ्घा पर गदा-प्रहार के लिए सङ्केत करना क्या भगवान् का पुण्यकर्म्म था?। शस्त्र छोड़े हुए कर्ण पर प्रहार करने के लिए अर्जुन को प्रोत्साहित करना, धर्म्मभीरु अर्जुन के न न करने पर भी इसे उस निरस्त्र पर प्रहार करने के लिए विवश करना क्या पुण्यकर्म्म था?। शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा कर भीष्मवध के लिए सुदर्शन लेकर दौड़ पड़ना कौनसा धर्म्म-कर्म्म था?। जयद्रथ का धोके से वध करवा डालना कौनसी धर्म्मनीति थी?। इसप्रकार सैंकड़ों उदाहरण ऐसे दिए जासकते हैं, जिनमें विशुद्ध राजनीति का ही गन्ध उपलब्ध होता है। और धर्म्म की कसौटी पर कसने से उन्हें अधर्म्म ही मानना पड़ता है।

६८–भगवदवतार के सम्बन्ध में प्रासङ्गिक प्रश्न, और तन्निराकरण—

ऐसी दशा में प्रश्न होना स्वाभाविक ही है कि, जब भगवान् का अवतार धर्म्मग्लानि को दूर करने, एवं धर्म्म की प्रतिष्ठा के लिए ही हुआ था, तो फिर जान बूझ कर भगवान् ने अधर्म्मनीति का आश्रय क्यों लिया?। कुछ एक भावुक सज्जन तो यह कहने में भी लज्जा का अनुभव नहीं करते कि, "कृष्ण ने भारतवर्ष का कोई उपकार नहीं किया। अपितु दो शत्रुओं को लड़ा कर भारत के समृद्ध वैभव का नाश ही करवा डाला"।

उत्तर में कहना पड़ेगा कि, भगवान् की भौतिक-स्वरूपसत्ता में भी जब दुर्य्योधनादि आसुरजीव भगवान् की भगवत्ता समझने में असमर्थ होते हुए उनकी निन्दा से नहीं चूकते थे, तो आज यदि कोई मन्दबुद्धि भगवत्ता का अणुमात्र भी स्वरूप न जानता हुआ यदि उन पर किसी प्रकार का आक्षेप करता है, तो इसमें उसका कोई दोष नहीं है।

६९–प्राकृतिक-द्वन्द्वात्मक-भौतिक-विश्व-की गुण-दोषानुगति, एवं विश्व के सामूहिक, तथा वैय्यक्तिक हिताहित का तारतम्य—

हम कह चुके हैं कि, भगवान का प्रधान लक्ष्य है–विश्वशान्ति। यदि इसके लिए सर्वस्व की भी आहुति देनी पड़े, तब भी सौदा सस्ता ही माना जायगा। यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि, त्रिगुणा–

त्मिका योगमाया के द्वारा सञ्चालित इस विश्व में शुद्ध गुणविभूति कभी नहीं पनप सकती।। उत्तम से उत्तम कार्य्य में भी दोष का अनुषङ्ग अनिवार्य्य है—"**सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः**"। इसी आधार पर यह भी सिद्ध होजाता है कि, जिस कर्म्म से अधिक मनुष्यों का उपकार हो--वह ग्राह्य है, एवं उस महोपकार के सामने अल्पोपकारानुगामी कर्म्म उपेक्ष्य हैं। युधिष्ठिर–अर्जुनादि को पाप लगा होगा, उसका फल भी उन्हें भोगना पड़ा होगा। परन्तु विश्वहित के सामने व्यक्तिहित का कोई मूल्य नहीं है। और रही भगवान् की बात। सो उनके सम्बन्ध में हमें टीका-टिप्पणी करने का कोई अधिकार नहीं है। भगवान् तो एक व्यक्ति के उद्धार के लिए भी अपने आपको बन्धन में डालते सुने गए हैं। वानरमुखाकृति नारद के समुद्धार के लिए भगवदंश को मानवरूप (दाशारथि रामरूप) धारण करना पड़ा है, यह सर्वविदित है।

७०--महाभारतयुग से अनुप्राणिता प्रचण्ड--संघर्षावस्था के कतिपय उदाहरण—

फिर वह समृद्ध वैभव भी किस काम का, जिसका एकमात्र उद्देश्य हो स्वार्थलिप्सा को उत्तेजना देना। वे विविध आविष्कार भी किस काम के, जिनसे मानवसमाज की शान्तभावनाएँ कुचली जाँय ?। दुर्योधन का वैभव ऐसा ही था। और उस युग में शस्त्रास्त्रों का विकास भी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। बात बात में योद्धा महायुद्धों के लिए सन्नद्ध होजाते थे। भीष्म–परशुराम–स्पर्द्धा, अर्जुन-कर्ण--स्पर्द्धा, विराट् नगर में होने वाली कौरव–पाण्डव-स्पर्द्धा आदि इस सम्बन्ध में ज्वलन्त उदाहरण हैं। "**क्रुध्यन्तं प्रति न क्रुध्येत्-आक्रुष्टं कुशलं वदेत्**" लक्षण शान्तिभाव के अग्रदूत द्रोणाचार्य्य जैसे तपस्वी ब्राह्मण भी शस्त्र-बल से विरोधियों (द्रुपदराजा) को कुचलने की इच्छा रखते थे। ब्राह्मणबालक अश्वत्थामा भी अपने आपको वीरयोद्धा समझने में गौरव का अनुभव करता था। भला द्रोणाचार्य्य जैसे तपस्वी ब्राह्मण का राज्य-लिप्सा से क्या सम्बन्ध ?। एक ब्राह्मण क्यों किसी से रागद्वेष करे, जबकि मानवधर्म्मशास्त्र ने उसके लिए–"**कुर्य्यादन्यं न वा कुर्य्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते**" यह आदेश दिया है। परन्तु हम देखते हैं कि, गुरु-दक्षिणा में द्रोणचार्य्य द्रुपद को अपने शरण में लाने की कामना अभिव्यक्त कर बैठते हैं। और उनकी यह क्षुब्ध मनोवृति तबतक शान्त ही नहीं होती, जबतक कि वे द्रुपदराज्य का आधा भाग छीन कर "**अहिच्छत्रा**" को अपनी राजधानी नहीं बना लेते।

७१--विश्वशान्ति का प्रचण्ड शत्रु महाभारतकाल, एवं विश्वात्मिका धर्म्मग्लानि के उपशम के लिए ही अवतीर्ण भगवान् वासुदेव कृष्ण के साम्यभावापन्न उद्--गार—

सचमुच महाभारतकाल की समृद्धि विश्व के लिए, विश्व की शान्ति के लिए एक भयानक ही सन्देश था। भाई भाई का शत्रु था, प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने व्यक्तित्व को ही सर्वोच्च देखना चाहता था, नारीधर्म्म संकट में था, सामन्त-राजागण स्वार्थवश अन्याय के समर्थक बन रहे थे। यों वह वैभव हमारा सर्वस्व शान्त करने के लिए मुँह बाए खड़ा था। धरित्री व्याकुल थी, देवता सत्रस्त थे, धर्म्मग्लानि चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। कोई सांख्यनिष्ठा का बेसुरा राग आलाप रहा था, तो कोई यज्ञ यागादि को ही उन्नति का चरम लक्ष्य मान रहा था। क्षत्रिय (अर्जुनादि) मोहवश ब्राह्मणधर्म्म को श्रेष्ठ समझने लगे थे, तो ब्राह्मण (द्रोणादि) क्षात्रधर्म्म का अभिमान करने लगे थे। वर्णाश्रमधर्म्म अस्तप्राय था। कुपुत्र (कंसादि) पिताओं पर (उग्रसेनादि पर) अत्याचार करते लज्जित नहीं होते थे। तिर्य्यग्योनियाँ (गन्धर्वादि) विलासलीलाओं में निमग्न थीं। इस-

प्रकार उस महाभारतकालीन समृद्धवैभव के गर्भ में अत्याचार का ही दावानल प्रज्ज्वलित होरहा था। परिणाम-स्वरूप जगदीश्वर मानुषदेह में उसी अत्याचार की सीमा में (कंस के कारागार में) प्रकट होते हैं। उनके सामने सारी परिस्थिति प्रकट होती है। अब इनके लिए एकमात्र कर्त्तव्य है–शान्ति स्थापित करना। और इसके उपाय हैं-साम, अथवा तो दण्ड। महाभारतवेत्ताओं को विदित है कि, भगवान् कृष्ण ने सदा दण्डनीति के समतुलन में सदैव सहयोग की नीति को ही उचासन प्रदान किया है। अवैधक्रान्ति की अपेक्षा वैध सहयोगान्दोलन को ही श्रेष्ठ माना है। और मानवता का यह आग्रह भी है कि, जहाँतक सम्भव हो, यदि समत्वमूलक सहयोग से ही शान्ति होजाय, तो पहिले उसी के लिए पूर्ण प्रयास करना चाहिए। भगवान् समत्त्वयोग के आविष्कारक थे। दण्डनीति में भी समता आती है, परन्तु पहिले विषमता का ही सामना करना पड़ता है। उधर सामनीति में आरम्भ से ही समता की प्रधानता है। भगवान् ने पहिले वही किया। क्या कंस को समझाने में भगवान् ने कोई बात बाकी रक्खी थी !, शिशुपाल के कितने अपराध क्षमा किए ?। परन्तु जब सामनीति सफल न हुई, तो अन्त में भगवान् को सुदर्शन के द्वारा दण्डनीति का ही आश्रय लेना पड़ा। यही दशा कौरवों की हुई। जगन्नियन्ताने दूत बनने में भी सङ्कोच नहीं किया। वे नहीं चाहते थे कि, दो बन्धुओं में राज्यलिप्सा के कारण इसप्रकार रक्तपात हो, और भारत का समृद्धवैभव केवल इतिहासपत्रों की ही वस्तु बना रह जाय। परन्तु वे यह भी सहन नहीं कर सकते थे कि, अत्याचारी अधिकारसिद्ध न्यायोचित सत्त्व को भी पूरा न करें। समृद्धि भी बनी रहे, कोई अपनी आधिकारिक-सम्पत्ति से भी वञ्चित न रहे, दोनों लक्ष्य सामने रखकर ही भगवान्ने एक बार पुनः शान्ति की इच्छा प्रकट की। युधिष्ठिर ने बतलाया कि भगवन्! अब शान्ति की चेष्टा व्यर्थ है। मुझे विश्वास है कि, आपके सदुपदेश का दुर्योधन पर कोई प्रभाव न पड़ेगा *। परन्तु भगवान् क्या उत्तर देते हैं, सुनिए!। युधिष्ठिर! मैं धृतराष्ट्र की पापवासना को भलीभाँति जानता हूँ। और यह भी समझता हूँ कि–मुझे सन्धि के लिए गया सुनकर राजागण अनेक प्रकरण के अपवाद उठाएँगे। कहेंगे–युधिष्ठिर अपनी निर्बलता से डर कर सहयोग की भिक्षा के लिए कृष्ण को भेज रहा है। कदाचित् तुझे यह आशङ्का हो कि, मुझे एकाकी पाकर कौरव मेरा कुछ अनिष्ट कर डालेंगे, तो इस ओर से तुझे निश्चिन्त ही रहना चाहिए। अणुमात्र भी अविवेकता करने पर मैं सम्पूर्ण कौरवों को वहीं भस्मसात् कर दूँगा ÷। राजन्! यदि वे मान गए, तो अभ्युदय है,

---

* न ममैतन्मतं कृष्ण ! यत्त्वं यायाः कुरुन्-प्रति ।
सुयोधनः सूक्तमपि न करिष्यति ते वचः

—महाभारते-उद्योगपर्वणि ७२ अध्याये ८२ श्लोक ।

÷ जानाम्येतां–महाभाग ! धार्त्तराष्ट्रस्य पापताम् ॥
अवाच्यास्तु भविष्यामः सर्वलोके महीक्षिताम् ॥१॥
न चापि मम पर्य्याप्ताः सहिताः सर्वपार्थिवाः ॥
क्रुद्धस्य संयुगे स्थातुं सिंहस्येवेतरे मृगाः ॥२॥
अथ चेत्–प्रवर्त्तन्ते मयि किञ्चिद साम्प्रतम् ॥
"निर्दहेयं कुरून् सर्वान्"–इति मे धीयते मतिः ॥३॥

—म० उ० ७२ अ०। ८५,८६,८७ श्लो०।

अपयश दोनों अवस्थाओं में समान है । अवाच्यवादियों का मुख कौन रोक सकता है ? । इसप्रकार युधिष्ठिर का परितोष कर लीलाधर दूतवेश में कौरवसभा में पहुँचते हैं, और वहाँ समयोचित वाणी का प्रयोग करते हुए कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच—कुरूणां पाण्डवानाञ्च शमः स्यादिति भारत ! ॥
अप्रणाशेन वीराणामेतद्--याचितुमागतः ॥१॥
राजन् ! नान्यत्--प्रकर्त्तव्यं तव नैःश्रयसं वचः ॥
विदितं ह्येव ते सर्वं वेदितव्यमरिन्दम ! ॥२॥
क्षात्रधर्म्मादमेयात्मा नाकम्पत युधिष्ठिरः ॥
अहं तु तव, तेषां च श्रेय इच्छामि भारत ! ॥३॥
धर्मादर्थात् सुखाच्चैव मा राजन्नानशः प्रजाः ॥
अनर्थमर्थं मन्वानोऽप्यर्थं चानर्थमात्मनः ॥४॥
लोभेऽतिप्रसृतान् पुत्रान्--निगृहीश्व विशांपते ! ॥
स्थिताः शुश्रूषितं पार्थाः स्थिता याद्धु मरिन्दमाः ॥५॥
यत्ते पथ्यतमं राजँस्तस्मिंस्तिष्ठ परंतप ! ॥६॥
—म० उद्यो० ६५ अ० ।

उपस्थित ब्राह्मण मण्डलीने, एवं कण्व नारदादि महर्षियोंनें कृष्णसन्देश का पूर्ण समर्थन किया। उन्होंनें दुर्य्योधन के सामने निम्नलिखित बिभीषिका भी उपस्थित की कि—

सुहृदां हि धनं भुक्त्वा कृत्वा प्रणयमीप्सितम् ।
प्रतिकर्त्तुमशक्तस्य जिवीतान्मरणं वरम् ॥

७२–आततायीवर्ग और तदनुप्राणिता अनिवार्य्या दण्डनीति—

तत्र समवेत राजन्यमण्डली की भी यही सम्मति रही। परन्तु * परिणाम जो कुछ हुआ, वह सर्वविदित है। इसप्रकार साम्यप्रिय भगवान् की सामनीति जब सफल नहीं होती, तो अगत्या उन्हें दण्डनीति का ही आश्रय लेना पड़ता है। भगवान् निश्चय कर लेते हैं कि, ये आततायी बिना वधदण्ड के नहीं मानेंगे। अत--

* यद्यपि अन्तर्य्यामी भगवान् पहिले से ही इस परिणाम को जानते थे। परन्तु लोक--शिक्षण के लिए ही उन्होंनें सहयोगनीति का प्रथम आश्रय लिया। यदि भगवान् ऐसी शिक्षा न देते तो "यद्यदाचरति" के अनुसार दण्डशक्ति में असमर्थ रहता हुआ भी सामान्य जनसमाज उद्दण्डता का ही आश्रय प्रधान मान बैठता।

एवं विवश होकर विश्वशान्ति के उदात्त उद्देश्य की सिद्धि के लिए भगवान् को भारत के उस समृद्ध वैभव का बलिदान ही करदेना पड़ा है। ऐतिह्य-घटनाओं का अन्वेषण किए बिना हीं भगवान् कृष्ण पर समृद्धिनाश का कलङ्क लगाने वाले सचमुच ही महापातकी हैं!

७३-गीतानुगत आत्ममूलक साम्यवाद, तथा भूतमूलक वर्त्तमान साम्यवाद (कम्यूनिज्म) का समतुलन----

साम्यवाद का शब्द प्रसङ्गत: उपस्थित होपड़ा। अतएव प्रसङ्गवश इस के सम्बन्धमें भी किञ्चिदिव निवेदन करदेना आवश्यक होगया है। गीतोक्त साम्यवाद, और वर्त्तमानयुग में प्रचलित साम्यवाद में कितना, और कैसा अन्तर है?, यह 'गीताभूमिका-प्रथमखण्ड' में संक्षेप से बतलाया जाचुका है। गीता का साम्यवाद **'आत्मसाम्य'** से सम्बन्ध रखता हुआ राजतन्त्र पर प्रतिष्ठित है, एवं इस का मूल **एकेश्वरवाद** है। वर्त्तमान साम्यवाद **भूतसाम्यवाद (जो कि सर्वथा असम्भव है)** से सम्बन्ध रखता हुआ प्रजातन्त्र पर प्रतिष्ठित है, एवं इसका मूल **अनीश्वरवाद** है। यह साम्यवाद (**कम्यूनिज्म**) तो **भौतिक-लिप्सा** को उत्तरोत्तर समुत्तेजित ही करता रहता है। **साम्यवाद**, किंवा **सहयोग** वही श्रेष्ठ है, जिस के मूल में **धर्म्मनीति** प्रतिष्ठित है। हमारे राष्ट्रवादी साम्यवादमूलक सहास्तित्त्वनिबन्धन जिस सहयोगभाव की आकाङ्क्षा रख रहे हैं, वह धर्म्मनीति से वञ्चित रहता हुआ, साथ ही धर्म्मनीति का विरोध करता हुआ, गीता के साम्यवाद से संसिद्ध वर्णभेद का घोर शत्रु बनता हुआ सर्वथा हानिकार ही है।

७४-गीता का विश्वशान्ति-मूलक महान् सूत्र, एवं उस का समन्वय-दिग्दर्शन—

हाँ, तो अब पुन: प्रकृत का अनुसरण कीजिए। हमने बतलाया है कि, विश्वशान्ति के लिए गीता का **'जैसे के साथ तैसा'** सिद्धान्त ही पर्य्याप्त है। अवश्य ही विगत शताब्दियों में हमने इस सिद्धान्त की उपेक्षा कर अपना सर्वस्व ही खोदिया है। और आज भी हम अपनी अन्धश्रद्धा के कारण भावावेश में आकर उक्त आदेश की अवहेलना ही करते जारहे हैं। यह जानते हुए, एवं मानते हुए भी कि, अमुक व्यक्ति ने समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त कर अभिमान में पड़कर समाज को अशान्त बना रक्खा है, हम मौन धारण कर सामान्य जनप्रवाह की हाँ में हाँ मिलाते हुए उसकी घातक प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखने का ही यत्न किया करते हैं। अयोग्य व्यक्तियों की पूजा-प्रतिष्ठा ही हमारे पतन का मुख्य कारण है। यदि हमें अपना, अपने समाज का, अपने राष्ट्र का, एवं विश्व का अभ्युदय अभीष्ट है, तो जिस अन्धश्रद्धामयी व्यक्तिपूजा ने आज प्रधान-आसन ग्रहण कर रक्खा है, उसका समूल विनाश कर ही देना पड़ेगा। यदि कोई साम्प्रदायिक आचार्य्य व्यक्तिप्रतिष्ठा से अनुचित लाभ उठाने का प्रयास करेगा, तो समाज पहिले सामनीति से काम लेगा, अन्यथा दण्डनीति को अपनाएगा। यदि कोई राष्ट्रीय नेता अर्थातिमान, यशोऽतिमान, आदि में पड़कर व्यक्तिप्रतिष्ठा में प्रवाहित होता हुआ यथेच्छ-अनर्गल आदेश देने लगेगा, तो हमें उसकी भी चिकित्सा कर ही देनी पड़ेगी। उद्दण्डता-अन्याय-अधर्म्म-की क्षणमात्र भी उपेक्षा नहीं की जायगी। प्रतिपद पर हमारी-"**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**" यही नीति रहेगी, और इसी से हमारा अभ्युदय सम्भव, तथा सुनिश्चित बन सकेगा।

७५–भक्तिमार्ग का कर्म्मबन्धन-विमोकत्त्व—

उक्त सिद्धान्त के साथ साथ हमें भगवदुपदिष्ट उस उपाय का भी आश्रय लेना पड़ेगा, जिसके कि सम्बन्ध में—**'कर्म्मबन्धं प्रहास्यासि'** यह सूक्ति प्रसिद्ध है। धर्म्मनीति में राजनीति का समावेश करना पड़ेगा, एवं राजनीति में धर्म्मनीति का समावेश करना पड़ेगा। सांख्य को योगानुयायी बनाना पड़ेगा, एवं योग को सांख्य का अनुयायी बनाना पड़ेगा। ईश्वर के ज्ञानभाग में कर्म्म को युक्त करना पड़ेगा, एवं कर्म्मभाग को ज्ञानपर प्रतिष्ठित करना पड़ेगा। और इसी **भक्तिमार्ग** से हम सर्वसिद्धि में समर्थ बन सकेंगे।

७६–अभ्युदय-निःश्रेयस्-संसाधक-गीता का भक्तियोग –

प्रश्न हमारे सामने यही था कि, श्रद्धालु व्यक्ति शास्त्रपद्धति का इस युग में यथावत् अनुष्ठान नहीं करसकते। कुछ श्रद्धालु तो किसी भी शास्त्रीय **ज्ञान–कर्म्म–भक्ति**-योग का अनुष्ठान नहीं करसकते। एवं भारतेतर देशवासियों को शास्त्रीय योगत्रयी का अधिकार ही नहीं। अतएव वे भारतीय सनातनधर्म्म के अनुगामी नहीं। इन सब के अभ्युदय का क्या उपाय ?, उत्तर यही **भक्तियोग**।

७७–साक्षीसुपर्ण का अंशभूत भोक्तासुपर्ण, दोनों के इच्छातन्त्र, एवं ईश्वरेच्छा के द्वारा ही जीवेच्छा की प्रक्रान्ति—

श्रद्धालुवर्ग को अपनी अवैध-शास्त्रीय-योगत्रयी में यही भय है कि, "हमें प्रायश्चित का भागी बनना पड़ेगा"। यह भय तभीतक है, जबतक कि हमारा कर्म्म, हमारा-ज्ञान, हमारी भक्ति **'हमारे'** हैं। अध्यात्मजगत् में हमने **प्रत्यागात्मा, एवं शारीरक आत्मा**, नाम के दो विवर्त्त बतलाए हैं। सर्वव्यापक देहस्थित **परमात्मा** ही प्रत्यगात्मा है, यही आध्यात्मिक हृदयस्थ **ईश्वर** है, एवं इसी को विज्ञानभाषा में **साक्षीसुपर्ण** कहा जाता है। देहस्थित-भावना–वासना-संस्कारों से सुवासित **देहाभिमानी आत्मा** हीं शारीरक आत्मा है, एवं यही **"भोक्तासुपर्ण"**नाम से प्रसिद्ध है। **पहिला वेदान्त-सम्मत सर्वव्यापक चैतन्य है, तो दूसरा प्राधानिक-सम्मत प्रतिशरीर भिन्न चैतन्य है**। इन दोनों हीं आत्माओं का स्वाभाविक योग अविद्याके आवरण **से** अयोगभाव में परिणत होजाता है। इसी अयोग से प्रत्यगात्मा के द्वारा आनेवाली इच्छा को जीवात्मा अपनी इच्छा समझने लगता है। और निश्चेपन यह इच्छास्वातन्त्र्य **ही** कर्म्मबन्धन का कारण बनता है।

७८–ईश्वरेच्छा-निबन्धना योगत्रयी का प्राधान्य, एवं तद्द्वारा 'अस्मत्कर्तृत्त्व'–विमोहन की उपशान्ति —

इसी दृष्टिबिन्दु के माध्यम से भगवान् हमें आदेश करते हैं कि, जिसे तुम अपनी इच्छा समझ रहे हो, विश्वास करो ! वस्तुतः वह ईश्वरेच्छा ही है। हृदयस्थ तन्त्रायी जगदीश्वर की ही प्रेरणा है, मेरी (अव्यय की) ही प्रेरणा है। जिस दिन तुम इस रहस्य पर विश्वास करलोगे, उस दिन तुह्मारी योगत्रयी प्रायश्चित्तभाव से सर्वथा ही मुक्त होजायगी। वैध हो, अथवा अवैध, योग कभी अनिष्ट नहीं करता। अनिष्ट का तो एकमात्र कारण **है**–इच्छास्वातन्त्र्य। **"हम करते हैं"** यही भावना उस योग के **सम विषम फल** के साथ हमें बद्ध कर देती है। यदि ईश्वरार्पणबुद्धया हम श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक अवैध–विधि–से भी योगत्रयी का अनुष्ठान करते हैं, तो वह योगत्रयी वैध बन जाती है, और उस समय परिताप को कभी अवसर नहीं मिलता।

७९-महायन्त्रानुगत विविध क्षुद्रयन्त्र, एवं महायन्त्रानुगता महती प्रेरणा से ही क्षुद्रयन्त्रों की गतिशीलता—

बात है थोड़ी अटपटी सी, परन्तु अनुभवसिद्ध। वास्तव में न हम कुछ करते, एवं न कुछ करसकते। जिसप्रकार गङ्गाप्रवाह में पड़ा हुआ एक तृण गङ्गाप्रवाह के साथ साथ प्रवाहित रहता है, इस प्रवाह में 'तृणेच्छा' का कोई मूल्य नहीं हैं, एवमेव हम भी उस संसारप्रवाह में एक तृण से अधिक कोई महत्त्व नहीं रखते। जिधर संसारचक्र जारहा है, विवश होकर हमें भी उसी ओर जाना पड़ता है। एञ्जिन का महायन्त्र अपने उदर में अनन्त छोटे छोटे यन्त्र प्रतिष्ठित रखता है। महायन्त्र के साथ साथ उन्हें भी घूमते रहना पड़ता है। छोटे यन्त्र महायन्त्र की **भक्ति** (भाग-अवयव) बने हुए विवश होकर उसके साथ घूमते रहते हैं। जब महायन्त्र अवरुद्ध (बँद) होजाता है, तो तत्काल ये क्षुद्रयन्त्र भी अपनी गति छोड़ बैठते हैं। ठीक इसीप्रकार यह **सप्तवितस्तिकायात्मक, महामायामय महाविश्व भी ईश्वर का महायन्त्र ही है।** **सूर्य्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्र-ऋषि-पितर-देवता-गन्धर्व-लोकपाल-दिक्पाल-मनुष्य-पशु-पक्षी-कृमि-कीट,** आदि सब इस महायन्त्र के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने वाले, महायन्त्र की भक्ति बने हुए छोटे छोटे यन्त्र हैं। **कर्म्ममय ईश्वरात्मक महायन्त्र** अनवरत घूमता रहता है। इससे बद्ध उन क्षुद्रयन्त्रों को भी विवश होकर घूमना पड़रहा है। इन क्षुद्रयन्त्रों की स्वतन्त्र इच्छा का कोई भी मूल्य नहीं है।

८०-मानवीय जीव की इन्द्रियवर्गानुगता विविध-इच्छाएँ, एवं महायन्त्रात्मक तन्त्रायी ईश्वर के द्वारा ही तदिच्छाओं का सन्तनन—

हाथ का उठना, पैर का आगे बढ़ना, मुख से शब्द निकलना, नासिकासे गन्धका ग्रहण होना, यह सब कुछ (व्यवहारदृष्ट्या) जैसे हमारी इच्छा मानी जाती है, हाथ-पैर-मुख-नासिका-कर्ण आदि अपनी इच्छा से कुछ नहीं करते। ये सब हमारे ही अवयव हैं, एवं इन अवयवों की इच्छा हमारी ही इच्छा है, ठीक इसी प्रकार हम सब उस ईश्वरशरीर के ही अवयव हैं। ईश्वरेच्छा ही हमारी इच्छा है। भोजन-पान-शयन-जागरण-सब कुछ उसी की इच्छा से प्रक्रान्त हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, इच्छा को हम (जीवात्मा) कभी उत्पन्न नहीं करते। अपितु ईश्वर के द्वारा अपने आप विनिर्गता इच्छा का ही हम **"हमारी इच्छा है"** इन शब्दों में अभिनय करते रहते हैं। **"मैं अब भोजन करूँ"** इस इच्छा के लिए हम अपनी ओर से कोई व्यापार नहीं करते। इच्छा होजाती है, तब हम उसे पहिचान पाते हैं। मानना पड़ेगा कि, अवश्य ही हमसे (जीव से) पृथक् कोई तत्त्व अन्तर्जगत् में ऐसा प्रसिष्ठित है, जिसकी प्रेरणा से ही इच्छा की अभिव्यक्ति होती रहती है, और हम उस इच्छा के निमित्तमात्र ही बनते रहते हैं। प्रत्यगात्मसम्बन्धिनी इसी ईश्वरेच्छा का दिगदर्शन कराते हुए भगवान् कहते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

८१-महायन्त्रात्मक ईश्वर की जीवानुबन्धिनी-भक्ति, और 'भक्तियोग'—

जब यह सिद्ध है कि, हम हमारी इच्छा से कुछ नहीं करते, हम निमित्तमात्र हैं, तो परेच्छा से संचालिता योगत्रयी कभी बन्धन का कारण नहीं बन सकती। राजा की इच्छा से यदि एक वधिक किसी अपराधी

का वध कर देता है, तो इस में उस वधिक का क्या अपराध ?। उसने तो वेतन में अपना आत्मसमर्पण करते हुए **'राजा की भक्ति'** प्राप्त कर रक्खी है। शास्त्रीय कर्म्म विधिपूर्वक न हुए, तो हमारा क्या दोष ?। ईश्वरेच्छा ने जैसा चाहा, कर लिया गया। **ईश्वर की 'भक्ति' बन** कर योगानुष्ठान करने से कभी पतन का भय नहीं है।

८२–आध्यात्मिक–राष्ट्रानुगता सहज–शान्ति का 'एकायतन' रूप ईश्वरार्पणात्मक भक्तियोग—

यदि पैर में काँटा लग जाता है, तो हाथ दौड़ पड़ते हैं। यदि पैर गड्ढे की ओर बढ़ रहे हैं, तो आँख बचा लेती हैं। उदर की बुभुक्षा हाथ के द्वारा प्रक्षिप्त भुक्तान्न शान्त कर देता है। इसप्रकार परस्पर कोई सम्बन्ध न रखने वाले शरीरावयव एक दूसरे की सहायता करते हुए **'आध्यात्मिक राष्ट्र'** को शान्त बनाए रखते हैं। जिसप्रकार हस्तपादादि हमारे अवयव है, तद्वत् हम उस ईश्वरशरीर के अवयव हैं। **सब का वह एक आत्मा है–"सर्व्वेषामेकायतनम्"**। जिसप्रकार हस्तपादादि अनेक शारीरिक अवयवों का आत्मा एक ही है, तथैव अवयवात्मक सम्पूर्ण भूतों का प्रत्यगात्मा भी एक ही है। जिसप्रकार आध्यात्मिक राष्ट्र की शान्ति के लिए सम्पूर्ण शारीरिक अवयव विरोध से दूर रहते हुए एक दूसरे की सहायता में तत्पर रहते हैं, एवमेव मनुष्यमात्र को **"सर्वभूतात्मभूतात्मा"** सिद्धान्त को आगे रखते हुए परस्पर सहयोग की ही भावना रखनी चाहिए। **अपना–कर्म्म, अपना ज्ञान, अपनी भक्ति** विश्वेश्वर के महायन्त्र की स्वस्ति शान्ति में ही समर्पित कर देने चाहिएँ।

८३–विधि–वञ्चिता योगत्रयी, तदनुबन्धी भक्तियोग, एवं ईश्वरार्पणानुग्रह से तदुपयोगिता का समन्वय-प्रयास—

आँख का काम है–देखना, नाक का काम है–सूँघना, मुख का काम है–बोलना। इसप्रकार इश्वरने सब इन्द्रियों के ज्ञान-कर्म्म पहिले से ही नियत कर रक्खे हैं। क्या हमने अपनी इच्छा से इन्द्रियों का, एवं इन्द्रियधर्म्मों का निर्म्माण किया है ?। नहीं। तो ऐसी दशा में हमारी इच्छा का क्या मूल्य है ?। आँख का कर्म्म जब देखना है, तो वह देखेगी ही। इस देखने से हमारा (आत्मा का) क्या सम्बन्ध ?। न मैं खाता हूँ, न सुनता हूँ, न बोलता हूँ, मेरी इच्छा से होता ही क्या है ?। यदि मेरी इच्छा ही सब कुछ हो तो मैं दरिद्र क्यों रहूँ ?। क्यों रोगी बनूँ ?। क्यों दुःखी रहूँ। वस्तुस्थिति तो वास्तव में ऐसी है कि, मैने उस ईश्वरेच्छा का तिरस्कार कर के ही दुःखों का क्रय कर लिया है। शास्त्रीय योगों को अविधिपूर्वक करने से हम प्रायश्चित्त से कैसे बचें ?, इस का एकमात्र उपाय यही भक्तियोग (**प्रत्यगात्मेच्छा में आत्मसमर्पण**) ही है। इसी उपाय का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् कहते हैं—

१–संन्यास्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥
२–योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

३-"नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन्-शृण्वन्-स्पृशन्-जिघ्रन्-अश्नन्-गच्छन्-स्वपन्-श्वसन् ॥
४—प्रलपन्-विसृजन्-गृह्णन्-उन्मिषन्-निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्ते, इति धारयन् ॥
५—ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

८४–अपूर्णता को पूर्णता प्रदान करने वाला विशिष्टसन्धाना भक्तियोग, तदनुबन्धी आत्मसमर्पण एवं गीतावचन-समन्वय-प्रयास—

प्रलपन्–श्वसन्-उन्मिषन्-निमिषन् आदि शब्दों में बड़ा ही चमत्कार है। प्रलापी (पागल) मनुष्य जो कुछ बोलता है, उसका परेच्छा से ही सम्बन्ध है। यदि कोई पागल किसी को गाली भी दे देता है, तो वह अपराधी नहीं माना जाता। न्यायधीश भी उसे "**यह अपने वश में नहीं है**" कह कर छोड़ देता है। भगवान् कहते हैं—तुम अपनी वाणी को प्रलाप समझो। समझो कि, मैं अपनी इच्छा से नहीं बोलता। अपितु कोई दूसरा ही मुझे बुलवा रहा है। आँखों की पलकों में उन्मेष (ऊँचा चढना) निमेष (नीचे गिरना) स्वाभाविक हैं। हमें ध्यान भी नहीं रहता, और यह कर्म्म होता रहता है। इच्छा करते हैं,-श्वास-रोकलें, परन्तु कितनी देर ?। "करिष्यवशोऽपि तत्"। हमारे न न करने से कभी इस स्वाभाविकी इच्छा का नियन्त्रण नहीं होसकता। जो कुछ होरहा है, उसे होने दो। अपनापन समाविष्ट मत होने दो। जो कुछ होरहा है, उसमें अपनापन लगाना उसीप्रकार अपने आपको आपत्ति में डाललेना है, जैसे कि पुलिस की तहकीकात में राय देकर अपने आपको फँसाना है। ऐसी दशा में उन श्रद्धालुओं का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि, सुविधानुसार वे जिस योग का जिस रूप से भी अनुष्ठान करते हैं, सब के मूल में प्रत्यगात्मभावना को ही मुख्य आधार बनालें। प्रत्यगात्मा पूर्ण है, यही सन्धाता है। यदि उनका कर्म्म अपूर्ण होगा, तो 'प्रत्यगात्म-भक्ति' उसे पूर्ण कर देगी, यदि त्रुटियुक्त होगा, तो वही त्रुटि का सन्धान भी कर देगी। इसप्रकार शास्त्रीय योगत्रयी का यथावत् अनुष्ठान करने में असमर्थ रहते हुए भी ये श्रद्धालु क्रमशः सिद्धि प्राप्त करने में समर्थ होजाँयगे—"**स्वकर्म्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः**"।

८५–वर्त्तमान भक्तिवाद के बन्धन, अभिनिवेश, अविद्या-आदि अतिमानात्मक-दोष—

"**अपनी इच्छा का स्वातन्त्र्य हटा कर उसके स्थान में ईश्वरेच्छा का समावेश समझना**" इस वाक्य में भी यत्किञ्चित् पतन का भय है। यत्किञ्चित् भी असावधानी से यह ईश्वरेच्छा जीवेच्छा से भी कहीं अधिक आसक्ति की जननी बन जाती है। और हमें कहना पड़ेगा कि, आज हमने भक्ति का वास्तविक मर्म्म न समझते हुए अपने प्रज्ञापराध से ईश्वरेच्छा को भी आसक्ति की ही जननी बना लिया है। वर्त्तमान भक्तिवाद का निष्कर्ष है—**बन्धन, अभिनिवेश, अविद्या,** जैसाकि पाठक आगे जाकर देखेंगे।

८६–प्रत्यगात्मानुगत-'मन्मनाभाव', एवं शारीरकात्मानुगत-'उन्मनाभाव'—

ईश्वरेच्छा के सम्बन्ध में हमें **"मन्मना–उन्मना"** * इन दो प्रतिद्वन्द्वी शब्दों पर दृष्टि डालनी पड़ेगी। मनोवृत्ति को बहिर्मुख रखना ही **'उन्मनाभाव'** है, एवं अन्तर्मुख रखना ही **'मन्मनाभाव'** है। शारीरक [जीव] आत्मा **"जीवभूतां महाबाहो"** ! के अनुसार **अक्षरप्रधान** है। प्रत्यगात्मा [ईश्वर] अव्ययप्रधान है, एवं भौतिक विश्व क्षरप्रधान है। जीवात्मा के इस ओर अव्यय का साम्राज्य है, एवं उस ओर क्षर का वैभव है। अक्षरप्रधान जीवात्मा को क्षरानुगामी बनाने वाला इन्द्रिययुक्त मन ही है, एवं अव्ययानुगामी बनाने वाली बुद्धि ही है। **प्रत्यगात्मा–बुद्धि–जीवात्मा–मन–बहिरङ्ग भौतिक विषय,** यह क्रम है। बुद्धि के द्वारा जीवात्मा प्रत्यगात्मा का भक्त बनता हुआ जहाँ **मन्मना** रहता है, वहाँ मन के द्वारा बहिरङ्ग विषयों का भक्त बनता हुआ **'उन्मना'** रहता है। मन्मनावृत्ति में जीवात्मा अव्यय का भक्त है, एवं उन्मनावृत्ति में क्षर का अनुयायी है।

८७–सर्वभूतनिगूढ-गुहानिहित-सुगुप्त-सर्वभूतान्तरात्मा, एवं तन्निबन्धन भक्ति-योग—

अव्ययलक्षण प्रत्यगात्मा **"एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते"** के अनुसार निगूढ़ है, गुप्त है, सुगुप्त है, परोक्ष है। क्षरलक्षण विषय **"क्षरः सर्वाणि भूतानि"** के अनुसार प्रकट हैं, प्रत्यक्ष हैं। यदि हमारी भक्ति प्रकट है, तो हम सुगुप्ता अव्ययभक्ति से वञ्चित हैं। **"सब कुछ भगवान् की इच्छा से होता है"** इस वाक्य का घन्टाघोष करना व्यक्त भक्तिभाव है। इस व्यक्तवाद से जीवात्मा ईश्वरेच्छा का गुणानुवाद करता हुआ भी व्यक्त क्षर का अनुगामी बना रहता है। फलतः अव्ययनिष्ठा से वञ्चित रहजाता है। यही इसका उन्मनाभाव है।

८८–मन्मनाभावानुगता-अव्यभिचारिणी भक्ति, एवं उन्मनाभावानुगता व्यभिचारिणी-भक्ति—

इन्हीं दोनों वृत्तियों के लिए विज्ञानभाषा में क्रमशः **अभिमान**, और **अतिमान** ये दो शब्द प्रयुक्त हुए है। ईश्वरेच्छा का अभिमान करना मन्मनाभाव है, एवं यही भक्तियोग की रक्षा का द्वार है। ईश्वरेच्छा का अतिमान करना उन्मनाभाव है, एवं यही भक्तियोग का विघातक है। **मन्मनाभक्ति अव्यभिचारिणी है**, क्योंकि इसमें **'अहम्'** शब्दवाच्य **'अव्यय'** की अभिव्यक्ति रहती है—**"भक्तिरव्यभिचारिणी"**। **उन्मनाभक्ति व्यभिचारिणी** है, क्योंकि इसमें **अस्मत्-प्रत्ययगोचरता** के साथ साथ **युष्मत्-प्रत्ययगोचरता** भी बनी रहती है।

---

* इसी शब्द के स्थान में हमारी प्रान्तीय भाषा में **"उणमणा"** शब्द प्रसिद्ध है।

८९–अभिमान, और अतिमान,-भावों का स्वरूप--तारतम्य, उपादेय 'अभिमान,' एवं हेय-'अतिमान', तथा--श्रद्धासूत्रानिबन्धना मनोवृत्ति का स्वरूप--विश्लेषण—

"हम उसी के अंश हैं, वही हैं, अनन्य हैं, उस की इच्छा ही हमारी इच्छा है, हमारी इच्छा उसी की इच्छा है" इस भाव का मनन करना अभिमान है। और यही 'आत्माभिमान' हमारी आत्मशक्ति का प्रवर्द्धक है। हमें अपने अन्तर्जगत् में अपने आपको सदा सर्वश्रेष्ठ ही समझना चाहिए। "हम गरीब हैं, दरिद्री हैं, मूर्ख हैं, असमर्थ हैं" यह भावना हमें कालान्तर में सर्वथैव निर्वीर्य्य बना डालती है। उस प्रत्यगात्मा की ईश्वरता के साथ शारीरक आत्मा का योग कराने के लिए, उससे इसका उद्धार कराने के लिए, उस का इस पर बन्धुत्त्व स्थापित करने के लिए सदा आत्मभिमान की ही भावना रखनी चाहिए। इस भावन से वह हमारा मित्र बन जायगा, एवं दयनीय भावना से उस का इस पर अनुग्रह न होगा। फलतः वही मित्रात्मा हमारा शत्रु बन जायगा। 'तं यथा यथोपासते, तथैव भवति' (छान्दो० उप०)–श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः" (गीता), एवं–"जा की रही भावना जैसी प्रभु मूरत देखी तिन तैसी" इत्यादि सूक्तियाँ इसी तथ्य का स्पष्टीकरण कर रही हैं। इसी आत्माभिमान की आवश्यकता सूचित करते हुए भगवान् कहते हैं—

उद्धरेदात्मना (प्रत्यगात्मना) ऽऽत्मानं (शारीरकम्)--
नात्मान-(शारीरक -मवसादयेत्।
आत्मैव (प्रत्यगात्मैव) ह्यात्मनो (शारीरकात्मनो) बन्धु—
रात्मैव (प्रत्यगात्मैव) रिपुरात्मनः (शारीरकात्मनः) (गीता)॥

९०–अतिमानपथानुगामी आसुर--मानव, तत्पराभव, शब्दाभिनय से अतीत गुहानिहित श्रद्धामय-आत्मदेव, एवं तदनुगत मन्मनाभावात्मक--'भक्तियोग'--

भावना रखना अभिमान है, यही अन्तर्जगत् की वस्तु है, एवं यही मन्मनावृत्ति है। परन्तु इस भावना का वाणी से अभिनय करते रहना अतिमान है। "तेऽसुरा अतिमानेनैव पराबभूवुः" (शतपथब्रा०) के अनुसार यह अतिमान हीं आत्मपतन–लक्षण पराभव का मूल कारण है। "हम साक्षात् ब्रह्म के अंश हैं, वही हैं" यह बोल देना हीं अतिमान है। गुहानिहित–निगूढ–सुगुप्त ब्रह्म पर शब्द की गति अवरुद्ध है– "संविदन्ति न यं वेदाः"। उस शब्दातीत अव्ययब्रह्म को शब्दानुगामी बना देना उसे क्षरभाव से ही युक्त कर देना है, मन्मना को उन्मना ही बना देना है। तो क्या दयनीयभाव प्रकट किए जाँय ?, नहीं। आत्मसम्बन्ध में शब्दचर्चा करना हीं व्यर्थ, एवं हानिकर है। जिसप्रकार उच्चभाव का अभिनय करना बुरा है, एवमेव "हम अकिञ्चन हैं, उस के सामने हम क्या हैं" इसप्रकार की दयनीय वाणी का प्रयोग भी व्यर्थ, एवं हानिकर ही है। क्योंकि दोनों में हीं उन्मनाभाव समाविष्ट है। समझो, किन्तु कहो मत, यही मन्मनाभाव, किंवा आत्माभिमान है, और यही वास्तविक भक्तियोग है।

९१–शब्दाभिनय-परम्परानुप्राणिता उन्मनाभाव-समन्विता भक्ति का शाब्दोद्घोष, एवं तन्निबन्धन आत्मपतन, और तत्सम्बन्ध में –'ईश्वरानन्यता-लक्षणा' भक्ति से अनुप्राणित–'मदर्पण' का स्वरूप-समन्वय—

आज क्या होरहा है ? । ठीक इस से विपरीत । पद पद पर मन्मनाभाव का आश्रय । अपने आप को भगवान् का प्रियभक्त कहने का अतिमान करने वाले, अन्तर्य्यामी को लवण–तैल (नोन–तेल) बना कर बेभाव बेचने वाले कुछ एक महानुभाव शास्त्रीय मर्य्यादा से सर्वथा विरुद्ध–**"यह सब भगवान् की ही कृपा का फल है,-जिससे कि हम ऐसा करने में समर्थःहुए हैं । हमारी तो शक्ति ही क्या है"**इत्यादि रूप से उन्मनाभावमय वाक्यों का प्रयोग करने में ही अपना गौरव समझते हैं । सिद्ध पदार्थ का अभिनय कभी अभ्युदयजनक नहीं बन सकता । फिर ऐसे अभ्युदय को हम कैसे भक्तियोग का प्रकार कहें, जबकि उसकी प्रत्येक पद्धति अथ से इति पर्य्यन्त उन्मनाभावमूलक अभिनय से ही ओतप्रोत रहती है ? । हमें **मन्मना** ही बनना चाहिए, **मद्याजी** ही बनना चाहिए,**मद्भक्त** ही बनना चाहिए । तभी हम उस **'मां'** को प्राप्त कर सकेंगे । अपने अन्तर्जगत् में सर्वव्यापक चैतन्य के दर्शन करते हुए, मौनभाव से ही योगत्रयी में प्रवृत्त रहना चाहिए । **"हम अमुक की इच्छा से करते हैं, हम दोषी नहीं हैं, सब ईश्वरेच्छा से ही होता है"** एक कर्त्तव्यपरायण व्यक्ति के लिए ऐसे वागाडम्बर की आवश्यकता ही क्या रह जाती है ? । उसे अपने कर्त्तव्य के अतिरिक्त और किसी पर दृष्टि डालने का अवसर ही नहीं है । **हमें तो अपने कर्त्तव्य को ही ईश्वर समझना है । कर्त्तव्यानन्यता ही उस की ईश्वरानन्यता है । मत् और–त्वत्** का भेद ही जब इस **अनन्यता में, मदर्पण** में नहीं है, तो कौन किस से क्या कहे ?, और क्यों कहे ?, **"तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी"** । यही वास्तविक भक्तियोग है । यही मन्मनाभाव है, और यही है मदर्पण ।

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत् ।
यत् तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

९२–श्रद्धालु भावुक भक्तों की बिभीषिकाएँ—

कुछ श्रद्धालु ऐसे भी हैं,-जो शास्त्रीय-योगत्रयी के अनुष्ठान में भी समर्थ हैं । जिन्हें सुविधाएँ भी प्राप्त हैं। परिस्थिति भी जिनके अनुकूल है । परन्तु केवल इस बिभीषिका से कि नतो कोई आज श्रेष्ठ याजक-है, एवं न स्वयं हम हीं इतनी योग्यता रखते कि, योगत्रयी का यथाविधि अनुष्ठान करसकें । ऐसी दशा में न करना हीं अच्छा है । करें तो पूरा जान कर ठीक ठीक ही करें, अन्यथा सर्वथा न करें" वे इस ओर से प्रायः तटस्थ ही बने रहते हैं –**"अज्ञानेन प्रवृत्तस्य स्खलनं स्यात् पदे पदे"** इस कारण को उपन्यस्त करते हुए ।

९३–'पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्'–आदेशमूलक–उद्बोधन, "विद्या–श्रद्धा उपनिषत्' से समन्विता आचरनिष्ठा, एवं तत्सम्बन्ध में शास्त्रीय–दृष्टिकोण

ऐसे अनेक श्रद्धालुओ के साथ सम्पर्कावसर आए है, जो उक्त हेतुवाद को आगे कर कर्म्म छोड़े हुए हैं । **"हम जानते ही नहीं कि, सन्ध्या का क्या तात्पर्य्य है, फिर करने से क्या लाभ"** कोई

बतलाने वाला ही नहीं है''–इस '**ज्ञानाभाव**' के दो दृष्टिबिन्दु (पहलू) हैं–एक **उपपत्तिज्ञान**, तथा दूसरा **कर्म्मज्ञान । कर्म्म किस पद्धति से किया जाता है**. यह जानना तो कोई कठिन बात नहीं है । केवल इसी हेतु से तो कभी कर्म्ममार्ग से वञ्चित नहीं रहना चाहिए । रही बात उपपत्तिज्ञान (मौलिक रहस्य) की, जिसके सम्बन्ध में भी यद्यपि हम मानते हैं कि–"**यदेव विद्यया करोति–श्रद्धयोपनिषदा, तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति**" इस सिद्धान्त के अनुसार **कार्य्यकारणभावपरिज्ञानात्मिका विद्या, मनोयोगात्मिका श्रद्धा**, एवं **मौलिकरहस्यज्ञानात्मिका उपनिषत्**, इन तीनों से समन्वित योगानुष्ठानविशेष ही बलप्रद बनता है । परन्तु जबतक इन तीनों का परिज्ञान न हो, तबतक कर्म्म करें हीं नहीं, यह भ्रान्ति है । इसके लिए तो प्रत्येक दशा में हमें केवल **शास्त्रादेश** पर ही विश्राम करना पड़ेगा । **पाण्डित्य** को छोड़कर **बालवृत्ति** से बिना किसी ऊहापोह (नच नुच) के कर्म्म में प्रवृत्त होजाना पड़ेगा–"**पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्**" ।

९४–'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' लक्षण शास्त्रादेश की अनन्यशरणीकरणीयता—

यदि हम मौलिक रहस्यज्ञान के अन्वेषण में हीं पड़े रहे, तो कभी हम कर्म्म में सफलता प्राप्त नहीं कर सकेंगे । और फिर उपपत्तिज्ञान सभी को होजाय, यह सम्भव भी नहीं है । हमें अपने लौकिक व्यवहारों में भी **महाजनो येन गतः पन्थाः**' इसी नियम का अनुगमन करना पड़ता है । बालक को पहिले वर्णशिक्षात्मक कर्म्म में हीं प्रवृत्त कर दिया जाता है । वह यदि यह कहने लगे कि, **मैं पहिले शिक्षा का मौलिक रहस्य जानलूँगा, तभी शिक्षाकर्म्म का अनुष्ठान करूँगा**", तो वह कभी शिक्षित नहीं बन सकेगा । "**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ**" ।

९५–'स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात्'–मूलक महान् उद्बोधनसूत्र—

जितना भी, जैसाभी बन पड़े-योगानुष्ठान अवश्य करते रहना चाहिए । **कर्म्मशून्या श्रद्धा** सर्वथा निरर्थक है । यदि एक ग्लास पानी में सम्पूर्ण शारीरक अग्नि को शान्त करने की शक्ति है, तो एक बूँद में भी अग्निपरमाणु को शान्त करने की शक्ति है । अभ्युदयकर धर्म्म का अंश भी निरर्थक नहीं जाता । फिर यह कौन सी बुद्धिमानी है कि,–रुपय्ये में से बचे हुए एक आने की भी हम उपेक्षा करें ? । इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात ! गच्छति ।
स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

९६–कर्म्मानुगतिमूलक–श्रेयः-पन्था

"**कुछ भी न करने से कुछ तो भी करते रहना हीं श्रेयः पन्था है**" इस सार्वजनीन सिद्धान्त को सामने रखते हुए, प्रायश्चित के भय से त्राण पाने के लिए ईश्वरानन्यता को मूलाधार बनाते हुए उन विशुद्ध श्रद्धालुओं को भी यथाशक्ति अवश्य ही योगानुष्ठान में प्रवृत्त रहना चाहिए । इस उपाय से इनका भी अभ्युदय निश्चित है ।

९७–श्रद्धालु, शास्त्रभक्त, किन्तु युगधर्म्म से पीड़ित मानवों का प्रश्न, एवं तत्समाधान-प्रयास, और तदुपकारक भक्तियोग का संस्मरण—

अब एक ऐसा श्रद्धालुवर्ग हमारे सामने आता है, जो शास्त्रों का भी पूर्ण भक्त है, एवं शास्त्रीय-योगत्रयी पर भी दृढ विश्वास रखता है। परन्तु योग-क्षेम के संकट में पड़कर वह योगनुष्ठान नहीं कर पाता। उदाहरण के लिए आफिस के क्लर्क, स्कूलों के मास्टर, सेठों के मुनीम, संसत् के स्वतन्त्र सदस्य, आदि वर्ग ही पर्य्याप्त मान लिए जायँगे। इन निरीह वर्गों को २४ घन्टे योगक्षेमार्थ ही आत्मसमर्पण किए रहना पड़ता है। फिर भी इनका ऐच्छिक-योग-क्षेम संसिद्ध नहीं होपाता। इनके अभ्युदय का क्या उपाय ?, वही भगवान् का ईश्वरानन्यतालक्षण भक्तियोग। इन्हें विश्वास करना चाहिए कि, "हम जिन लौकिक कर्म्मों में प्रवृत्त हैं, उनमें हमारा कोई हस्तक्षेप, किंवा अपराध नहीं है। भगवत्-प्रेरणा से ही यह सब कुछ होरहा है"। अवश्य ही इस अनन्यता से इनका यह लौकिक कर्म्म भी उस प्रत्यगात्मा का भक्त (अवयव) बनता हुआ अभ्युदयकर ही बन जायगा। इस भावना से अवश्य ही इन्हें शान्ति मिल सकेगी। और कालान्तर में ये भी भक्तियोगनिष्ठा के अधिकारी बन जायँगे।

९८–सुदुराचारी मानववर्ग के सम्बन्ध में प्रश्न, तत्समाधानचेष्टा, एवं भक्तिपथ के माध्यम से सुदुराचारी का भी सम्भावित–परित्राण—

अब उस वर्ग से साम्मुख्य होता है, जोकि अन्तरात्मा से शास्त्रों में कोई विश्वास नहीं रखता। और इसीलिए वह शास्त्र, एवं तत्सिद्ध योग की निन्दा ही किया करता है। शास्त्रीय-आचार-व्यवहार (खान–पीन) आदि की मर्य्यादा का इसकी दृष्टि में यत्किंचित् भी महत्त्व नहीं है। भगवान् कहते हैं–दुराचारियों का भी अभ्युदय सम्भव है। दुराचारी अपने जीवन में यथेष्ट दुराचार करता रहै, कोई हानि नहीं। वह अपने दुराचार के साथ केवल ईश्वरीयसत्ता का, उसी प्रत्यगात्मलक्षण अव्यय का सम्बन्धमात्र करादे। वह यह अभ्यास करने लगे कि, "यह दुराचार मैं अपनी इच्छा से नहीं करता। अपितु ईश्वरीय प्रेरणा से ही यह सब कुछ होरहा है"। भक्तिनिष्ठा के लिए केवल बुद्धि का व्यवसाय-स्थिर-धर्म्म ही अपेक्षित है। वह ईश्वरानन्यता से भी शक्य है। एकत्व-भावना दुराचारी की अव्यवसायात्मिका बुद्धि को भी कालान्तर में व्यवसायरूप में परिणित कर देगी। यही वृत्ति कालान्तर में इसे 'सदाचारी' भी बना देगी। इसप्रकार एक दुराचारी भी अनन्येश्वरनिष्ठा से सुदुराचारी बनता हुआ समय पाकर भक्तियोग के द्वारा अपना अभ्युदय करसकेगा। इसी रहस्य का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥

९९–सुदुराचारी मानववर्ग की लोकभक्ति का समन्वय-प्रयास—

"भगवान् का भजन" भी एक विचित्र समस्या है। आजकाल के भक्त तो इस भक्ति का यही अर्थ समझते हैं कि, दुराचारी को चाहिए कि, वह माला लेकर, अथवा झाँझ मँजीरे लेकर हरे राम–हरे राम किया करै। परन्तु एक ऐसा दुराचारी. जो अहोरात्र विषयों में लिप्त रहता है, माला लेकर जय

आरम्भ कर देगा, असम्भव है । यहाँ तो वही, वैसी ही भक्ति बन सकेगी, जो इसके दुराचार में बाधा न डाले । दुराचरण के अतिरिक्त नामस्मरणलक्षणा भक्ति के लिए ही यदि इसके जीवन में समय होता, यदि वह यह जानता कि, नामस्मरण दुराचार को दूर कर देगा, दूसरे शब्दों में यदि वह दुराचार को समझने की योग्यता रखता, तो वह दुराचार में प्रवृत्त ही नहीं होता । प्रश्न तो यह है कि, जिसे दुराचार के अतिरिक्त और कुछ अच्छा ही नहीं लगता, वह क्या करे ? । उसकी भक्ति का स्वरूप एकमात्र यही हो सकता है कि, वह अपने दुराचार को अपना न समझकर ईश्वरीय प्रेरणा समझने लगे । उन दुराचार-खण्डों को अखण्ड नियति की महिमा ही समझे । इस अभ्यास से अपनापन हटाता हुआ यह दुराचारी अवश्य ही 'साधु' कहलावेगा, एवं कालान्तर में तो यह वास्तव में साधु बन ही जायगा । यही सरल भक्तिमार्ग इस का श्रेयः पन्था है ।

१००–भारतीय-हिन्दू-मानवातिरिक्त एतद्देशीय, तथा इतर-देशीय मानववर्गों का भी परित्राता गीता का भक्तियोग, एवं 'स्व-स्व-कर्त्तव्य-के आधारभूत भक्तियोग से मानवमात्र का सम्भावित आत्मत्राण—

न केवल भारतवासी ही, अपितु दूसरे देशों के मनुष्य भी इसी उपाय से शान्ति–लाभ कर सकते हैं । एक मुसलमान का यही कर्त्तव्य होना चाहिए कि, वह **सर्वश्री मुहम्मद साहिब** को अपना अनन्य देवता मानता हुआ कर्त्तव्य में प्रवृत्त रहे । यह अनन्यनिष्ठा ही इसकी बुद्धि को भी कालान्तर में व्यवसायधर्म्म से से युक्त कर देगी । इसीप्रकार **ईसाई-पारसी-यहूदी** आदि इतर सभी व्यक्ति अपनी अपनी निष्ठा के अनुकूल अपने अपने ईष्टदेवता में अनन्यनिष्ठा रखते हुए यदि कर्म्म में प्रवृत्त रहेंगे, तो वे साधु ही माने जायँगे । एवं गीतासिद्धान्त के अनुसार वे भी अवश्य ही कालान्तर में पराशान्ति के अधिकारी बन जायँगे ।

१०१–धर्म्म–कर्म्म--आचार--श्रद्धा--शास्त्र–आदि की सन्निष्ठाओं के प्रचण्डविरोधी पुरुषपुङ्गवों का संस्मरण—

अब वे पुरुषपुङ्गव ! शेष रह जाते हैं, जो उक्त उपायों मे से किसी एक का भी अनुगम करने के लिए सन्नद्ध नहीं हैं । उनका क्या मन्तव्य रहता है ?, एवं वे किस पथ के अनुगामी बने रहते हैं ?, इस प्रश्न का स्वयं गीताने हीं स्पष्टीकरण कर दिया है ।

१०२–आसुर, दैव-भेद-निबन्धन द्विविध मानववर्ग, आसुर मानववर्गानुगता काल्पनिक-मान्यताएँ, तदनुप्राणित सत्य, और इस सत्य का दुराग्रहात्मक–आग्रह—

अर्जुन ! इस (मायामय) विश्व में **आसुर**, और दैव नामक दो प्रकार की सृष्टियाँ हैं । इनमें से **दैवसर्ग**, का हमने विस्तार से निरूपण कर दिया है । अब **आसुरसर्ग** का स्वरूप सुन ? । शास्त्रने जिन कर्म्मों में प्रवृत्त रहने का आदेश दिया है, उनका, एवं शास्त्रने जिन कर्म्मों से बचने का आदेश दिया है–उनका इन आसुर-मनुष्यों की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है । शास्त्रोक्त विधि, एवं निषेध, दोनों हीं इन की दृष्टि में निरर्थक हैं । अपने इच्छानुकूल कर्म्मों में हीं ये प्रवृत्त होते हैं, एवं इच्छा को ही निवृत्ति में मुख्य स्थान

देते हैं। इनमें आभ्यन्तर, एवं बाह्य * दोनों प्रकार की पवित्रताओं का अभाव है। शास्त्रोक्त आचार का भी इनमें अभाव है। सत्य क्या वस्तु है, इसका तो इन्हें ध्यान भी नहीं है। जिसे ये अपनी तात्कालिकी युगधर्म्मानुगता कल्पना से सत्य मान लेते हैं, वही इनका सत्य है। और तदनुप्राणिता दुराग्रहदृष्टि ही इनका सत्याग्रह है। (गीता १६।७।)।

१०३–अनीश्वरवादी-कामभोगमात्र-परायण-कामकामी-नराधमों का प्रकृतिवाद-व्यामोहन, एवं तत्प्रवर्त्तक-कामभाव—

दया-तप-सत्य-शौच-विधि-निषेध से रहित ये आसुर मनुष्य स्वयं असत्य में रत रहते हुए जगत् को भी असत्य ही मानते रहते हैं। इनकी दृष्टि में **ईश्वरसत्ता** का भी कोई मूल्य नहीं है। ये विशुद्ध **नेचरवादी (नियतिचरवादी, किंवा प्रकृतिवादी) ही हैं**। **धर्म्म अधर्म्म** को ये सुख दुःख का कारण नहीं मानते। अपितु वस्तुस्वभाव को ही सुख दुःख का कारण मानते हैं। "प्रजोत्पत्ति का एकमात्र कारण "**काम**" (हमारी इच्छा) ही है, ! ईश्वर का प्रजासृष्टि में कोई सम्बन्ध नहीं है"। (गी० १६।८। ।

इस पूर्वोक्त नास्तिक दृष्टि को प्रधान मानते हुए, आत्मा (प्रत्यगात्मा), और बुद्धि, दोनों के वास्तविक विकास (अन्तर्ज्योतिर्लक्षण विद्याविकास) से वञ्चित रहते हुए ये आसुर मनुष्य संसार के नाश के लिए (प्रकृति विरुद्ध) उग्र कर्म्मों में हीं प्रवृत रहते हैं। (गी० १६।९।)।

१०४–दम्भ-मान-मद-से उन्मत्त-प्रमत्त-आसुर-मानवों की निकृष्टकर्म्म प्रवृत्ति—

कभी पूर्ण न होने वाली कामना का आश्रय लेकर **बहिर्धर्म्माङ्गीकार–लक्षण दम्भ, स्वात्मोत्कृष्टतास्वीकृति-लक्षण मान, लोकवित्त-ऐश्वर्य्यलक्षण मद** से नित्य युक्त रहते हुए, अर्थात् परधर्म्मों को हीं श्रेष्ठ मानते हुए, अपनी बुद्धि के सामने सब को तुच्छ समझते हुए, लोकोन्नतिलक्षण ज्ञान, और सम्पत्ति का अभिमान करते हुए, सर्वथा अपवित्र ये आसुर मनुष्य सर्वथा निकृष्ट कर्म्मों में हीं प्रवृत्त रहते हैं। (गी० १६।१०।)।

१०५–आशापाश-बद्ध, काम-क्रोध-परायण-अर्थ-सञ्चयलिप्सु नराधम—

उस चिन्ता के, जिस का कि अन्त प्रलय काल में हीं होगा, अनुगामी बनते हुए ये पामर **काम-भोग** को ही परमपुरुषार्थ मानते हुए, **काम-क्रोध** में नित्य प्रवृत्त, विविध प्रकार की आशाओं से बद्ध, अपनी **कामभोगवासना** को शान्त करने के लिए अन्याय से ही अर्थसंचय की चेष्टा किया करते हैं। (११-१२।)।

१०६–विविध मोहजाल–समाविष्ट, काल्पनिक नामयज्ञादि में आसक्त-व्यासक्त नरकपथानुगामी आसुरमानव—

आज मैंने यह प्राप्त करलिया, कल मेरा अमुक मनोरथ सिद्ध होजायगा, यह तो मेरा है ही, कल यह और होजायगा, कुछ समय में मैं धनवान् बन जाऊँगा, मैंनें उस शत्रु को मार दिया

---

* यद्यपि कहने भर के लिए ये बाह्य पवित्रता का आडम्बर करते हैं। परन्तु वे बाह्य द्रव्य (साबुन-क्रीम आदि) भी शुचिता के स्थान में अशुचि के ही कारण बने रहते हैं।

है, दूसरों को भी इसीप्रकार चुन चुन कर मारदूँगा। मैं सम्पत्तिशाली हूँ, मुझमें भोगसामर्थ्य है, मैं सिद्ध हूँ, बलवान् हूँ, सुखी हूँ, वैभव से युक्त हूँ, मेरा परिवार बहुत बड़ा है, मुझ जैसा आज दूसरा कौन सुखी है, मैं याग (अवेध) करूँगा, दान करूँगा, बड़ा आनन्द मनाऊँगा" इसप्रकार की भावनाओं से विमोहित, अनेक विषयों की ओर अपने चित्त को चलित रखने वाले, महामोहजाल से घिरे हुए, कामभोगों में आसक्त ये आसुर मनुष्य घोरनरक में हीं गिरते हैं (१३-१४-१५-१६)।

१०७–व्यक्तिविमोहनमूला श्रेष्ठता के दम्भ से मदोन्मत्त नराधमों की लोकैषणा—

सांसारिक वैभव, अभिमान, मद से युक्त, अपने मन से ही अपने आप को उत्तम समझने वाले ये पामर (वैदिक यज्ञों की उपेक्षा कर लोकप्रतिष्ठा की प्राप्ति के लिए) सर्वथा शास्त्रविरुद्ध, वैराग्य-ज्ञान-शून्य **नाम-यज्ञों** का ही बड़े दम्भ से अनुष्ठान करते रहते हैं। (१७)।

१०८–प्रत्यगात्मस्वरूप-अव्ययेश्वर के अत्यतम-प्रतिद्वन्द्वी नराधम—

मैं कुलशील सम्पन्न हूँ, सर्वशास्त्रपारङ्गत हूँ, सर्वज्ञ हूँ, धर्मिष्ठ हूँ, सर्वोत्तम हूँ–इसप्रकार अपनी सम्पूर्ण वृत्तियों को सर्वश्रेष्ठ समझने का अहङ्कार करते हुए **बल-दर्प-काम-क्रोध** के प्रवाह में प्रवाहित होतेहुए ये अधम मनुष्य मुझ सर्वव्यापक अव्यय की व्याप्ति से द्वेष ही किया करते हैं। अपना व्यक्तित्त्व ही, अपना स्वार्थ ही इन का मूलमन्त्र है। सर्वव्यापक प्रत्यगात्मलक्षण अव्ययेश्वर के तो ये नास्तिक घोर शत्रु ही बने रहते हैं। (१९)।

१०९–आसुरी-योनियों के चक्र से चक्रायित नराधमों का आत्यान्तिक पतन

अव्ययात्मा से शत्रुता रखने वाले इन क्रूर कुटिल नरपिशाचों को मैं (अव्यय) पुनः पुनः आसुरी योनियों का ही अनुगामी बनाता रहता हूँ। अनेक जन्मों पर्यन्त आसुरीयोनियों के चक्र में फँसे हुए ये मूढ़ मुझे प्राप्त न होकर अधमगति के ही पात्र बनते हैं। (१८)।

११०–सर्वज्ञानविमूढ, अतएव स्वरूप-विमूढ, इत्थंभूत नराधमों का विनष्टप्राय इतिवृत्त—

इसप्रकार भगवदुपदिष्ट किसी भी मार्ग का आदर न करने वाले ऐसे स्वेच्छाचारी मनुष्यों का अभ्युदय सर्वथा ही असम्भव है। एक स्थान पर तो भगवान् ने बड़े आवेश के साथ इन उत्पथगामियों के लिए यह सम्मति दे दी है कि–"ऐसे सर्वज्ञानशून्य जड़ मनुष्यों का सर्वनाश ही निश्चित है"–'सर्वज्ञानविमूढाँस्तान विद्धि नष्टानचेतसः"। इन अभिनिविष्ट जीवों के अतिरिक्त गीताशास्त्र और सब श्रेणियों के मनुष्यों के लिए अभ्युदय का मार्ग बतला रहा है। गीताप्रतिपादित सिद्धान्तों से मनुष्यमात्र अपना अभ्युदय साधन कर सकते हैं। अतएव गीताशास्त्र इतर शास्त्रों की भाँति सीमित न रह कर विश्वशास्त्र ही बन गया है। इतर शास्त्रों की अपेक्षा गीताशास्त्र की यही सब से बड़ी अपूर्वता है। और उस अपूर्वता का प्रधान स्तम्भ है–गीता की योगत्रयी, उस में भी मध्यस्थ भक्तियोग। और यही इस निबन्ध का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

१११--'भक्ति', और 'उपासना' शब्दों के वाच्यार्थों का स्वरूप--समन्वय–प्रयास

यद्यपि सर्वसाधारण की दृष्टि में **भक्ति**, और **उपासना**, दोनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक है, परन्तु विज्ञानदृष्टि से **कोई शब्द किसी शब्द का पर्य्याय नहीं बन सकता**। इस सामान्य–वैज्ञानिकी–परिभाषा के आधार पर हम कह सकते हैं कि, **भक्ति**–और **उपासना** शब्द भी समान अर्थ के वाचक नहीं होसकते। अवश्य ही भक्ति शब्द किसी अन्य अर्थ का वाचक है, एवं उपासना शब्द किसी दूसरे ही अर्थ का वाचक है। और अब हमें संक्षेप से इसी तारतम्य का विचार कर लेना है।

सेवार्थक **भज** धातु से ही भक्तिशब्द निष्पन्न हुआ है। सेवाभाव का अर्थ है "**श्ववृत्ति**" (**सेवा-श्ववृत्तिः- अमर** २।६।२।)। जिसप्रकार श्वान (कुत्ता) अन्नप्रदाता स्वामी के पीछे पीछे अनुधावन करता रहता है, एवमेव सेवक भी अन्नप्रदाता स्वामी के पीछे पीछे ही अनुधावन करता रहता है। स्वामी के प्रति सेवक की इस अनुधावनवृत्ति का ही नाम सेवाभाव है! इसी सेवाभाव का नाम "**भक्ति**" है। एवं इस भक्तिभाव का अनुयायी मनुष्य ही '**भक्त**' है।

११२–'भक्ति' शब्दानुगता सेवावृत्ति का स्वरूप-दिग्दर्शन—

भक्ति शब्द कामना को ही अपने उदर में रखता है। श्वानवृत्ति में श्वान की अन्न पर ही दृष्टि है। अन्नाकर्षण से ही श्वान स्वामी का भक्त बना रहता है। ठीक इसीप्रकार ईश्वरानुग्रहाकर्षण से आकर्षित मनुष्य ही ईश्वर का, किंवा ईश्वरविभूतिरूप तत्तद्देवताओं का भक्त बना रहता है। भक्तिभाव में भक्त स्वामी के अनुग्रह की ही अभिलाषा रखता है। यही इसकी **प्रेमाभक्ति** है, जैसाकि आगे के प्रकरणों में विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

११३–'भक्ति' शब्दानुगता-'भाग'-'अंश' मर्य्यादा, एवं तन्निबन्धना ज्ञानात्मिका, भक्त्यात्मिका, कर्म्मात्मिका-भक्ति-त्रयी का स्वरूप-दिग्दर्शन—

भक्ति का दूसरा अर्थ है **भाग**, किंवा **अंश**। किसी भी उपाय से जीवात्मा '**ईश्वरांशाभिव्यक्ति**' का अधिकारी बन जाय, वह उपाय ही भक्ति है। प्रत्यगात्मा, एवं शारीरकात्मा के भेद से भागात्मिका इस भक्ति के **ज्ञानात्मिका भक्ति, कर्म्मात्मिका भक्ति, उपासनात्मिका भक्ति**, ये तीन रूप होजाते हैं। गीताप्रतिपादिता **ज्ञानबुद्धियोग–लक्षणा सांख्यनिष्ठा** भी एकप्रकार का भक्तिमार्ग ही है। **धर्म्मबुद्धियोग–लक्षणा योग-निष्ठा** भी एकप्रकार का भक्तिमार्ग ही है। एवं **ऐश्वर्य्यबुद्धियोग–लक्षणा भक्तिनिष्ठा** भी एकप्रकार का भक्तिमार्ग ही है। तीनों हीं गीता के द्वारा संशोधित योग हैं। तीनों में **ज्ञान–कर्म्म**, दोनों का समन्वय है, अतएव तीनों हीं समत्वलक्षण **वैराग्यबुद्धियोग** की प्रतिच्छाया से अनुगृहीत हैं। क्योंकि–तीनों में दोनों हैं, अतएव तीनों को तीनों नामों से व्यवहृत किया जासकता है। ज्ञानयोग में कर्म्म का समावेश है, इसलिए यह कर्म्मयोग भी है। ईश्वरार्पणभावना है, इसलिए यह भक्तियोग भी है। कर्म्मयोग में निष्काम भाव का समावेश है, इसलिए यह ज्ञानयोग भी है, ईश्वरार्पणभाव भी "**ओमृतसत्**" इस ब्रह्मनिर्देश के द्वारा समाविष्ट है, इसलिए यह भक्तियोग भी है। भक्तियोग में ज्ञान का समावेश है, इसलिए यह ज्ञानयोग भी है, कर्म्म के समावेश से कर्म्मयोग भी है। इस दृष्टि से ज्ञान–कर्म्म–भक्ति तीनों के हीं निम्न लिखित तीन तीन रूप होजाते हैं।

११४-ज्ञानात्मक-ज्ञानयोग का स्वरूप-दिग्दर्शन—

वह ज्ञानयोग (१)—**ज्ञानात्मक ज्ञानयोग** कहलाएगा, जिसमे केवल अव्यक्तलक्षण निवृत्त-कर्म्म का ग्रहण रहेगा, एवं **धारणा-ध्यान-समाधि-लक्षण** ईश्वराभेदमूला **अव्यक्तप्रधाना ईश्वरचिन्ता** रहेगी। इस ज्ञानात्मक ज्ञानयोग का अधिकारी कोई विरला ही बन सकेगा। कारण, यहाँ का कर्म्म भी निर्गुणभाव से ही सम्बन्ध रखता है, एवं यहाँ की उपासना भी निर्गुणभावात्मिका ही है। **इस ज्ञानात्मक ज्ञानयोग में लोकसंग्रह का आत्यन्तिक अभाव रहेगा।**

११५-कर्म्मात्मक-ज्ञानयोग की स्वरूप-दिशा का समन्वय—

वह ज्ञानयोग (२)—**कर्म्मात्मक ज्ञानयोग** कलाएगा, जिसमें प्रधानता तो निवृत्ति-लक्षण अव्यक्त कर्म्म की ही रहेगी, परन्तु आंशिकरूप से लोकसंग्राहक व्यक्त कर्म्मों पर भी दृष्टि रहेगी। साथ ही उपासना भी रहेगी तो अव्यक्तमूला निर्गुणात्मिका ही, परन्तु आंशिकरूप से सगुणप्रजापति की ओर भी झुकाव रहेगा। इस कर्म्मात्मक ज्ञानयोग में लोकसंग्रह का आंशिकरूप से समावेश रहेगा।

११६-भक्त्यात्मक-ज्ञानयोग का स्वरूप-समन्वय—

वह ज्ञानयोग (३)—**भक्त्यात्मक ज्ञानयोग** कहलाएगा, जिसमें अव्यक्ता ज्ञानचार्य्या के साथ साथ, निवृत्तिमूलक निगुर्णौपयिक अव्यक्त कर्म्मों के साथ साथ निष्कामबुद्धया सहकृत लोकसंग्राहक व्यक्त कर्म्मों का भी विशेषरूप से समावेश रहेगा। उपासना रहेगी निर्गुणप्रधाना ही, परन्तु सगुण का भी साधनरूप से समावेश रहेगा। इन तीनों ज्ञानयोगों में—**ज्ञान-कर्म्मात्मक भक्तियोगमय ज्ञानयोग सर्वश्रेष्ठ माना जायगा, कर्म्मात्मक ज्ञानयोग इससे अवरकक्षा का माना जायगा,** एवं **ज्ञानात्मक ज्ञानयोग सबसे नीची श्रेणि का माना जायगा।** कारण-भक्त्यात्मक ज्ञानयोग में लोकसंग्रह पर विशेष दृष्टि है, अतएव स्वार्थ के साथ साथ यह परमार्थभाव से भी युक्त है। कर्म्मात्मक ज्ञानयोग भी आंशिक लोकसंग्रस के कारण आंशिक रूप से परमार्थ की ओर ही झुका हुआ है। **परन्तु ज्ञानात्मक ज्ञानयोग लोकसंग्रह की उपेक्षा करता हुआ विशुद्ध स्वार्थ का ही अनुमोदक बन रहा है।**

११७-ज्ञानात्मक-कर्म्मयोग, कर्म्मात्मक-कर्म्मयोग, एवं भक्त्यात्मक-कर्म्मयोग का स्वरूपेतिवृत्त—

दूसरा है कर्म्मयोग। वह कर्म्मयोग (१)—**ज्ञानात्मक कर्म्मयोग** कहलाएगा, जिसमें अव्यक्त ज्ञानौपयिक नैष्कर्म्य-कर्म्मों की प्रधानता रहेगी, एवं सगुणब्रह्माभेदमूला ईश्वरचिन्तन-लक्षणा अव्यक्ता उपासना का समावेश रहेगा। इसमें लोकसंग्रह पर आंशिकरूप से दृष्टि रहेगी। वह कर्म्मयोग (२)—**कर्म्मात्मक कर्म्मयोग** कहलाएगा, जिसमें लोकसंग्राहक व्यक्त कर्म्मों की ही प्रधानता रहेगी, एवं उपासना का वही रूप रहेगा। वह कर्म्मयोग (३)—**भक्त्यात्मक कर्म्मयोग** कहलाएगा, जिसमें ईश्वरानन्यन्ता को प्रधान बना कर लोकसंग्राहक व्यक्त कर्म्म प्रधान रहेंगे। इन तीनों कर्म्मयोगों में भी **भक्तियोगात्मक कर्म्मयोग सर्वश्रेष्ठ माना जायगा, कर्म्मयोगात्मक कर्म्मयोग इससे अवरकक्षा का माना जायगा, एवं ज्ञानयोगात्मक कर्म्मयोग इससे भी नीची श्रेणि का माना जायगा।** कारण यही है कि, भक्तियोग, एवं कर्म्मयोग

में लोकसंग्रह के साथ साथ ईश्वरानन्यनता का भी विकास है। कर्म्मात्मक कर्म्मयोग में लोकसंग्रह की तो प्रधानता है, परन्तु अनन्यतालक्षणा भक्ति गौण बन रही है। परन्तु ज्ञानात्मक कर्म्मयोग में लोकसंग्रह भी थोड़ा है, एवं अनन्यता भी मुकुलिता है।

११८—ज्ञानात्मक-भक्तियोग, कर्म्मात्मक-भक्तियोग, एवं भक्त्यात्मक भक्तियोग का चिरन्तनेतिवृत्त—

तीसरा है भक्तियोग। वह भक्तियोग (१)—**ज्ञानात्मक भक्तियोग** कहलाएगा, जिसमें प्रधानदृष्टि ईश्वरानन्यता-सम्पादक क्षर कर्म्मों की रहेगी, एवं तदनुकूल ही अव्यक्तमूला ज्ञानचर्य्या रहेगी। लोकसंग्रह रहेगा, परन्तु लोकसंग्रहदृष्टि से नहीं, अपितु ज्ञानदृष्टि से। वह भक्तियोग (२)—**कर्म्मात्मक भक्तियोग** कहलाएगा, जिसमें अव्यय-ज्ञानचर्य्या के साथ साथ लोकसंग्राहक व्यक्त कर्म्मों पर प्रधानदृष्टि रहेगी। एवं वह भक्तियोग (३)—**भक्त्यात्मक भक्तियोग** कहलाएगा, जिसमें अव्ययमूलक ज्ञान, एवं क्षरमूलक लोकसंग्राहक व्यक्तकर्म्मों पर समान दृष्टि रहेगी। इन तीनों भक्तियोगों में **भक्त्यात्मक भक्तियोग को सर्वश्रेष्ठ माना जायगा। ज्ञानात्मक भक्तियोग को अवरकक्षा का कहा जायगा, एवं कर्म्मात्मक भक्तियोग को मध्यम श्रेणि का माना जायगा।** कारण यही है कि, भक्त्यात्मक भक्तियोग में समत्त्वयोग विकसित है, लोकसंग्रह की भी पूर्ण रक्षा है। कर्म्मात्मक भक्तियोग में अनन्यता गौण है। एवं ज्ञानात्मक भक्तियोग में लोकसंग्रह गौण है।

११९—ज्ञानबुद्धियोगानुगता सिद्धविद्या ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगता राजविद्या, एवं धर्म्मबुद्धियोगानुगता आर्षविद्या से अनुप्राणिता, गीता के द्वारा संशोधिता ज्ञान-भक्ति-कर्म्मयोगत्रयी का स्वरूप-समन्वय—

पाठकों को विदित है कि, उक्त तीनों संशोधित योगों का गीता की **सिद्धविद्या, राजविद्या, आर्षविद्या,** इन तीन विद्याओं में निरूपण हुआ है। ७-८ **अध्यायात्मिका सिद्धविद्या में ज्ञानबुद्धियोग-लक्षण संशोधित ज्ञानयोग का निरूपण हुआ है। ९-१०-११-१२-अध्यायात्मिका राजविद्या में ऐश्वर्य्य-बुद्धियोग-लक्षण संशोधित भक्तियोग का निरूपण हुआ है। एवं १३-१४-१५-१६-१७-१८ अध्यायात्मिका आर्षविद्या में धर्म्मबुद्धियोगलक्षण संशोधित कर्म्मयोग का निरूपण हुआ है।** पाठकों को यह भी स्मरण रहे कि-**ज्ञानयोग का आत्मा की मनः कला से सम्बन्ध है, भक्तियोग का प्राणकला से सम्बन्ध है, एवं कर्म्मयोग का वाक्‌कला से सम्बन्ध है।** योगत्रयी के उसी मौलिक रहस्य प्रकरण में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि, आत्मा की ये तीनों कलाएँ त्रिवृद्‌भाव के कारण तीनों भावों से युक्त हैं। इसी त्रिवृद्‌भाव से तीनों योगों में प्रत्येक में) तीनों योगों का अन्तर्भाव सिद्ध होजाता है। प्रधानता क्योंकि तीनों में स्व-स्वयोग की ही रहती है, अतएव वे योग इतर दोनों नामों से व्यवहृत न होकर स्व स्व प्रधान योग-नामों से हीं व्यवहृत होते हैं।

१२०—त्रिवृद्‌भावानुबन्धिनी योगत्रयी का स्वरूप-संस्मरण—

इसी सामान्यभाव के कारण गीताप्रतिपादित तीनों विद्याओं में यद्यपि क्रमशः प्रधानरूप से-**ज्ञान-भक्ति-कर्म्म**-योगों का ही निरूपण हुआ है। परन्तु विद्यारहस्य के अन्वेषण से पाठकों को इस निष्कर्ष

पर भी पहुँचना पड़ेगा कि, भगवान् ने तत्तद्विद्याओं में प्रधानयोग निरूपण के साथ साथ त्रिवृद्भाव-सिद्ध, अतएव मुख्ययोग से अविनाभूत उन इतर दोनों गौण योगों का भी दिग्दर्शन करा दिया है। विशेष विस्तार तो मूलभाष्य में हीं देखना चाहिए। यहाँ केवल प्रकरण-संगति के लिए उन योगों के समर्थक कुछ एक वचन मात्र हीं उद्धृत कर दिए जाते हैं —

१२१–ज्ञानात्मक ज्ञानयोग के समर्थक वचन—

१—ज्ञानयोगः (सिद्धविद्यात्मकः–७-८ अध्यायानुगतः)—

(त्रिवृन्मनोयोगः)

१—ज्ञानात्मको ज्ञानयोगः—

१–अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ (८।८।)
२–यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ॥ (८।११)
३–सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ (८।१२) ।

१२२–कर्म्मात्मक ज्ञानयोग के समर्थक वचन—

२—कर्म्मात्मको ज्ञानयोगः—

१–उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ (७।१८) ।
२–जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म्मचाखिलम् ॥ (७।२९) ।
३–साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञचं ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ (७।३०) ।

———*———

१२३–भक्त्यात्मक ज्ञानयोग के समर्थक वचन—

३—भक्त्यात्मको ज्ञानयोगः—

१--तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ (७।१७) ।

२--बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ (७।१९) ।

३--येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्म्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ (७।२८) ।

— * —

— १ —

२–भक्तियोगः (राजविद्यात्मकः–९–१०–११–१२–अध्यायानुगतः)

(त्रिवृत्प्राणयोगः)

१२४–ज्ञानात्मक भक्तियोग के समर्थक वचन—

१—ज्ञानात्मको भक्तियोगः–

१--महात्मानस्तु मां पार्थ ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ (९।१३) ।

२--सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ (९।१४)

३--ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ (९।१५) ।

—*—

१२५--भक्त्यात्यक भक्तिमोग के समर्थक वचन—

२—भक्त्यात्मको भक्तियोगः–

१--समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् । (९।२९)

२–मन्मनाभव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ (९।३४)

३–मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ (१२।८) ।

—–*—–

१२६–कर्म्मात्मक भक्तियोग के समर्थक वचन—

३—कर्म्मयोगात्मको भक्तियोगः–

१–पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ (९।२६) ।

२–यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ (९।२७) ।

३–शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्म्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ (९।२८) ।

—–*—–

— २ —

३–कर्म्मयोगः[आर्षविद्यात्मकः–१३-१४-१५-१६-१७-१८अध्यायानुगतः]

(त्रिवृद्वाग्योगः)

१२७–ज्ञानात्मक कर्म्मयोग से समर्थक वचन—

१—ज्ञानात्मकः कर्म्मयोगः–

१–अमानित्वमदम्भित्वमहिंसाशान्तिरार्जवम् ।
आचार्य्योपासनं शौचं स्थैर्य्यमात्मविनिग्रहः ॥ (१३।७) ।

२–इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ (१३।८) ।

३–अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ (१३।११) ।

—–*—–

१२८-भक्त्यात्मक कर्म्मयोग के समर्थक वचन—

२—भक्त्यात्मकः कर्म्मयोगः-

१--मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ (१३।१०)।

२-इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ (१३।१८)।

३--भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ (१८।५५)।

१२९-कर्म्मात्मक कर्म्मयोग के समर्थक वचन--

३—कर्म्मात्मकः कर्म्मयोगः-

१--यज्ञ-दान-तपः-कर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ (१८।५)

१--एतान्यपि तु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ (१८।६)।

३-न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ (१८।१०)।

— ३ —

१३०-ज्ञानबुद्धियोगलक्षण संशोधित-ज्ञानयोग—

१--ज्ञानबुद्धियोगलक्षणो--ज्ञानयोगः (सिद्धविद्यारहस्यम्)।

१-भक्त्यात्मको ज्ञानयोगः-लोकेश्वरसंग्रहरूपः-उत्तमः

२-कर्म्मात्मको ज्ञानयोगः-लोकसंग्रयुक्तोऽपि-मध्यमः

३-ज्ञानात्मको ज्ञानयोगः-लोकसंग्रहशून्यः-प्रथमः

१३१-ऐश्वर्य्यबुद्धियोगलक्षण संशोधित-भक्तियोग—
२-ऐश्वर्य्यबुद्धियोगलक्षणो भक्तियोगः (राजविद्यारहस्यम्)।

१-भक्त्यात्मको ज्ञानयोगः-ज्ञानकर्म्मसमत्वलक्षण-उत्तमः

२-कर्म्मात्मको भक्तियोगः-लोकसंग्रहप्रधानः——मध्यमः

३-ज्ञानात्मको भक्तियोगः-आंशिकलोकसंग्रहात्मकः-प्रथमः

—*—

१३२- धर्म्मबुद्धियोगलक्षण संशोधित कर्म्मयोग—
३-धर्म्मबुद्धियोगलक्षणः कर्म्मयोगः (आर्षविद्यारहस्यम्)।

१-भक्त्यात्मकः कर्म्मयोगः-लोकेश्वरसमत्वलक्षणः-उत्तमः

२-कर्म्मात्मकः कर्म्मयोगः-लोकसंग्रहप्रधानः——मध्यमः

३-ज्ञानात्मकः कर्म्मयोगः-लोकसंग्रहविच्युतः-प्रथमः

—*—

१३३-उपासनात्मक-भक्तियोग की श्रेष्ठता का समन्वय, तदाधारभूत प्रत्यगात्मा, एवं शारीरक-आत्मानुगत-भक्त्यात्मक भक्तियोग—

उक्त तीनों योग वे शास्त्रीय योग हैं, जिनका संशोधन करते हुए भगवान्ने गीताशास्त्र में (लोकनिष्ठा की रक्षा के लिए) संग्रह कर लिया है। इन संशोधित तीनों योगों का जो भक्तियोग है, उसे हम उपासनात्मक भक्तियोग होने से 'भक्ति' न कह कर 'उपासना' ही कहेंगे। यदि और भी सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाता है, तो त्रिविध भक्तियोगों में से भी केवल भक्त्यात्मक भक्तियोग को ही 'उपासना' कहा जायगा। ज्ञानात्मिका भक्ति भी भक्ति है, एवं कर्म्मात्मिका भक्ति भी भक्ति है। परन्तु भक्त्यात्मिका भक्ति ही उपासना है। यही योगात्मिका भक्ति है। तीनों भक्तियों में से इस योगात्मिका भक्ति का ही प्रत्यगात्मा से सम्बन्ध है। इसी भक्तितत्त्व के लिए भगवान्ने "तेऽतीव मे प्रियाः" यह कहा है। शेष दोनों भक्तियाँ, एवं त्रिविध-ज्ञाययोग, और त्रिविध कर्म्मयोग, इन सब का शारीरक-आत्मा से ही सम्बन्ध है।

१३४-ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-योगानुबन्धी-श्रेणिविभाग के तारतम्य का स्वरूप-समन्वय, एवं उपासना, तथा भक्ति-निबन्धन-तथ्य का समन्वय—

यद्यपि यह ठीक है कि, त्रिविध ज्ञानयोगों में भक्त्यात्मक ज्ञानयोग भी आंशिकरूप से प्रत्यगात्मा का अनुगामी बना हुआ है, त्रिविध कर्म्मयोगों से से भक्त्यात्मक कर्म्मयोग भी आंशिकरूप से प्रत्यगात्मानुगामी बना

हुआ है, इन त्रिविध भक्तियोगों में से ज्ञानात्मक भक्तियोग, तथा कर्म्मात्मक भक्तियोग भी आंशिकरूप से प्रत्यगात्मा का सहचारी बना हुआ है। और इसी विशेषता के कारण हमनें त्रिविध ज्ञानयोगों में से प्रत्यगात्मानुयायी भक्त्यात्मक ज्ञानयोग को, एवं त्रिविध कर्म्मयोगों में से प्रत्यगात्मानुयायी भक्त्यात्मक कर्म्मयोग को, इन दोनों की अपेक्षा त्रिविध भक्तियोग को श्रेष्ठ बतलाया है। तथापि प्रत्यगात्मा का वास्तविक अनुग्रह क्योंकि त्रिविध भक्तियोगों में से भक्त्यात्मक भक्तियोग पर ही है, अतः इसे ही हम सर्वश्रेष्ठ कहेंगे। **भाग ही का तो नाम भक्ति है।** भक्त्यात्मक ज्ञानयोग में ज्ञान की भक्ति प्राप्त होती है, सो भी शारीरक अक्षरज्ञान की भक्ति, अव्यक्तज्ञान की भक्ति। भक्त्यात्मक कर्म्मयोग में कर्म्म की भक्ति प्राप्त होती है, सो भी शारीरक कर्म्म की भक्ति, व्यक्तकर्म्म की भक्ति। ज्ञानात्मक भक्तियोग में अव्ययज्ञानभक्ति अवश्य ही प्राप्त होती है, परन्तु इस में अव्यय का ज्ञानभाग प्रधान बना हुआ है। एवमेव कर्म्मात्मक भक्तियोग में अव्यय की कर्म्मभक्ति ही प्राप्त होतीहै, परन्तु इसमें अव्यय का कर्म्मभाग प्रधान बना हुआ है। इधर भक्त्यात्मक भक्तियोग में अव्यय की ज्ञानभक्ति भी प्राप्त है, एवं अव्यय की कर्म्मभक्ति भी प्राप्त है। अव्यय न केवल ज्ञानमूर्त्ति है, न कर्म्ममूर्त्ति। अपितु उभयमूर्त्ति है। ज्ञान, एवं कर्म्म, दोनों हीं अव्यय के भाग हैं। अतएव दोनों भागों के संग्रह के बिना भक्तिभाव अपूर्ण ही रहता है। अतएव एक एक भाग की अनुयायिनी ज्ञानात्मिका भक्ति, एवं कर्म्मात्मिका भक्ति सर्वथा अपूर्ण है। इसीलिए इसे हम **'उपसना'** न कहकर **'भक्ति'** शब्द से ही व्यवहृत करते हैं।

१३५–उपासना, और भक्ति से अनुप्राणित-तारतम्य-दिग्दर्शन—

उपासना का अर्थ है–**'उप–आसन (समीप बैठना)'**। ज्ञानात्मिका भक्ति का अनुयायी भक्त ज्ञानदृष्टया अवश्य ही अव्ययात्मा के समीप बैठा हुआ है, परन्तु कर्म्मभाग से अभी यह वञ्चित है। अतएव भाग–सम्पत्ति–प्राप्त करता हुआ भी यह **"उप–आसन"** से वञ्चित है। एवमेव कर्म्मात्मिका भक्ति का अनुयायी ज्ञान के उप–आसन से वञ्चित है। भक्तियोगात्मक भक्तियोग में ज्ञान के भी यह "उप" (समीप) है, कर्म्म के भी 'उप' है। अतः यहाँ 'उपासनभाव' सम्यक्-रूपेण प्राप्त होजाता है। **उपासना, और भक्ति में यही तारतम्य है।**

१३६–प्रत्यगात्मनिबन्धना सर्वश्रेष्ठा बुद्धियोगात्मिका भक्ति का संस्मरण—

पाठकों को स्मरण रखना चाहिए कि, गीता में जहाँ जहाँ **'भक्ति'** शब्द प्रयुक्त हुआ है, वहाँ वहाँ वह सर्वत्र **(१) शारीरक-ज्ञानभक्ति-लक्षण ज्ञानात्मक भक्तियोग। (२) शारीरक–कर्म्मभक्तिलक्षण कर्म्मात्मक भक्तियोग, (३) प्रत्यगात्मज्ञानभक्तिलक्षण ज्ञानात्मक भक्तियोग, एवं प्रत्यगात्म–कर्म्मभक्तिलक्षण कर्म्मात्मक भक्तियोग,** इन चारों **'अपूर्ण–भक्तियों'** में से किसी एक भक्तियोग का ही सूचक है। एवं जहाँ-जहाँ **"यथोक्तं पर्य्युपासते"** इत्यादिरूप से **'उपासना'** शब्द प्रयुक्त हुआ है, वहाँ-वहाँ वह सर्वत्र **प्रत्यगात्मज्ञानकर्म्मभक्तिलक्षण भक्त्यात्मक (ज्ञानकर्म्मात्मक) भक्तियोग** का ही सूचक है। और यही गीता की दृष्टि में **सर्वश्रेष्ठा योगात्मिका भक्ति है** *।

---

* इस भक्तियोग की श्रेष्ठता दूसरे योगों की अपेक्षा ही समझनी चाहिए। इसकी श्रेष्ठता का मूलकारण यही है कि, यह भक्तिनिष्ठा भगवत्सम्मता वैराग्यनिष्ठा से मिलती जुलती है। परन्तु जब हम इस

१३७-अक्षरनिबन्धना 'परा विद्या', क्षरनिबन्धना 'अपरा विद्या' का संस्मरण, एवं तन्निबन्धना शास्त्रीय-योगनिष्ठाएँ—

इसके अतिरिक्त पाठकों को यह भी नहीं भुला देना चाहिए कि, लोक में जो शास्त्रीय तीन निष्ठाएँ प्रचलित हैं, उनका व्यक्त ज्ञान-कर्म्म से ही सम्बन्ध है। प्रत्यगात्मा **ईश्वरतन्त्र है,** शारीरक आत्मा **जीवतन्त्र है,** एवं भौतिक विश्व **जगत्तन्त्र है।** तीनों क्रमशः **व्यक्ताव्यक्तातीत सनातन-ज्ञान-कर्म्मसमत्त्व-लक्षण अव्यय, अव्यक्त ज्ञानप्रधान अक्षर,** एवं **व्यक्त कर्म्मप्रधान क्षर** से अनुगृहीत हैं। क्षरात्मक कर्म्मप्रधान जगत्तन्त्र का **अपराविद्या** (वेदविद्या) से सम्बन्ध है, अक्षरात्मक ज्ञानप्रधान जीवतन्त्र का **पराविद्या** से सम्बन्ध है, एवं अव्ययात्मक ज्ञान-कर्म्ममय ईश्वरतन्त्र दोनों का अनुग्राहक है, जैसा कि निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है—

क्षरविद्या (अविद्या-कर्म्म)— "तस्मै स होवाच-द्वे विद्ये वेदितव्ये-इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति, परा चैव अपरा च। तत्रापरा-ऋग्वेदो, यजुर्वेदः, सामवेदो, ऽथर्ववेदः, शिक्षा, कल्पं, व्याकरणं, निरुक्तं, छन्दो, ज्योतिषमिति।

अक्षरविद्या—(विद्या–ज्ञानम्)--"अथ परा-यया तदक्षरमधिगम्यते। यत्तदद्रेश्यम-ग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्। ÷ तदव्ययं, तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।

—मुण्डकोपनिषत् १।१।५।

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥

—श्वेता० उप० ५।१।

१३८-त्रिगुणभावानुबन्धिनी वेदवादरति, तन्निबन्धना अयोगात्मिका त्रिगुणाभावापन्ना योगत्रयी, और 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' का संस्मरण—

अव्ययपुरुष का ज्ञानकर्म्म अक्षर, एवं क्षर में अवतीर्ण होकर जीवतन्त्र, एवं जगत्तन्त्र का सञ्चालन कर रहा है। इस त्रिपुरुषभेद से ज्ञानकर्म्म के तीन रूप होजाते हैं। **त्रिगुणभावात्मिका अपराविद्या**

भगवन्निष्ठा की दृष्टि से भक्तियोग की श्रेष्ठता का विचार करेंगे, तो उस समय वैराग्यनिष्ठा की अपेक्षा यह भी अवरकक्षा में हीं रह जायगी। भक्तियोग में अव्ययज्ञान भी है, अव्ययकर्म्म भी है, इसलिए तो यह वैराग्यनिष्ठा के समकक्ष है। परन्तु अव्ययकर्म्म के साथ इसमें आधिभौतिक व्यक्त क्षरकर्म्म का भी समावेश है, यही इसकी आंशिक विषमता है। इसी अस्वारस्य ने इसे वैराग्यनिष्ठा की अपेक्षा नीचा आसन दे रक्खा है, जैसाकि आगे के बुद्धियोगपरीक्षाप्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

÷ अक्षर मध्यस्थ है। अतएव वह पर अव्यय का भी अनुग्राहक है, एवं अवर-भूतयोनिलक्षण क्षर का भी संग्राहक है। अतएव श्रुतिने पराविद्यात्मक अक्षर को अव्यय, और भूतयोनि भी मान लिया है, जैसाकि– "एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म (क्षरः), एतद्ध्येवाक्षरं परम् (अव्ययः)" इत्यादि अन्य श्रुतियों से भी स्पष्ट है।

का प्रतिपादक शास्त्र जिस योगत्रयी का निरूपण करता है, उसमें आधिभौतिक क्षर की ही प्रधानता है। ऐसे तीनों योग अव्ययाक्षर, दोनों से वञ्चित होते हुए भूतसम्पत्ति के ही अनुगामी हैं। भगवान् की दृष्टि में **क्षरानुगामी शास्त्रीय ज्ञान–कर्म्म–भक्ति, तीनों योग अयोग हैं। यही भोगैश्वर्य्यप्रसक्त वेदवादरतों के त्रिगुणात्मक योग हैं।** ऐसे कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग को भगवान् न ज्ञानयोग कहते, न फलाभिमुख कर्म्मयोग को कर्म्मयोग मानते, एवं न ईश्वरानुग्रहप्राप्तिलक्षण प्रेमाभक्तिरूप भक्तियोग को भक्तियोग कहते। **"निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन"।**

१३९–अपराविद्या में पराविद्या का समन्वय, एवं तन्मूलक–योगसंशोधन, तथा–'उप आसन' निबन्धना 'उपासना'—

इसके अनन्तर संशोधिता योगत्रयी हमारे सामने आती है। **अपराविद्या में पराविद्या का समन्वय ही संशोधन है।** ये ही तीनों योग ग्राह्य हैं। इनमें ज्ञानात्मिका–कर्म्मात्मिका भक्ति तो **'भाग'** भाव से सम्बन्ध रखती हुई **'भक्ति'** कहलाती है, एवं ज्ञान–कर्म्मसमन्विता भक्त्यात्मिका भक्ति **'उप–आसन'** भाव के कारण **'उपासना'** कहलाती है। शेष रहा विद्या–अविद्यासे अतीत अव्यय, और उससे सम्बन्ध रखने वाली भगवन्निष्ठा। इसमें, और उपासना में क्या अन्तर है ?, इस प्रश्न की मीमांसा स्वतन्त्ररूप से अनुपद में हीं की जाने वाली है। अबतक योगत्रयी के सम्बन्ध में जिन विभिन्न दृष्टिकोणों का स्वरूपोपबृंहण हुआ है, निम्न लिखित तालिकाओं से उन सबका संक्षेप से सर्वात्मना स्पष्टीकरण होजाता है।

१४०–त्याज्या क्षरानुगता योगत्री—

१–ज्ञानयोगः—कर्म्मत्यागलक्षणः———अज्ञानयोगः
२–कर्म्मयोगः––फलकामासक्तिलक्षणः———अकर्म्मयोगः } **"त्याज्या"**
३––भक्तियोगः–––ईश्वरानुग्रहप्राप्तिकामलक्षणः–अभक्तियोगः

———*———

१४१–ग्राह्या अक्षरानुगता योगत्रयी—(१)

१—ज्ञानयोगः—(अनुगमनीयः)

१—ज्ञानात्मको ज्ञानयोगः––शारीरकात्मज्ञानप्रधानः (अवरः)

२—कर्म्मात्मको ज्ञानयोगः–—शारीरकात्मकर्म्मप्रधानः (मध्यमः)

३—भक्त्यात्मको ज्ञानयोगः––शारीरकात्मज्ञानकर्म्मप्रधानः (उत्तमः)

———*———

२—कर्म्मयोगः—(ग्राह्यः)

१—ज्ञानात्मकः-कर्म्मयोगः—शारीरकज्ञानानुगतः (अवरः)

२—कर्म्मात्मकः-कर्म्मयोगः—शारीरककर्म्मानुगतः (मध्यमः)

३—भक्त्यात्मकः-कर्म्मयोगः—शारीरकज्ञानकर्म्मानुगतः (उत्तमः)

—*—

३—भक्तियोगः—संग्राह्यः—

(भक्तिः) १-ज्ञानात्मको भक्तियोगः—प्रत्यगात्मानुगतशारीरकज्ञानानुगतः (अवरः)

(प्रपत्तिः) २-कर्म्मात्मको भक्तियोगः—प्रत्यगात्मानुगतशारीरककर्म्मानुगतः (मध्यमः)

(उपासना) ३-भक्त्यात्मको भक्तियोगः—विश्वकर्म्मानुगतप्रत्यगात्मलक्षणज्ञानकर्म्मानुगतः (उत्तमः)

——*——

१४२—भारतीय महर्षियोंकी 'पुराणीप्रज्ञा' से प्रसूता 'योगत्रयी' का संस्मरण, एवं तृतीय-प्रकरणोपराम—

तदित्यं—पवित्रतम—ब्राह्मणवर्ण से समन्वित—पार्थिवत्रैलोक्याधिष्ठाता 'भारत' नामक 'अग्निदेव' के अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से धन्यतम—पवित्रतम—यशस्यतम बने हुए इस पावनतम 'भारतवर्ष' के महिमामय विशाल प्राङ्गण में अवतीर्ण होने वाले प्रज्ञावदातश्रममूर्त्ति महामहिमशाली प्रत्यक्षदृष्टा 'आर्षमहर्षियों' की सत्त्वानुगता 'पुराणीप्रज्ञा' से मानव के अभ्युदय निःश्रेयस् के लिए जिस अलौकिक, एवं लोकव्यवहार्य्य महतो—महीयान् राजपथ का आविर्भाव हुआ, वही राजपथ—'भारतीय महर्षियों की योगत्रयी' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिस इस 'त्रयीपथ' के 'ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योग' नामक तीनों योगों का ही प्रक्रान्त तृतीय प्रकरण में अनेक दृष्टिकोणों से संस्मरण—प्रयास हुआ है। अब अग्रिम प्रकरण में इसी योगत्रयी से सम्बन्ध रखने वाले देवयुग—वेदयुग—पुराणयुग—दर्शनयुग--आदि आदि युगधर्म्मानुबन्धों से अनुप्राणित तीनों योगों के युग-धर्म्मात्मक परिवर्त्तित--स्वरूपों के समन्वय का ही प्रयास सम्भावित है।

इति--भक्तियोगपरीक्षायां--पूर्वखण्डे

"योगत्रयी, और भारतीय-महर्षि"

नामक

तृतीय--प्रकरण--उपरत

३

श्री:

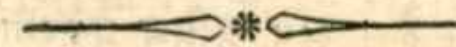
इति–भक्तियोगपरीक्षायां--पूर्वखण्डे—

"योगत्रयी, और भारतीय-महर्षि"

नामक

तृतीय--प्रकरण–उपरत

३



श्री:

अथ–भक्तियोगपरीक्षायां-पूर्वखण्डे—

"युगधर्म्मानुगता--विविध-उपासनाएँ"

नामक

चतुर्थ–प्रकरण

४

श्री:

(१)-देवयुगानुगता निर्गुणोपासना से अनुप्राणित-पारिभाषिक-परिलेख—

"अव्ययोपासना" (निर्गुण:--अव्यय:-ईश:)

ज्ञानमेव--उपासना--ज्ञानात्मिका—(अमृतम्)

निर्गुणोपासना-ईशोपासना-ज्ञानात्मिका

मनोमयी-उपासना-ज्ञानात्मिका

सोऽयं निर्गुणोऽव्यय: { १-आनन्द:—आनन्दमयोऽव्यय:-—मन एव
२-विज्ञानम्--विज्ञानमयोऽव्यय:——-मन एव
३-मन:—-श्वोवस्यसमनोमयोऽव्यय:-मन एव } तदिदं अव्ययविवर्त्तम् मनोविवर्त्तमेव

सोऽयं-मनोमयो निर्गुणोऽव्यय एव विजिज्ञासितव्य:
सोऽनुध्यतव्य:--उपासितव्यश्च

(सोऽयं देवयुग: प्रथम:--सत्ययुगारम्भात्मक:)

अमृतम्
अव्यय:
ज्ञानम्
मन: } तदेतत्--सर्वं मन एव, अव्यय एव--निर्गुण:
"अनादित्त्वान्निर्गुणत्त्वात् परमात्मायमव्यय:"

—— * ——

विजिज्ञासा-ज्ञातुमिच्छा-ज्ञानमेव
सैषा विजिज्ञासा-अनुध्यानलक्षणैव
सैवच-ज्ञानात्मिका-उपासना-'उपासना' देवयुगानुगता-प्रथमा (१)
"अनुध्यानश्च--समानप्रत्ययप्रवाहधारणामेव"

—— * ——

श्री:

"युगधर्म्मानुगता-विविध-उपासनाएँ"

नामक

चतुर्थ-प्रकरण

४

—*—

(चतुर्थप्रकरणान्तर्गत-प्रथम-अवान्तर-प्रकरण)

१-देवयुगानुगत-निर्गुणोपासनामार्ग

—*—

१—ऋषिदृष्टा योगत्रयी के युगधर्म्म-निबन्धन विविध-परिवर्त्तन—

'ज्ञान-भक्ति-कर्म्म'—नाम से प्रसिद्धा जिस योगत्रयी का भारत के महर्षियों की 'पुराणी प्रज्ञा' से मानव के अभ्युदय-निःश्रेयस् के लिए देवयुगारम्भ में आविर्भाव हुआ, वह योगत्रयी, किंवा उस योगत्रयी के तीनों प्रक्रमों का स्वरूप आगे चलकर युगधर्म्मानुगत--दिग्देशकालानुवर्त्ती-मनः-शरीरानुप्राणित—विविध-उच्चावच परिवर्त्तनों के कारण विभिन्न-विभिन्न-प्रकारों में हीं परिणत होता गया।

२-परिवर्त्तित-स्वरूपानुगत अपरिवर्त्तनीय-मूलतत्त्व—

युगधर्म्मानुगता मान्यताओं के समावेश से उस ऋषिसम्मता योगत्रयी का स्वरूप युगधर्म्मानुपात से बदलता रहा, जबकि येन केन रूपेण उन परिवर्त्तनों के मूल में ऋषिसम्मत मौलिक स्वरूप भी अनुशयरूपेण न्यूनाधिक-मात्रया प्रतिष्ठित ही होता आरहा है। इसी मूलदृष्टि से तत्तद्-युगों के लोकसंग्राहक-मनीषी विद्वानों के द्वारा, समाजनेताओं के द्वारा तत्तत्परिवर्त्तित-स्वरूपों का भी लोकसंग्रह की दृष्टि से समादर होता रहा, और युगधर्म्मानुगता इसी मान्यता-परम्परा के कारण ऋषिदृष्टा-'मौलिक-योगत्रयी' के अवान्तर विभिन्न-अगणित भेद होगए, जबकि लक्ष्यदृष्टया सब की पर्य्यवसान-भूमि वह 'एक ही मूलतत्त्व' रहा*।

---

* रुचीनां वैचित्र्याद्-ऋजु—कुटिल—नानापथजुषां-
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥
—महिम्नस्तोत्रे परमशैवः श्रीपुष्पदन्तः

३–आपातरमणीय—कल्पनाओं के समाधान—प्रयास का उपक्रम—

ऋषियुगात्मक–देवयुग से आरम्भ कर वर्त्तमान युग पर्य्यन्त उस योगत्रयी के मध्यस्थ सुप्रसिद्ध 'भक्तियोग' के, किंवा–'उपासना' के कितने अवान्तर विभेद होपड़े ?, प्रस्तुत चतुर्थ–प्रकरण में संक्षेप से इसी प्रश्न–समाधान का प्रयास प्रक्रान्त होरहा है । श्रद्धापूर्ण ऐसी आस्था है कि, उपासना के विविध रूपों से भावुकतावश हम जो अन्यथा कल्पनाएँ करने लग पड़ते हैं, प्रस्तुत प्रकरण सर्वात्मना नहीं, तो अंशत: तो अवश्य ही उन आपातरमणीय-कल्पनाओं का समन्वय करसकेगा ।

४–भक्तियोगनिष्ठा के सम्बन्ध में आलोचकों की युगधर्म्मानुगता भ्रान्त धारणा—

भक्तियोग के सम्बन्ध में यह विचार भी कम महत्त्व नहीं रखता कि, इस भक्तिनिष्ठा का विकास किस युग में हुआ ? । कुछ समालोचकों का कहना है कि, आरम्भ में **ज्ञान**, एवं **कर्म्म**, नाम की दो निष्ठाएँ हीं प्रचलित थीं । तीसरी भक्तिनिष्ठा का विकास उस पौराणिकयुग में हुआ है, जिसे कि महाभारतकाल भी कहसकते हैं । इस तथ्य को पुष्ट करने के लिए समालोचकों की ओर से अन्यान्य कई एक हेत्वाभासों के अतिरिक्त निम्नलिखित गीतावचन भी उद्धृत हुआ है—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ! ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्म्मयोगेन योगिनाम् ॥

—गीता

५–देवयुग, वेदयुग, तथा पुराणयुग–अनुबन्धों से अनुप्राणित ज्ञान-कर्म्म–भक्ति–निष्ठात्रयी का युगधर्म्मनिबन्धन काल्पनिक वाग्विजृम्भण—

उनका कहना है कि, जिस समय भगवान् ने गीतोपदेश दिया था, उस से पहिले लोक में **सांख्यों की ज्ञानयोगनिष्ठा**, एवं **स्वयम्भूमनु की (धर्म्मात्मिका) कर्म्मयोगनिष्ठा**, ये दो निष्ठाएँ हीं प्रचलित थीं । भगवान् ने इन दोनों का संशोधन करते हुए तीसरी **भक्तियोगनिष्ठा** स्थापित की, और यही गीता का मुख्य लक्ष्य बना, जैसाकि–"**मन्मनाभव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु**' इत्यादि भक्तिसमर्थक वचनों से स्पष्ट है । यद्यपि उसी युग में यत्र तत्र भक्तिमार्ग का विकास होचुका था, परन्तु वह भक्ति कामना–मयी थी । भगवान् ने इस के स्थान में **निष्कामभक्ति** का ही विधान किया । इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि, पुराणयुग से पहिले क्रमशः अपनी सत्ता रखने वाले **देवयुग**, एवं **वेदयुग** में भक्तिमार्ग का सर्वथा अभाव ही था । उन युगों का मानवसमाज ज्ञानयोग, एवं कर्म्मयोग का ही अनुयायी था ।

६–पौराणिक भक्तियोग का संस्मरण, तन्निबन्धन वितण्डावाद, तदनुप्राणिता विविध-कल्पनाएँ, एवं निष्ठाद्वयी का काल्पनिक अभिनिवेश—

समालोचकों की उक्त समालोचना से थोड़ी देर के लिए हम भी व्यामोहन में पड़ जाते हैं । ठीक तो है । यदि देवयुग, एवं वेदयुग में तीसरे भक्तियोग की भी सत्ता रहती, तो भगवान् कभी "लोकेऽस्मिन्

द्विविधा निष्ठा" यह न कहते। फिर पौराणिक भक्तियोग का (अवतारोपासनादिरूप भक्तियोग का) जो स्वरूप आज हम देख रहे हैं, उस का मूल वेद में कहीं तो उपलब्ध होता। हम देखते हैं कि, देवयुगकालीन गाथा-मन्त्रों में, एवं वेदयुगकालीन समस्त वैदिक साहित्य में कहीं भी भक्ति का उक्त स्वरूप उपलब्ध नहीं होरहा। सब से बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि, जिस **ईश्वरतत्त्व** के आधार पर **पौराणिक-भक्तिवाद** प्रतिष्ठित है, समस्त वैदिक वाङ्मय में उस '**ईश्वर**' शब्द का ही आत्यन्तिक अभाव है। '**ईश्वर**' शब्द ही नहीं, **रामकृष्णादि अवतारों** का नामोल्लेख नहीं, **पत्रं-पुष्पं-फलं भावोपेता भक्ति** का उल्लेख नहीं। फिर किस आधार पर भक्तियोग को प्राचीन मान लिया जाय ?, एवं किस आधार पर इसे वेदशास्त्र-सम्मत माना जाय ?। अतएव कहना पड़ेगा कि, भक्तिमार्ग केवल कल्पना की ही वस्तु है। वस्तुतः शास्त्रसिद्ध योग तो केवल ज्ञानयोग, एवं कर्म्मयोग ही हैं।

७-वेदादि प्राचीन शास्त्रों में भक्तिनिष्ठा की अनुपलब्धि का महान् व्यामोहन--

समालोचना को ही अपना नित्यकर्म्म समझने वाले उन समालोचकधुरीणों से इस सम्बन्ध में हम प्रश्न करते हैं कि, उन्हें भक्तियोग के स्वरूप की अनादिता पें सन्देह है ?, अथवा भक्तियोग की अनादिता में सन्देह है ?। पूर्व में जो हेतु बतलाए गए हैं, उन से तो स्पष्टरूप से यही सिद्ध होरहा है कि, उन्हें प्राचीन वेदादि साहित्य में भक्ति का प्रचलित (पौराणिक) स्वरूप नहीं मिल रहा। अतएव वे इसे कल्पना की वस्तु समझ रहे हैं।

८-कपिलमुनि-सम्मता सांख्यनिष्ठा, हिरण्यगर्भऋषि-सम्मता योगनिष्ठा, जैमिनि-सम्मता कर्म्ममीमांसा, आदि दृष्टिकोणों के माध्यम से भक्तियोगनिष्ठा का स्वरूप-समन्वय—

उत्तर में यही निवेदन कर देना पर्य्याप्त होगा कि, केवल स्वरूप के आधार पर ही किसी वस्तुतत्त्व के सादित्व अनादित्व का निर्णय नहीं किया जासकता। क्या वे समालोचक यह सिद्ध कर सकेंगे कि, ज्ञान-योग-कर्म्मयोगों का जो स्वरूप क्रमशः देवयुग, तथा वेदयुग में प्रचलित था, आजतक उसका वही स्वरूप सुरक्षित है ?। हम तो देखते हैं कि, सांख्यलक्षण-कपिल-निष्ठात्मक ज्ञानयोगने आज वेदान्तलक्षणा व्यास-निष्ठा का ही परिधान (बाना) पहिन लिया है। एवमेव स्वयम्भू-निष्ठात्मक कर्म्मयोग जैमिनिसम्मत मीमांसा-भाव से ही युक्त होरहा है। यह तो स्थूल परिवर्त्तन की कथा है। यदि सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जायगा, तो उन दोनों के तत्कालीन स्वरूपों में, और वर्त्तमान स्वरूपों में शाखा-प्रशाखा-भेद-युक्त अहो-रात्र का अन्तर मिलेगा। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि, आज के ज्ञानयोग, और कर्म्मयोग के स्वरूपों का आप उन अनादि-शास्त्रों में अन्वेषण करने चलेंगे, तो अधिकांश में आप का यह प्रयास व्यर्थ ही प्रमाणित होगा। क्या इसी आधार पर ज्ञान-कर्म्म-निष्ठाओं को भी कल्पना की ही वस्तु मान लिया जायगा ?।

९–भक्तियोगनिष्ठा की अनादिता, एवं परिवर्त्तनात्मक युगधर्म्मों के अनुपात से भक्ति के अनुष्ठानात्मक प्रकारों में उच्चावच-परिवर्त्तन—

ठीक यही स्थिति भक्तियोग के स्वरूप के सम्बन्ध में समझिए । परिवर्त्तनशील मानवीय मन के सम्बन्ध से भक्तियोग का बाह्य--आचारात्मक स्वरूपमात्र बदल गया हैं, परन्तु भक्ति का मौलिकरूप तो ज्यों का त्यों हीं सुरक्षित है । स्वरूप तो बदलता ही रहेगा, और बदलना हीं चाहिए । क्योंकि युगधर्म्म के परिवर्त्तन के साथ साथ चित्तवृत्ति का बदलना भी अनिवार्य्य है । चित्तवृत्ति के परिवर्त्तन के साथ साथ योगस्वरूप–परिवर्त्तन भी आवश्यक है । देवयुग, तथा वेदयुग काल में भी भक्तियोग का पूर्ण विकास था । परन्तु उस समय उसका स्वरूप दूसरा था, लक्ष्य दूसरा था । पौराणिकयुग में स्वरूप, और लक्ष्य दोनों बदल गए । एतावता ही भक्तियोग का उन युगों में अभाव मान बैठना प्रौढिवाद नहीं, तो और क्या है ? ।

१०–भक्तियोग के सम्बन्ध में पुरातनयुगानुगत आवश्यक प्रश्न, एवं अतिपुरातन युगात्मक साध्ययुग की योगत्रयी—

हाँ, इस सम्बन्ध में यह जिज्ञासा अवश्य ही न्यायसंगत है कि, देवयुगकालीन भक्तियोग का **कैसा स्वरूप था ?, वेदयुग में भक्ति का क्या स्वरूप होगया ?, एवं पौराणिक युग में भक्ति में क्या वैचित्र्य आगया ?** । तीनों जिज्ञासाओं में से प्रकृत प्रकरण प्रथम जिज्ञासा को ही शान्त करने के लिए प्रवृत्त हुआ है । "**देवयुगानुगता भक्ति, किंवा उपासना का क्या स्वरूप है ?**, इस जिज्ञासा के साथ-साथ "**लोकेस्मिन् द्विविधा निष्ठा**" यह विप्रतिपत्ति भी उपस्थित है, और वह न्यायसङ्गता भी है । अवश्य ही हमें इस सम्बन्ध में भी कोई समीचीन उत्तर मिलना हीं चाहिए, जिसके आधार पर ही हम यह विश्वास कर सकें कि–"यद्यपि लोक में तीसरी भक्तिनिष्ठा भी पहिले से ही प्रचलित थी, परन्तु अमुक कारण-विशेष से भगवान् ने तीसरी निष्ठा का नामनिर्द्देश करना आवश्यक नहीं समझा" ।

११–भूतविज्ञाननिष्णात साध्यगणों का भूतानुबन्धी यज्ञात्मक कर्म्मयोग, तदनुप्राणिता भौतिकी योगत्रयी, एवं साध्ययुगोत्तरभावी देवयुग में उसका संशोधन—

पाठकों को यह विदित है कि, हमनें देवयुग से पहिले उस **साध्ययुग** की सत्ता बतलाई थी, जिसका एकमात्र लक्ष्य "**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः**" यही था । (देखिये भाष्यभूमिका प्रथमखण्ड गीता-कालमीमाँसा । यज्ञकर्म्म ही उस सुसमृद्धा, महासभ्या साध्यजाति का परम पुरुषार्थ था । दूसरे शब्दों में इसके लिए यह भी कहा जासकता है कि, वह साध्य–सुसाध्य-प्रज्ञाशील-समाज केवल कर्म्म-योग का ही अनुगामी था । भौतिकी–समुन्नति के लिए जो विज्ञानात्मक (क्षणिक–विज्ञानात्मक) ज्ञान अपेक्षित है, उसकी तो चरमसीमा पर ही वे साध्यगण पहुँचे हुए थे । परन्तु आत्मानुबन्धी, एकेश्वरवादमूलक ज्ञान से वे सर्वथा ही वञ्चित थे । वे अपने यज्ञकर्म्म से यज्ञकर्म्म (भौतिक प्रपञ्च) का ही यजन करते थे । इनका कर्म्मयोग कर्म्ममय, किंवा कर्म्मप्रधान विश्व का ही उपकारक था ।

१२–देवयुग, और वेदयुग का आंशिक-पार्थक्य-समन्वय, एवं वेदयुगानुगता योगत्रयी का संस्मरण—

यह भी एक सिद्ध विषय है कि, जब-जब युगपरिवर्तन होता है, तो उन परिवर्त्तित-युगों में कुछ समय के लिए पूर्वयुग के भी कुछ एक धर्म्मों का समावेश होजाता है। पूर्वयुगों के परिष्कृतरूप का नाम हीं तो उत्तरयुग है। फलतः साध्ययुग के अनन्तर आने वाले देवयुग में (उत्तरयुग में) साध्ययुगकालीन यज्ञधर्म्मों का समावेश प्रकृतिसिद्ध बन जाता है। यद्यपि देवयुग, और वेदयुग को हम पृथक् नहीं मान सकते। क्योंकि, देवयुगप्रवर्त्तक स्वयम्भूने हीं चातुर्वर्ण्य-धर्म्ममूलक वेदशास्त्र को सुव्यवस्थित किया है। तथापि वैदिक-साहित्य में जिस योगत्रयी का निरूपण हुआ है, उसमें, एवं वैदिकयुग की आरम्भदशारूपा देवयुगानुगता योगत्रयी में थोड़ासा अन्तर है। इसी अन्तर के कारण हम दोनों का पार्थक्य भी मान रहे हैं।

१३–द्वन्द्वातीत-सर्वालम्बन-निर्गुण-अव्ययात्मा का स्वयम्भू के द्वारा प्रथमाविर्भाव, तदनुप्राणित सर्वाधार ज्ञानयोग, एवं तदनुगता योगत्रयी का संस्मरण—

देवयुग की प्रवृत्ति का मूलश्रेय स्वयम्भू प्रजापति को ही है। और ये स्वयम्भू यज्ञकर्म्म-प्रिय साध्यजाति के अनुशासन में रहने वाली साध्ययुगानुगता तुषितजाति में हीं प्रकट हुए थे। इन्होंनें हीं सर्वप्रथम साध्यजाति के सामने, किंवा तत्कालीन मानव-समाज के सामने–"**तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास**" यह सिद्धान्त उपस्थित किया था। ब्रह्माने उस सर्वव्यापक ब्रह्म का अविष्कार किया, जो कि सम्पूर्ण भौतिक प्रपञ्चों का एकमात्र आलम्बन है। आगे जाकर "**मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय !**" इस सिद्धान्त से पुष्ट होने वाले **द्वन्द्वातीत, सर्वालम्बन, निर्गुण, परमात्मस्वरूप-अव्यय** * का प्रथमाविर्भाव स्वयम्भू के द्वारा ही हुआ। **और यह अव्ययनिष्ठा ही ज्ञानयोगनिष्ठा कहलाई।** साध्यों के सामने यही सिद्धान्त उपस्थित किया गया कि, तुह्मारा यज्ञकर्म्म तबतक सर्वथा निरर्थक है, जबतक कि-तुम उस सर्वव्यापक ज्ञानमूर्ति निर्गुण ब्रह्म को अपने इस स्वकर्म्म का आलम्बन नहीं बनालेते। ज्ञानयोग ही तुह्मारे कर्म्मयोग का मूल आधार है, और यही सिद्धि का अन्यतम द्वार है–"**स्वकर्म्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः**"।

१४–देवयुगानुगता निर्गुण--अव्ययमूला निर्गुणभक्ति, वेदयुगानुगता सगुण–प्रजा–पतिमूला 'सगुणभक्ति', एवं तदाधारणैव अभिव्यक्ता पुराणयुगानुप्राणिता 'सविकारभक्ति'—

इसप्रकार कर्म्मयोग के साथ-साथ अव्ययमूलक ज्ञानयोग का भी विकास हुआ। ये ही दोनों निष्ठाएँ देवयुग की आरम्भ की दो निष्ठाएँ हैं। इन्हीं सर्वारम्भ की दो निष्ठाओं को लक्ष्य में रख कर

*** अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति, न लिप्यते ॥** (गीता)

भगवान् ने "**लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ !**" यह कहा गया है। अपने यज्ञकर्म्म को ज्ञानात्मक निर्गुणब्रह्म (अव्यय) के प्रति अर्पित कर देना हीं उस युग का तीसरा भक्तियोग माना गया। **निर्गुणभक्ति ही देवयुग की भक्ति बनी। और यही निर्गुणभक्ति आगे जाकर वेदयुग में सगुणरूप में परिणत हुई, एवं यही सगुणभक्ति आगे जाकर पौराणिकयुग में सविकाररूप में परिणत हुई,** जैसाकि आगे के प्रकरणों में स्पष्ट होजायगा।

१५–भक्तियोग का मौलिक-रहस्यसूत्र, भक्तिकाण्डानुगता रहस्यपूर्णा 'अनन्यता' तथा 'अन्यता' का स्वरूप--समन्वय, एवं भूताभिनिविष्ट साध्यों के भौतिक--योग-विजृम्भण—

भक्तियोग का मौलिक रहस्य है—"**कर्म्ममार्ग को पराश्रित मानना**"। "**हम नहीं कर रहे, अपितु कोई दूसरी ही शक्ति प्रेरणा कर रही है**" इस आत्मविश्वास का नाम हीं भक्ति है। यद्यपि भक्ति की उपनिषत् "**अनन्यता**" ही मानी गई है। परन्तु व्यवहारदृष्टि से '**अन्यता**' ही भक्ति की उपनिषत् है। **दूसरे शब्दों में अन्य के साथ रहने वाली अनन्यता ही भक्तियोग की उपनिषत् है।** हम अपने आपको ही सब कुछ समझते हुए, अपने से अन्य किसी व्यापक सर्वज्ञ तत्त्व की सत्ता स्वीकार न करते हुए अपने कर्म्म को अनन्य (दूसरे की प्रेरणा से कोई सम्बन्ध न रखने वाला) मानें, यही साध्यों का कर्म्मयोग था। यही इनका ज्ञानयोग था, एवं यही इनका भक्तियोग था। और इस दृष्टि से साध्य भी तीनों योगों के अनुयायी बने हुए थे।

१६–योगत्रयी का अधिष्ठाता प्रत्यगात्मा, एवं योगत्रयी का साधक शारीरक--आत्मा, तथा त्रिविध--योगों के प्रत्यगात्मानुबन्धी स्वरूप–लक्षण —

तीनों योग जब प्रकृतिसिद्ध हैं, तो प्रकृति के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने वाले साध्य तीनों से कैसे वञ्चित रह सकते थे। स्वाभाविकी योगत्रयी का सम्बन्ध तो प्राणीमात्र के साथ है, जैसाकि परीक्षारम्भ में हीं विस्तार से बतलाया जाचुका है। परन्तु इस प्रकृतिसिद्धा योगत्रयी में वैकारिक क्षरभाग की ही प्रधानता है। अतएव इसमें "तत्" भाव का गन्ध भी नहीं है। केवल "**मत्**" की ही प्रधानता है। **आत्मा योगत्रयी का अधिष्ठाता है, एवं प्रज्ञानमन योग कराने वाला है। आत्मा के ज्ञानमय मनोभाग के साथ प्रज्ञानमन के द्वारा वैकारिक–भौतिक–प्रपञ्च के—साथ ज्ञान का सम्बन्ध होजाना हीं प्राकृतिक—'ज्ञानयोग' है। आत्मा के क्रियामय प्राणभाग के साथ प्रज्ञान के द्वारा भूतवर्द्धक, भूतानुगामी कर्म्म का योग होजाना हीं प्राकृतिक भक्तियोग है। एवं आत्मा के अर्थमय वाग्-भाग के साथ प्रज्ञान के द्वारा भूतमात्राओं का (वासनारूप से) योग होजाना हीं प्राकृतिक कर्म्मयोग है।** इसप्रकार भूतानुगत ज्ञानयोग, भूतानुबन्धी भक्तियोग, एवं भूतमय कर्म्मयोग, ये तीनों हीं वैकारिकयोग केवल योगक्षेम के संवाहक बनते हुए, केवल लोकवैभव के उत्तेजक बनते हुए प्रकृति-सिद्ध ही हैं।

१७-प्राणीमात्र से अनुप्राणिता प्रकृतिसिद्धा-भौतिकी-योगत्रयी, एवं उसकी त्रिगुणात्मकता, तथा तन्निबन्धना विषमता का दिग्दर्शन—

तीनों में हीं मत्कृतिसाध्यतेष्टासाधनतामूला—ममत्वलक्षणा अनन्यता विद्यमान है। आपामर—आविद्वज्जन, आबालवृद्ध सभी इस प्रकृतिसिद्धा योगत्रयी के जन्म से ही अनुगामी हैं। **"मैं हीं जानता हूँ"—यह अनन्य ज्ञानयोग है। "मैं हीं करता हूँ" – यह अनन्य भक्तियोग है। एवं "मैं हीं मेरी अर्थ-सम्पत्ति का प्रभु हूँ" यह अनन्य कर्म्मयोग है।** इसप्रकार साध्ययुग में भी तीनों योगों की सत्ता सिद्ध होजाती है। परन्तु तीनों में भूतभाग की ही प्रधानता है, वैकारिक प्रपञ्च का ही साम्राज्य है, विशुद्ध लोकवैभव का ही विकास है। एवं भूतभाग ही कर्म्म की मूलप्रतिष्ठा है। अतएव साध्यों के वे तीनों ही योग **"कर्म्मयोग"** ही बन जाते हैं। कर्म्मयोगात्मक ये तीनों हीं योग योग-क्षेम के कारण बनते हुए भी आत्मतृप्ति के विघातक बनते हुए अयोग ही हैं। कारण स्पष्ट है। आत्मा की तीनों कलाएँ पूर्ण हैं, नित्य हैं। उधर प्राकृतिक योग से आने वाले **ज्ञान-क्रिया-अर्थ**, तीनों हीं प्रक्रम गुणत्रयी के सम्बन्ध से द्वन्द्वभाव में परिणत होते हुए, दूसरे शब्दों में द्वन्द्वभाव के प्रवर्तक बनते हुए विषम हैं।

१८-त्रिगुणभावापन्ना क्षरात्मिका योगमायारूपिणी प्रकृति, तदनुप्राणिता गुणात्मिका योगत्रयी, एवं इत्थंभूता योगत्रयी का बन्धनप्रवर्त्तकत्व—

पाठकों को स्मरण होगा कि, हमने प्राकृतिक-योगत्रयी का सम्बन्ध त्रिगुणात्मिका योगमाया से ही बतलाया है। साथ ही वहीं क्षरभाव को इस योगमाया का अनुबन्धी बतलाया गया है। क्षरात्मिका योगमाया ही त्रिगुणात्मक, अतएव द्वन्द्वभावाक्रान्त भौतिक ज्ञान-क्रिया-अर्थमय विश्व की प्रतिष्ठा है। फलतः यह प्राकृतिकी-योगत्रयी कर्म्म-(अर्थ)-प्रधाना हीं बन जाती है। कर्म्म की प्रधानता से विश्वानुबन्धी ज्ञान-क्रिया-अर्थ-तीनों हीं आत्मविरोधी बने हुए हैं। इनके सम्बन्ध से प्रत्यगात्मलक्षण-समाधिभाव उत्तरोत्तर आवृत ही होता रहता है। अतएव इस प्राकृतिकी क्षरप्रधाना, योगमायानुगता योगत्रयी को हम केवल **"कर्म्मयोग"** ही कहेंगे, एवं इसे आत्मा के आवरक होने के कारण, साथ ही विद्याबुद्धि के अव्ययात्मा के साथ रहने वाले स्वाभाविक योग को च्युत करने के कारण **इसे अयोग ही** कहेंगे।

१९-अव्यक्त-अक्षरानुबन्धी-शास्त्रसिद्ध तीन योग, शास्त्रीय योगों का गुणात्मक वितान, एवं शास्त्रसिद्ध भी गुणात्मक योगों का आत्मपचनानुगत-अत्यान्तिक-विषमत्व, अतएव अनुपादेयत्व—

शास्त्र ने किया क्या ?, इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर है—क्षर की ओर से आत्मा को (शारीरक आत्मा को) हटाकर उसे अक्षरानुगामी बनाना। शास्त्रसिद्ध ज्ञान-भक्ति-कर्म्म, तीनों हीं शारीरक आत्मा के उपकारक बन गए। परन्तु भगवान् की दृष्टि से ये शास्त्रसिद्ध योग भी अयोग ही रहे। कारण स्पष्ट है। कर्म्म-त्याग-लक्षण ज्ञानयोग की विश्रामभूमि अव्यक्त अक्षर बना। यद्यपि शास्त्रसिद्ध ज्ञानयोग में कर्म्म का आत्यन्तिक परित्याग नहीं है। **यम-नियम-आसन-प्राणायाम** आदि लक्षण इन्द्रियनिरोधक, तपश्चर्य्यात्मक कर्म्म अवश्य ही विद्यमान हैं। परन्तु ये सब कर्म्म साँसारिक लोकसंग्राहक कर्म्मों के सर्वथा विरोधी हैं। व्यक्त क्षर-

कर्म्मों की आत्यन्तिक उपेक्षा करने वाले ये कर्म्म निवृत्तिलक्षण बनते हुए अव्यक्त हैं, अक्षरानुगामी हैं। इनमें अव्यक्त अक्षरानुबन्धी ज्ञान प्रधान बना हुआ है, एवं व्यक्त क्षरानुबन्धी कर्म्म नहीं के समान है। नहीं के समान इसलिए कहना पड़ता है कि, अव्यक्त-ज्ञानानुयायी ज्ञानयोगी को भी शरीरयात्रानुबन्धी व्यक्त कर्म्म (भोजन-शयन-शौचादि) तो प्रत्येक दशा में करने हीं पड़ते हैं। इन कर्म्मों के परित्याग से तो शरीरयात्रा (जीवन) ही सम्भव नहीं है—"**शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्म्मणः**"। इसप्रकार आंशिकरूप से इस कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग में भी व्यक्त कर्म्म का संग्रह अवश्य है। परन्तु इसका उद्देश्य केवल "**हम जीवित रहें**" ("पचन्त्यात्मकारणात्") यही है। ऐसे ज्ञानयोगी से संसार का कोई उपकार सम्भव नहीं **है**। अतएव भगवान् की दृष्टि में ऐसा ज्ञानयोग एकान्ततः अनुपादेय ही है।

२०—गुणात्रयात्मिका शास्त्रसिद्धापि योगत्रयी में भगवान् के द्वारा विशुद्धीकरणात्मक संशोधन, एवं शब्दप्रमाणात्मक-निर्भ्रान्त-आप्तप्रमाणरूप-शास्त्र प्रामाण्य के सम्बन्ध में महती समस्या—

पूर्व प्रकरणों में हमने अनेक स्थानों में यह स्पष्ट किया है कि, भगवान् शास्त्रसिद्धा योगत्रयी मे संशोधन चाहते हैं। इस "**संशोधन**" शब्द का यही तात्पर्य्य निकलता है कि, शास्त्र ने कुछ भूल कर दी थी, उस भूल का ही भगवान् ने संशोधन किया है। यदि यह बात सच है, तो भारतीय वर्णाश्रमधर्म्म का कोई महत्व शेष नहीं रह जाता। ऐसी अवस्था में-"**आप्तोपदेशः शब्दः-शब्दप्रमाणका वयं, यदस्माकं शब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्**" इस शास्त्रभक्ति का यत्किञ्चित् भी महत्त्व शेष नहीं रहजाता। आर्य्यजाति का सर्वस्व तथ्य शब्दप्रमाण पर ही निर्भर है। उस की दृष्टि में शास्त्र सर्वथा निर्भ्रान्त है, अतएव उसका अक्षर अक्षर उसे मान्य है। यदि शास्त्रों में आंशिकरूप से भी भ्रान्ति होती, तो भगवान् के मुख से कभी निर्द्वन्द्वभाव से "**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ**" ये अक्षर नहीं निकलते। फिर हम किस आधार पर यह कह सकते हैं कि, शास्त्रसिद्धा योगत्रयी का भगवान् संशोधन चाहते हैं ?। अथवा शास्त्रों में जो भूल रह गई थी, उस का भगवान् उसीप्रकार संशोधन आवश्यक समझते हैं, जैसेकि वार्त्तिककार सूत्रकार के सिद्धान्त में "**यणः प्रतिषेधो वाच्यः**" यह संशोधन आवश्यक समझते हैं।

२१—सुप्त सर्प-विकम्पन-भय से विकम्पित गतानुगतिक व्याख्याताओं के द्वारा शास्त्रमान्यता के संरक्षणानुबन्ध से गीता के १८ अध्यायों का त्रिधा वर्गीकरण-प्रयास—

अवश्य ही गीताप्रतिपादिता योगत्रयी के सम्बन्ध में यह एक जटिलतमा समस्या है। समस्या ऐसी दुरूह है कि, प्राचीन व्याख्याताओं में से किसी ने भी इस सुप्त सर्प को विकम्पित करना (छेड़ना) उचित नहीं समझा। अपितु शास्त्रभक्ति को सुरक्षित रखने के लिए उन्होंने यही मान लेने में आत्मपरित्राण समझा कि, वेदशास्त्र के जिस **ब्राह्मणभाग में कर्म्मयोग का, आरण्यकभाग में भक्तियोग का**, एवं उपनिषद् **भाग में ज्ञानयोग का निरूपण हुआ है**, भगवान् ने एक ही गीताग्रन्थ में ६-६-६ अध्यायों के क्रम से क्रमशः **ज्ञान-भक्ति-कर्म्म**, तीनों योगों का संग्रहमात्र कर दिया है, **और यही गीता का 'सर्वशास्त्रत्त्व' है**।

२२--गीताव्याख्याताओं की परस्परात्यन्तविरूद्धा ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-प्रधाना व्याख्याओं की अहमहमिका.

अधिक से अधिक व्याख्याताओंनें गीता को त्रिमार्गानुगामिनी मान कर विश्राम कर लिया। कुछ एक व्याख्याताओंनें तो यह सिद्ध किया कि, गीता में यद्यपि **प्रधानता ज्ञानयोग** की ही है, अथ से इति पर्य्यन्त गीता **कर्म्मत्यागलक्षण, उपनिषत्सिद्ध, निःश्रेयससाधक ज्ञानयोग को ही अपना मुख्य लक्ष्य बनाती है**। तथापि लोकसंग्रह की रक्षा के लिए सामान्य अधिकारियों के लिए भगवान् ने गौणरूप से कर्म्म-मार्ग, एवं भक्तिमार्ग का भी दिग्दर्शन करा दिया है। **कुछ एक भागवत ज्ञानकर्म्म को गौण मानते हुए गीता को भक्तिप्रधान ग्रन्थ ही कहते हैं। एवं कुछ एक अर्वाचीन महानुभाव ज्ञान-भक्ति को गौण मानते हुए इसे कर्म्मयोगशास्त्र ही मान रहे हैं।**

२३--ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-भावों में अभिनिविष्ट साम्प्रदायिक-व्याख्याता, एवं समन्वय-कौशल के अनुगामी महामहिम महामाहेश्वर श्रीअभिनवगुप्ताचार्य्य—

यह स्मरण रखने की बात है कि, गीता के प्रायः सभी व्याख्याता **श्रीशङ्कराचार्य्य** का अनुगमन करते हुए **ज्ञानयोग पर ही विशेष बलप्रयोग कर रहे हैं**। वैष्णव-सम्प्रदाय के जितने भी आचार्य हैं, वे सब शङ्करव्याख्या से विरुद्ध **भक्तियोग की ही स्थापना कर रहे हैं**। इसप्रकार शास्त्रसिद्ध सम्प्रदाय की दृष्टि से **ज्ञान-योग-भक्तियोग**, गीता के ये दो ही मुख्य सिद्धान्त बन रहे हैं। केवल **महामाहेश्वर अभिनवगुप्ताचार्य्य** ने हीं गीता में **ज्ञान-भक्ति-कर्म्म**, इन तीनों का समन्वय माना है। **"गीता विशुद्ध कर्म्मयोगशास्त्र है" इस सिद्धान्त का प्राचीन व्याख्याओं में सर्वथा अभाव ही है। यह सिद्धान्त तो सर्वथा अर्वाचीन, अतएव उपेक्षणीय ही है, जैसाकि भूमिका-प्रथमखण्ड में नाममीमांसान्तर्गत उपनिषच्छब्दरहस्य में विस्तार से बतलाया जाचुका है।**

२४--शास्त्रनिष्ठासंरक्षण के लिए आतुर गीताव्याख्याता, एवं गीताक्षरों के माध्यम से ही गीताव्याख्याताओं की मान्यता का शैथिल्य—

तात्पर्य्य कहने का यही है कि, **शास्त्रनिष्ठा** को सुरक्षित रखने के लिए गीता के व्याख्याताओंनें नत-मस्तक होकर यही मान लेने में अभ्युदय समझा कि, **गीता शास्त्रसिद्धा योगत्रयी का, अथवा तीनों में से किसी एक योग का ही प्रधानरूप से निरूपण कर रही है**। परन्तु जब स्वयं गीता के अक्षरों के आधार पर हम गीतासिद्धान्त का अन्वेषण करने चलते हैं, तो इमें गीता के उक्त सिद्धान्त सर्वात्मना शून्यं शून्यं हीं (निरे खोखले ही) प्रतीत होने लगते हैं, जैसाकि आगे के * बुद्धियोगपरीक्षा-प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है *।

---

* सर्वान्तरतमपरीक्षानुगत-गीताभूमिकान्तर्गत-**आठसौ पृष्ठात्मक-बुद्धियोगपरीक्षा-पूर्वखण्ड** प्रकाशित होगया है प्रस्तुत भक्तियोगपरीक्षा से पूर्व ही।

२५--शास्त्रप्रामाण्यनिष्ठा के सम्बन्ध में अब्रह्मण्या-धारणा, तन्निराकरण-प्रयास, एवं गीता की शास्त्रनिष्ठा का संस्मरण—

क्या हम शास्त्रनिष्ठा के विरोधी हैं ?, क्या शास्त्र हमारी दृष्टि में भ्रान्त है ? । शिव ! शिव ! ! अब्रह्मण्यम् ! ! ! अब्रह्मण्यम् ! ! ! ! शास्त्र के सम्बन्ध में ऐसे अक्षर निकलना भी अपने आप को प्रायश्चित्त का भागी बना लेना है । शास्त्र का अक्षर अक्षर हमारे लिए मान्य है, साथ ही सांख्यनिष्ठा के प्रवर्त्तक कपिल भी हमारे आराध्य हैं । स्वयं भगवान् ने "सिद्धानां कपिलो मुनिः" कहते हुए कपिल के प्रति अपनी निष्ठा प्रकट की है । उधर विदितवेदितव्य, भक्तिनिष्ठा के प्रवर्त्तक **हिरण्यगर्भ महर्षि** भी हमारे लिए ईश्वरतुल्य-ही मान्य हैं । कर्म्मयोगनिष्ठा के मूलप्रवर्त्तक **स्वयम्भू मनु** भी हमारी श्रद्धा के अनन्यभाजन हैं । फिर हम कैसे इनके सिद्धान्तों को भ्रान्त बतलाने का दुस्साहस करसकते हैं । जब हम यह दुस्साहस नहीं करसकते, तो फिर यह भी किस आधार पर कह सकते हैं कि, **"गीता ने शास्त्रसिद्धा योगत्रयी का संशोधन किया है"** । **निर्भ्रान्त शास्त्र की निर्भ्रान्ता योगत्रयी में संशोधन की आवश्यकता ही क्या रह जाती है ?** ।

२६–श्रुति-स्मृति–भेदसे द्विधा विभक्त शास्त्र, शास्त्र को स्वतः-प्रमाण, परतःप्रमाण–भेदभिन्ना द्विविधा प्रवृत्ति, निर्भ्रान्त वेदशास्त्र, और स्मृतिशास्त्र की युगधर्म्म–निबन्धना-भ्रान्ति—

यही वह विप्रतिपत्ति है, जिसकी विभीषिका से ही व्याख्याता आज पर्य्यन्त तटस्थ ही बनते आरहे हैं । एवं जिस तटस्थता से ही गीता का वास्तविक मर्म्म अबतक सर्वात्मना तिरोहित ही रहा है । "शास्त्र" को हम सबसे पहिले दो भागों में विभक्त करते हैं । पहिला विभाग "श्रुतिशास्त्र" है, एवं दूसरा विभाग "स्मृतिशास्त्र" है । **वेदशास्त्र श्रुतिशास्त्र है, एवं वेदातिरिक्त, किन्तु वेदार्थानुगामी, वेद से अविरुद्ध इतर सम्पूर्ण शास्त्रों का संग्रह स्मृतिशास्त्र है । वेदशास्त्र अपौरुषेय होने से, एवं ऋषियों की प्रत्यक्षदृष्टि होने से स्वतःप्रमाण है । एवं स्मृतिशास्त्र पौरुषेय होने से, एवं ऋषियों की अनुमानदृष्टि होने से परतःप्रमाण है** । अनुमानप्रमाण-प्रधान स्मृतिशास्त्रों में यदि कोई अंश वेदशास्त्र का विरोधी है, तो वह सर्वथा त्याज्य है । साथ ही यह भी निश्चित है कि, मानवज्ञान से सम्बन्ध रखने वाला स्मृतिशास्त्र कदापि एकान्ततः निर्भ्रान्त नहीं बन सकता । अवश्य ही उसमें कुछ न कुछ त्रुटि रह ही जाती है । सर्वज्ञ ईश्वर का ज्ञान ही सर्वात्मना निर्भ्रान्त होसकता है । **वेदशास्त्र सर्वज्ञ ईश्वर की वाणी है, अतः केवल वेदशास्त्र ही निर्भ्रान्त होसकता है** । वेदशास्त्र के आधार पर निर्म्मित मानवज्ञान–सम्बन्धी स्मृतिशास्त्र तो सामयिक परिस्थिति का अनुगामी बनता हुआ सदा के लिए कदापि निर्भ्रान्त नहीं माना जा–सकता ।

२७–सामान्य धर्म्म–प्रतिपादक वेदशास्त्र, एवं विशेषधर्म्म--प्रतिपादक स्मृति–शास्त्र, तथा वेदमूलक स्मृतिशास्त्र का प्रामाण्य और वेदविरुद्धा स्मृतियों का अप्रामाण्य—

वेदशास्त्र जहाँ सामान्यधर्म्म का प्रतिपादक है, वहाँ स्मृतिशास्त्र विशेषधर्म्मों का प्रचारक है । अवश्य ही वेदानुगत स्मृतिशास्त्र को स्वप्रतिपाद्य विशेषधर्म्मों के साथ साथ वेदप्रतिपाद्य सामान्यधर्म्म

का भी आदर करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में–इसे अपने विशेषधर्म की प्रामाणिकता के लिए सामान्य धर्म्म की भी प्रमाणिकता स्वीकार करनी पड़ती है। इसीलिए स्मृतिशास्त्र का यह भी एक आवश्यक कर्त्तव्य होजाता है कि, देश–काल–पात्र–द्रव्य–श्रद्धा के तारतम्य से विशेषधर्म्मों के परिवर्त्तन के विधान के साथ साथ इसे यह ध्यान रखना पड़ता है कि, कहीं वेदसिद्ध सामान्यधर्म्म (चातुर्वर्ण्यमूलक वर्णाश्रमधर्म्म) पर तो कोई आघात नहीं होरहा। यदि कोई स्मृतिशास्त्र वेद के इस सामान्यधर्म्म की उपेक्षा कर विशुद्ध सामयिक प्रवाह में पड़कर धर्म्म के आत्यन्तिक परिवर्त्तन की कुचेष्टा करता है, तो आर्षसाहित्य उसका सर्वात्मना बहिष्कार ही कर देता है, जैसाकि निम्न लिखित स्मार्त्त वचन से स्पष्ट है—

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ॥
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥१॥
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित् ॥
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥२॥

—मनुः १२।९४।९६।

२८–स्मृतियों का अनुगमनीय सुचरित, एवं बुद्धिवादात्मक-त्याज्य–दृष्टिकोण, तथा तत्सम्बन्ध में तत्त्वसमन्वय—

उक्त शास्त्रद्वयी के आधार पर हमें इस निश्चय पर पहुँचना पड़ता है कि, वेदशास्त्र सर्वथा निर्भ्रान्त शास्त्र है*, एवं मानवज्ञान–सम्बन्धी स्मृतिशास्त्र आंशिकरूप से भ्रान्त बन सकता है। स्मृतिशास्त्र का जो आदेश वेदसम्मत है, वह विना किसी संशोधन के हमें मान्य है। परन्तु मानवसुलभ सहज अनृतभाव-मूलक जो सिद्धान्त वेद-विरुद्ध है, प्रत्येक दशा में वह स्मार्त्त सिद्धान्त तो संशोधन की ही अपेक्षा रखता है। यदि स्मृतिशास्त्र सर्वथा निर्भ्रान्त ही होता, तो आचरणमूलक उसके लिए वेद हमें कभी यह आदेश न देता कि–"जो हमारे (स्मृतिशास्त्र के), **वेदशास्त्रसम्मत सुचरित हैं, तुम उन्हीं का अनुगमन करना, अन्यों का नहीं**"÷।

*** पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।**
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥ (मनुः १२।९४)।

÷ यान्यस्माकं सुचरितानि-तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि।
यान्यनवद्यानि कर्म्माणि, तानि त्वया सेवितव्यानि, नो इतराणि ॥ (उपनिषत्)

यह भी एक रहस्य की बात है कि, वेद विद्याशास्त्र है, एवं स्मृति धर्म्मशास्त्र है। धर्म्म का मौलिक रहस्य विद्या है, एवं इस का वेद में प्रतिपादन हुआ है। मौलिकरहस्यानुगत आचरण ही धर्म्म है, एवं इस का स्मृति में निरूपण हुआ है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि, धर्म्म का धर्म्मतत्त्व बतलाना वेदशास्त्र का काम है, एवं धर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाना स्मृतिशास्त्र का काम है।

२६–स्मार्त्त ग्रन्थोकी भ्रान्ति के विभिन्न दो दृष्टिकोण, एवं स्मृतिग्रन्थों के व्याख्याताओं की कल्पना से अनुप्राणिता विविध भ्रान्तियाँ—

स्मृतिशास्त्रों की भ्रान्ति के दो स्वरूप हैं। जिन महापुरुषोंने स्मृतिग्रन्थों का निर्म्माण किया है, वे स्वयं भी ज्ञान की सीमा से भ्रान्ति कर सकते हैं, अथवा **'गच्छतः स्खलनं वापि भवत्येव प्रमादतः'** के अनुसार उन से भी त्रुटि होसकती है। अथवा स्मृतिशास्त्रों के अनुयायी स्मार्त्त वचनों के वास्तविक तात्पर्य्य को न समझकर हम अपने बुद्धिदोष से भी उन स्मार्त्त सिद्धान्तों को भ्रान्त बना डालते हैं। उदाहरण के लिए गीताशास्त्र को ही लीजिए। गीताने आत्मव्यापकता की भावना के अभ्यास के लिए **'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः'** यह आदेश दिया है अब यदि कोई राष्ट्रवादी गीताभक्त इस वचन का यह तात्पर्य्य समझने की भूल कर बैठता है कि,–**'समझदार आदमी के लिए कुत्ते और चाण्डाल में कोई अन्तर नहीं है, उस के लिए तो दोनों समान है,"** इस आदेश से भगवान् **यही बतलाना चाहते हैं कि, संसार के प्राणीमात्र एक धरातल पर ही प्रतिष्ठित हैं। परस्पर स्पृश्यास्पृश्य को भावना करने लग पड़ना, छोटा बड़ा समझना, गीता के विरुद्ध है'** तो इस से भी सामान्य मनुष्य भ्रान्ति कर बैठते हैं। इसप्रकार स्वयं ग्रन्थकर्त्ता के सहजसिद्ध अनृतसंहित--मानवस्वभाव से भी ग्रन्थ में भ्रान्ति सम्भव है, एवं तत्सिद्धान्तानुयायी अल्पज्ञ मनुष्यों के दोष से (वास्तव में निर्भ्रान्त रहता हुआ भी वह सिद्धान्त) भ्रान्त बन जाता है।

'क्या करना चाहिए ?, क्या नहीं करना चाहिए' ?, इस आचरणभाव का प्रतिपादक शास्त्र स्मृतिशास्त्र है। **'किस पद्धति से, किस उपनिषत् से करना चाहिए'** इस मौलिकभाव का प्रतिपादक शास्त्र वेदशास्त्र है। गीता यद्यपि सामान्य-परिभाषा के आधार पर स्मृतिशास्त्र ही माना गया है। परन्तु गीता का प्रधान लक्ष्य कर्म्मेतिकर्त्तव्यता बतलाना नहीं है, **क्या 'करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए'** यह लक्ष्य नहीं है। अपितु वेदशास्त्रवत् कर्त्तव्यधर्म्म का मौलिक रहस्य बतलाते हुए उस की रहस्यात्मिका उपनिषत् (मौलिक-उपपत्ति) बतलाना हीं गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। अपने उसी मौलिक विषय के कारण गीता स्मृति होती हुई भी **'उपनिषत्'** (**वेद**) कहलाई है, एवं अपनी इसी अपूर्वता के कारण यह ईश्वरीयशास्त्र–अपौरुषेय वेदशास्त्र के समकक्ष मान लिया गया है। इस वक्तव्य से प्रकृत में हमें यही कहना है कि, **"यान्यस्माकं सुचरितानि०'** इत्यादि श्रुति का **'सुचरितानि'** पद स्मृतिशास्त्र की ओर ही संकेत कर रहा है। ऐसा मानने के दो कारण हैं। आचरण ही सुचरित से अभिप्रेत है। एवं आचरण ही कर्म्मेतिकर्त्तव्यता है। यह इति-कर्त्तव्यता स्मृतिशास्त्र से ही प्रधान सम्बन्ध रखती है। दूसरा कारण यह है कि, वेदशास्त्र सर्वथा निर्भ्रान्त है। उस की आज्ञा में–**"यह मान्य, वह अमान्य"** इस द्वैधीभाव का समावेश असम्भव है। इसीलिए महर्षियों का यह निर्णय सुसंगत है कि, **'जहाँ श्रुतियों में परस्पर विरोध आवे, वहाँ दोनों हीं प्रमाण हैं"**। यह निर्णय तभी मान्य बन सकता है, जब कि श्रुति को अथ से इति पर्य्यन्त निर्भ्रान्त ही मान लिया जाय। ऐसी दशा में **'नो इतराणि'** वाक्य का स्मृतिशास्त्र पर ही पर्य्यवसान मानना शास्त्र, एवं युक्तिसम्मत सिद्ध होता है। इसीलिए हमने इन वचनों को स्मृतिशास्त्रपरक ही माना है।

३०–वेदाभिमता योगत्रयी के सम्बन्ध में स्मृतिग्रन्थ, एवं स्मृत्यनुगता योगत्रयी के भ्रान्त दृष्टिकोण का दिग्दर्शन—

अब हमें विचार यह करना है कि, स्मार्त्तग्रन्थों में वेदाभिमता जिस योगत्रयी का निरूपण हुआ है, उस का कौनसा अंश भ्रान्त है ?, एवं भगवान्ने उस का किस रूपसे संशोधन किया है ?। सब से पहिले तो उस योगत्रयी का ही विचार अपेक्षित है, जिस का कि स्वतःप्रमाणभूत, अतएव निर्भ्रान्त वेदशास्त्र से सम्बन्ध है। वेदशास्त्र जब निर्भ्रान्त है, तो तत्सम्मता योगत्रयी भी निर्भ्रान्ता ही होनी चाहिए, और वास्तव में ऐसा है भी। वेदयुगानुगत भक्तिमार्ग का स्वरूप है ?, इस प्रश्न का समाधान तो अगले प्रकरणों में होगा। अभी तो केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, वेद का ब्राह्मणभाग कर्म्मनिष्ठा का प्रतिपादक है, वेद का आरण्यक भाग भक्तिनिष्ठा का समर्थक है, एवं उपनिषद्भाग ज्ञाननिष्ठा का अनुमोदक है।

३१–वेद के ब्राह्मणभागोक्त कर्म्मयोग के सम्बन्ध में मानव की त्रिगुणात्मिका प्रवृत्ति, तथा त्रिगुणातीता निवृत्ति का स्वरूप-समन्वय, एवं प्रवृत्ति-निवृत्ति-भावद्वयात्मक ब्राह्मणवेद—

तीनों में से पहिले ब्राह्मणभागोक्त कर्म्मकाण्ड का ही विचार कीजिए। वेद एक प्रकृतिसिद्ध सनातन-शास्त्र है। योगमाया के गर्भ में रहने वाले त्रिगुणभाव से नित्य आक्रान्त मानवसमाज के अभ्युदय के लिए प्रवृत्त वेदशास्त्र स्वाभाविक प्रवृत्ति की एकान्ततः उपेक्षा नहीं करसकता। संसार में रहने वाले योगमाया-ग्रहग्रस्त मनुष्य स्वभाव से ही वैभवों की ओर आकर्षित बने रहते हैं—'प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्'। पुत्र-लोक-वित्तैषणाओं में किस मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं है ?। स्वर्गादि सुख कौन नहीं चाहता ?। जो व्यक्ति जन्मतः लोकसम्पत्ति की ओर झुका रहता है, उसे यदि सहसा यह कह दिया जाय कि, **'तुम किसी फल की कामना न रखते हुए कर्म्म करो'** तो सम्भवतः इस आदेश का अनुगामी सहस्रों में से कोई सा ही व्यक्ति बन सकेगा। जबतक सिद्धान्त व्यवहार में न आवे, तबतक उसका मूल्य ही क्या है ?। और ऐसे अव्यवहार्य्य, अथवा क्वाचित्क सिद्धान्त का उपदेश देने वाले उस वेदशास्त्र का महत्त्व ही क्या है ?। वेद जब ईश्वरीय ज्ञान है, तो उस में वैसी शक्ति होनी हीं चाहिए कि, वह प्रकृतिमर्य्यादा को, मानव-समाज की स्वाभाविक प्रवृत्ति को प्रश्रय देता हुआ ही क्रमशः उसे अभ्युदय निश्रेयस् की ओर लेजाय। एकमात्र इसी लक्ष्यसिद्धि के लिए वेदने अपने कर्म्मकाण्ड को **प्रवृत्ति-निवृत्ति** के भेद से दो भागों में विभक्त किया। कामनामय कर्म्मों का भी विधान किया, एवं निष्कामकर्म्मों का भी स्पष्टीकरण किया।

३२–वेद के उपनिषद्भाग के सम्बन्ध में वेदान्ताभिनिविष्टों की मान्यता, तदनुबन्धिनी विडम्बना, एवं 'बृहदारण्यकोपनिषत्' आदि व्यवहारमूलक-तथ्य का समन्वय प्रयास—

कल्पित-वेदान्तवादियोंने समझ रक्खा है कि, वेद का उपनिषत्-भाग ही निवृत्तिमार्ग का उपदेश देता है, ब्राह्मणभाग तो केवल प्रवृत्ति-प्रधान ही है। परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि, कर्म्मकाण्ड के प्रतिपादक सुप्रसिद्ध शतपथब्राह्मण के तेरह काण्ड जहाँ प्रवृत्तिमार्ग का निरूपण करते हैं, वहाँ कर्म्मप्रतिपादक इसी ब्राह्मण

का चौदहवाँ काण्ड निवृत्तिमार्ग का ही विधान कर रहा है । सब से बड़ा चमत्कार तो यह है कि, शतपथ का यह अन्तिम काण्ड ही स्वतन्त्ररूप में आकर उसी वेदान्तसम्प्रदाय में **'बृहदारण्यकोपनिषत्'** नाम से प्रसिद्ध होरहा है । कर्म-भक्ति-ज्ञान का पार्थक्य वहाँ है ही नहीं । **वेद की दृष्टि से जो योग है, वही सांख्य है । एवं जो सांख्य है, वही योग है** । इसी रहस्य को सूचित करने के लिए ऋषिने केवल शथपथ-ब्राह्मण में हीं तीनों का समन्वय कर दिया है ।

३३–वेदयुगानुगता भक्ति का उपनिषत् के ज्ञानमार्ग में अन्तर्भाव, अतएव भक्तियोग' के स्वतन्त्र-व्यवहार का अनवसर—

इस समन्वय में भी कुछ चमत्कार है । भक्तिमार्ग ज्ञान कर्म से पृथक् नहीं बचता । इसीलिए **भक्तिप्रतिपादक आरण्यक, एवं ज्ञानप्रतिपादक उपनिषत्**, दोनों का एकसाथ ग्रहण कर लिया गया है, जैसाकि **'बृहदारण्यकोपनिषत्'** इत्यादि वृद्धव्यवहारों से स्पष्ट है । यही कारण है कि, वेदसम्बन्धिनी निष्ठात्रयी आगे जाकर दो ही निष्ठाओं हीं में परिणत होगई है । तीसरी भक्तिनिष्ठा का ज्ञानयोग में हीं अन्तर्भाव होगया है ।

३४–ब्राह्मणभागोक्त–प्रकृतिनिबन्धन–गुणात्मक–प्रवृत्त्युन्मुख कर्म्मों की उपयोगिता का स्वरूप–दिग्दर्शन, एवं भौमदेवताओं के द्वारा तत्कर्म्म-माध्यम से असुर–पराभव—

इसप्रकार कर्म्मप्रतिपादक ब्राह्मणभागने **प्रवृत्तिकर्म्म-निवृत्तिकर्म्म** (जिसे कि गीतापरिभाषा में **निष्कामकर्म्म** कहा जाता है) दोनों का ही निरूपण हुआ है । प्रवृत्तिकर्म्म के सम्बन्ध में यह प्रश्न होसकता हैं कि, जब प्रवृत्ति स्वाभाविकी है, तो उस का विधान करने की क्या आवश्यकता रह जाती है ? । उत्तर स्पष्ट है । प्रवृत्ति का कोई नियत नियमनसूत्र है, नियत व्यवस्था है । वही सूत्र 'प्रकृति' है । यदि फलकामुक मनुष्य प्रकृति के अनुसार कर्म्म करेगा, तो उस की प्रवृत्ति सफल होगी, एवं प्रकृत्यनुकूला वैसी सिद्धि विश्व-अशान्ति का भी कारण नहीं बनेगी । उधर प्रकृति-विरुद्ध कर्म्मों में प्रवृत्त रहने वाले व्यक्ति के कर्म्म में सफलता भी संदिग्ध रहेगी, यदि सफलता हो भी जायगी, तो वह प्रकृति से विरुद्ध जाती हुई वैकारिक विश्व के लिए अशान्ति का भी कारण सिद्ध होगी । परमार्थ न सही, स्वार्थ तो कम से कम हमारा ऐसा हो, जिस से दूसरों को हानि न पहुँचे । इसी प्रयोजन के लिए वेदने प्रवृत्तिकर्म्मों को सुव्यवस्थित करना आवश्यक समझा । और त्रिगुणभावमयी यह प्रवृत्ति आत्मनिःश्रेयसभाव की सम्पादिका न बनती हुई भी लोकरक्षा के लिए अवश्य ही चरितार्थ हुई । प्रवृत्तिमूलक इन्हीं यज्ञकर्म्मों से भौमदेवताओंने समय समय पर आसुर बल को परास्त कर विश्व को आपत्तियों से बचाया, यह सर्वविदित ही है ।

३५–लोकप्रवृत्ति के समतुलन में शास्त्रप्रवृत्ति का श्रेष्ठत्त्व, एवं ब्राह्मणभागोक्त कर्म्मकाण्ड का निर्विरोध–समन्वय—

प्रवृत्तिकर्म्म के साथ साथ ही निवृत्तिकर्म्म का उद्घोष करते हुए वेदने यह भी सिद्ध कर दिया कि, लोकप्रवृत्ति से यद्यपि यह शास्त्रप्रवृत्ति कहीं अच्छी है । परन्तु कहीं इसी पर विश्राम न कर लेना–**'नामृतत्त्व-**

स्य तु-आशास्ति वित्तेन (शत०ब्रा०) । चरम निःश्रेयस तो निवृत्तिभाव पर ही निर्भर है । इसप्रकार सामान्य अधिकारियों के बुद्धिवाद को सुरक्षित रखने से लिए पहिले वेदने कामनामय, अतएव त्रिगुणभावमय कर्म्म-काण्ड का समर्थन किया, एवं आगे जाकर चौदहवें काण्ड में त्रिगुणातीत निवृत्तिप्रधान कर्म्ममार्ग का आदेश दिया। स्थूलारुन्धतीन्याय से वेद को जो कुछ कहना था, कह दिया। यही वेद के ब्राह्मणभाग से सम्मत कर्म्मयोग कहलाया, जो कि सर्वथा निर्भ्रान्त है।

३६-कर्म्मानन्तरभावी भक्तिपथ, तथा ज्ञानपथ, एवं औपनिषद-ज्ञानयोग से अनुप्राणित कर्म्म का स्वरूप-दिग्दर्शन—

कर्म्म के अनन्तर वेद के सामने **भक्तिकाण्ड, और ज्ञानकाण्ड** आए। इनके लिए इसे आरण्यक, एवं उपनिषत्, रूप में परिणत होना पड़ा। वेद का भक्तिमार्ग क्योंकि निवृत्तिप्रधान था, अतएव पूर्वकथनानुसार आगे जाकर निवृत्तिमूलक औपनिषद ज्ञानयोग में हीं इस का अन्तर्भाव होगया। वेद को आशङ्का थी कि, कहीं ज्ञानयोग का अर्थ कर्म्मसन्यास न समझ लिया जाय। अतएव ज्ञानयोग की प्रतिपादिका पहिली ईशोपनिषत् में ही उसने-**'कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि'—'न लिप्यते नरे'** यह स्पष्ट करते हुए ज्ञानमार्ग में भी कर्म्म की आवश्यकता सूचित करदी।

३७-कर्म्मत्यागाभिमानी ज्ञानवादी वेदान्तियों का कर्म्मोपदेश के सम्बन्ध में अनर्गल प्रवाद, एवं तत्सम्बन्ध में कर्म्म की अनिवार्य्यता का उद्घोष —

कर्म्मत्यागाभिमानी कहा करते हैं कि, "यह श्रुति सामान्य अधिकारियों से ही सम्बन्ध रखती है। जो ज्ञान-योग की योग्यता नहीं रखते, उन्हें हीं कर्म्म का उपदेश दिया गया है।" अतिमानी व्याख्याता यह भूल जाते हैं कि, वेद का यह कर्त्तव्य तो ब्राह्मणभाग से ही गतार्थ होरहा है। जो निवृत्तिकर्म्ममूलक ज्ञानयोग की उच्च भूमिका के अधिकारी नहीं हैं, उन्हीं के लिए आरण्यक, और ब्राह्मण भाग नियत हैं। जब यह लक्ष्य पूर्वभागों से गतार्थ है, तो फिर उपनिषत्-सम्बन्धी कर्म्मवचन को उधर खैंचना कैसे सङ्गत होसकता है ?। अवश्य ही औपनिषद ज्ञानयोग का यही तात्पर्य्य मानना पड़ेगा कि, ज्ञानयोग में भी कर्म्म का ज्ञानुष्ठान किया जाय, परन्तु कर्त्तव्यबुद्धि से, फलकामासक्ति छोड़ कर।

३८-उपनिषदों की आवश्यकता के सम्बन्ध में एक प्रश्न, एवं तन्निराकरण-प्रयास—

पाठक यह प्रश्न करेंगे कि, जब ज्ञानयोग का यही तात्पर्य है-कि, निष्कामबुद्ध्या कर्म्म करना, 'तो उपनिषत् की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। क्योंकि पूर्वकथनानुसार यह काम तो वेदोक्त ब्राह्मणभाग से ही गतार्थ है। जब ब्राह्मणभागने प्रवृत्ति के साथ साथ निवृत्तिकर्म्म का भी उपदेश दे दिया, एवं निवृत्तिकर्म्म ही का नाम जब ज्ञानयोग है, तो उस अवस्था में 'उपनिषत्'भाग तो सर्वथा निरर्थक ही होजाता है।

३९-ब्राह्मणभागोक्ता कर्म्म-भक्ति-ज्ञान-त्रयी का स्वरूप-समन्वय, तन्मूला द्विविधा निष्ठा, एवं सर्वतन्त्र-स्व तन्त्र-अव्ययेश्वरसम्मत-'बुद्धियोग' —

यही विप्रतिपत्ति उस रहस्यात्मक चौथे बुद्धियोग का स्पष्टीकरण कर रही है, जिसका कि हम आरम्भ से ही यशोगान करते आरहे हैं। **ब्राह्मणभागोक्त प्रवृत्तिमूलक कर्म्म कर्म्मयोग है, ब्राह्मणभागोक्त निवृत्तिमूलक**

निष्कामकर्म्म ज्ञानयोग है, आरण्यकभागोक्ता उपासना भक्तियोग है, एवं उपनिषदुक्त, कर्म्म-परिग्रहलक्षण, रागद्वेषवियुक्त ज्ञानयोग चौथा बुद्धियोग है। लेप का रागद्वेष से सम्बन्ध है। क्योंकि बुद्धियोगलक्षण औपनिषद ज्ञानयोग में, किंवा ज्ञानयोगात्मक कर्म्मयोग में रागद्वेष का अभाव है, वैराग्य का समावेश है, अतएव यह बुद्धियोगलक्षण 'योग' ही कर्म्मों में (ब्राह्मणोक्त प्रवृत्तिमूलक कर्म्मों में) कौशल बनता हुआ सर्वथा अबन्धन है। उपनिषत् की निम्न लिखित श्रुति इसी **रहस्यमय बुद्धियोग** का विश्लेषण कर रही है—

कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे॥
—ईशोपनिषत्

४०–मत्सम्मत वैराग्यबुद्धियोग का संस्मरण—

"**अन्ते मतिः सा गतिः**" इस सिद्धान्त के अनुसार वेद का अन्तिम भागरूप, अतएव '**वेदान्त**' नाम से प्रसिद्ध उपनिषच्छास्त्र अपने बुद्धियोग के द्वारा यही शिक्षण करता है कि, तुम प्रवृत्तिमूलक ब्राह्मणभागोक्त कर्म्मयोग का यदि बुद्धियोग के समावेश से अनुष्ठान करोगे, तो तुह्मारा यह कर्म्मयोग "**धर्म्मबुद्धियोग**" बन जायगा। निवृत्तिलक्षण कर्म्मयोग (जिसे कि हम ज्ञानयोग कहेंगे) में बुद्धियोग के समावेश से यह "**ज्ञानबुद्धियोग**" बन जायगा। एवं **आरण्यक**-सम्मत भक्तियोग में बुद्धियोग के समावेश से यह "**ऐश्वर्य्यबुद्धियोग**" बन जायगा। इसप्रकार तीनों का, किंवा दोनों निष्ठाओं का पार्थक्य हट जायगा, एवं साम्राज्य रह जायगा केवल **मत्सम्मता-बुद्धियोगनिष्ठा** का, किंवा **वैराग्यबुद्धियोग** का।

४१–क्षरानुगत कर्म्मयोग, अक्षरानुगत ज्ञानयोग, क्षराव्ययानुगत भक्तियोग, एवं अव्ययानुगत बुद्धियोग, तथा शास्त्रसिद्ध-योगानुगता कर्म्म-ज्ञान-भक्ति-बुद्धि-भेद-भिन्ना काण्डचतुष्टयी का संस्मरण—

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, वेदोक्त इन चारों निष्ठाओं में धर्म्मबुद्धियोगनिष्ठा में (कर्म्मयोग में) वैकारिक विश्व की, दूसरे शब्दों में क्षरप्रपञ्च की ही प्रधानता है, अतएव इसे हम '**'क्षरयोग**'' ('**व्यक्तयोग**') कहसकते हैं। ज्ञानबुद्धियोगनिष्ठा में (ज्ञानयोग में) विकारप्रपञ्चाधिष्ठाता अक्षर की प्रधानता है, अतएव इसे हम **अक्षरयोग** (**अव्यक्तयोग** कह सकते हैं। ऐश्वर्य्यबुद्धियोगनिष्ठा में व्यक्ताक्षर, एवं अव्ययेश्वर का समन्वय है, अतएव इसे हम **क्षराव्यययोग** कह सकते हैं। यद्यपि भक्तिमें आंशिकरूप से अव्ययलक्षणा मन्निष्ठा भी का सम्बन्ध है, अतएव तीनों की अपेक्षा इसे उत्कृष्ट भी माना गया है, अतएव इस का उपनिषत् में समन्वय भी माना गया है, तथापि क्षरकर्म्म के समन्वय से यह विशुद्ध मन्निष्ठा नहीं है। उधर उपनिषत् से संसिद्ध चौथे वैराग्ययोग में कर्म्म भी अव्ययानुगत है, तथा ज्ञान भी अव्यायानुबन्धी ही है। गीतापरिभाषानुसार "**अहं**" शब्द अव्यय का ही वाचक है, अतएव इस चौथे योग को हम "**मन्निष्ठा**" (**अव्ययनिष्ठा**–"**मे मतम्**" (**अव्ययमतम्**) कह सकते हैं। इसप्रकार थोड़ी सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर त्रिकाण्डवेद-शास्त्र में उसीप्रकार चार काण्डों की सत्ता सिद्ध होजाती है, जैसे कि त्रिकाण्डा गीता वस्तुतः चतुष्काण्डा ही बनी हुई है।

४२–वेदसम्मता योगचतुष्टयी, वैराग्यबुद्धियोगगर्भिता संशोधिता निर्भ्रान्ता योगत्रयी, एवं प्रामाणिक-शास्त्रों का संस्मरण—

वेदसम्मता यह योगचतुष्टयी, किंवा दूसरे शब्दों में वैराग्यबुद्धियोगगर्भिता योगत्रयी ही निर्भ्रान्ता योगत्रयी है। इस में संसोधन अणुमात्र भी अपेक्षित नहीं हैं, एवं इस दृष्टि से गीताशास्त्र किसी अपूर्वयोग का निरूपण नहीं कर रहा। इसी दृष्टि को लक्ष्य बना कर भगवान् ने "तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते" कहा है। गीता का 'शास्त्र' शब्द प्रधानरूप से वेदशास्त्र का संग्राहक बनता हुआ, वेदसम्मत वेदान्तशास्त्र (शारीरकशास्त्र), मनुस्मृति, एवं और और भी वेदाविरोधी निबन्धादि शास्त्रों का अनुग्राहक बन रहा है।

४३–श्रुतिशास्त्रसिद्धा योगत्रयी-चतुष्काण्डा—

१—प्रवृत्तं वैदिकं कर्म्म——आत्मक्षरयोगः——कर्म्मयोगः	—१	बुद्धियोगः
२—निवृत्तं वैदिकं कर्म्म——अव्यक्ताक्षरयोगः—ज्ञानयोगः		
३—अव्ययानुगता भक्तिः——व्यक्त-अतीतयोगः——भक्तियोगः	—२	
४——अव्ययानुगते ज्ञानकर्म्मणी-पुरुषोत्तमयोगः———बुद्धियोगः	—३	

———*———

४४–प्रकारान्तरेणश्रुतिशास्त्रसिद्धा योगचतुष्टयी, योगत्रयी वा

१—कर्म्मयोगः—धर्म्मबुद्धियोगः——ब्राह्मणभागसिद्धः	ब्राह्मणयोगः	१
२—ज्ञानयोगः——ज्ञानबुद्धियोगः———आरण्यकभागसिद्धः		
३—भक्तियोगः——ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः——ब्राह्मणभागसिद्धः	आरण्यकयोगः	२
४—बुद्धियोगः——वैराग्यबुद्धियोगः—उपनिषद्भागसिद्धः	उपनिषद्योगः	३

———*~———

४५–'ज्ञातव्यवेद' के आधार पर प्रतिष्ठित 'कर्त्तव्यवेद' के सुप्रसिद्ध तीन ग्रन्थ-संस्थान, एवं तीनों संस्थानों के द्वारा कर्म्म-उपास्ति-ज्ञान का स्वरूप-उपबृंहण—

उक्त विभाग-चतुष्टयी के सम्बन्ध में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, यदि वेदशास्त्र की दृष्टि में तीन के स्थान में चार योग थे, तो उसका यह कर्त्तव्यात्मक भाग चार भागों में विभक्त क्यों नहीं माना गया ?। कर्त्तव्यवेद के **ब्राह्मण–आरण्यक–उपनिषत्**, ये तीन भाग ही प्रसिद्ध हैं। एवं सामान्य प्रत्यय के अनुसार भी तीनों क्रमशः **कर्म्म–उपास्ति–ज्ञान** के ही प्रतिपादक माने गये हैं। फिर यह चौथा 'बुद्धियोग' कहाँ से आगया ?, और आ भी गया, तो इसके लिए वेद का एक स्वतन्त्र काण्ड और क्यों न हुआ ?।

४६–बुद्धियोग-निबन्धन स्वतन्त्र काण्ड के सम्बन्ध में एक महती विप्रतिपत्ति, एवं तन्निराकरण-प्रयास—

विप्रतिपत्ति यथार्थ है। पूर्व के **'ज्ञानयोग-परीक्षाप्रकरण'** में भी प्रकारान्तर से इस विप्रतिपत्ति का दिग्दर्शन कर दिया गया है, एवं साथ ही रूपान्तर से वहीं समाधान भी कर दिया गया है। यहाँ एक दूसरी दृष्टि से यह विप्रतिपत्ति हमारे सामने आई है। बात वास्तव में यह है कि, कर्त्तव्यभागात्मक वेदशास्त्र जीवात्मा का ईश्वरात्मा के साथ योग कराना चाहता है। यह प्रत्यगात्मा (ईश्वर), एवं शारीरक आत्मा (जीव), दोनों ही **"स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः"** के अनुसार त्रिकल है। इस की तीनों कलाओं का उस की तीनों कलाओं के साथ योग करा देना हीं वेदशास्त्र का मूल उद्देश्य है। **वाक्कला का वाक्कला के साथ योग करा देना हीं कर्म्मयोग है। प्राण का प्राण के साथ योग करा देना हीं भक्तियोग है। एवं मनका मन के साथ योग करा देना हीं ज्ञानयोग है**। एवं इस दृष्टि से तीन हीं योग बनते हैं। इसी प्रकृतिसिद्धा त्रित्वमर्य्यादा की रक्षा के लिए वेद को **ब्राह्मण-आरण्यक उपनिषत्**, इन तीन ही भागों में परिणत होना पड़ा है। इसीलिए कर्त्तव्यवेद के भाग 'त्रिकाण्ड' नाम से ही प्रसिद्ध हुए हैं।

४७–बुद्धियुक्त मन की विज्ञानवत्ता, तन्निबन्धना योगत्रयी की बुद्धियोगरूपता, एवं विप्रतिपत्ति का आत्यन्तिक-निराकरण—

ये तीनों हीं योग यदि सकामभाव से किए जाते हैं, तो ये प्रत्यागात्मयोग से वञ्चित रह जाते हैं। इसके लिए तीसरे उपनिषत्–भागने **"कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि"** इत्यादिरूप से तीनों के साथ निष्कामभाव का सम्बन्ध कराना आवश्यक समझा। उपनिषत् ने बतलाया कि, **कर्म्म–ज्ञान–भक्ति**–तीनों हीं **विद्या-श्रद्धा–उपनिषत्** से किए जाने पर ही वीर्य्यवत्तर बनते हुए सफलयोग बन सकते है। कामभाव मन की वृत्ति है, एवं निष्कामभाव असङ्गबुद्धि का व्यापार है। यदि असङ्गबुद्धि को प्रधान बनाते हुए, दूसरे शब्दों में–बुद्धि का मन के साथ योग कराते हुए योगत्रयी का अनुष्ठान किया जायगा, तो जीवात्मा संसार–समुद्र का तरण करता हुआ लक्ष्यस्थान पर पहुँच जायगा। इसप्रकार उपनिषत्ने विस्पष्ट शब्दों में बुद्धियोग की घोषणा की, और आदेश दिया कि, तुह्मारा कर्म्म, तुह्मारी भक्ति, एव तुह्मारा ज्ञान तभी सफल है, जबकि तुम **विज्ञानवान् (बुद्धियोगी)** बन जाओ।

४८–रथ-रथी-प्रग्रह मार्ग-यात्रा-आदि से समन्वित कर्त्तव्यपथ का संस्मरण, एवं तत्-सम्बन्ध में महर्षि कठ के उद्गार—

शरीररूप 'रथ'में प्रतिष्ठित 'रथी' आत्मा(शारीरक आत्मा)को प्रत्यगात्मा पर पहुँचना है। इन्द्रियाश्व का 'प्रग्रह' (लगाम) मन है। 'सारथी' बुद्धि है। यदि सारथी के हाथ में बागडोर है, तो घोड़े ठीक मार्ग पर चलते हुए लक्ष्यस्थान पर पहुँचा देते हैं। यदि सारथी प्रमादी रहा, तो लगाम (मन) ढीली पड़ जायगी, घोड़े बिगड़ जायँगे, रथ टूट जायगा, रथी घायल होजायगा, और यों सबकुछ नष्ट भ्रष्ट ही होजायगा। ऐसी दशा में सारथी का योग (बुद्धियोग) नितान्त अपेक्षित होजाता है। इसी बुद्धियोग का दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है--

यः सेतुरीजानानां अक्षरं ब्रह्म यत् परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि ॥ १ ॥
आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ २ ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्म्मनीषिणः ॥ ३ ॥
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ४ ॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ ५ ॥
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत् पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥ ६ ॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥ ७ ॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ८ ॥'

—कठोपनिषदि

४९–प्रत्यगात्मा, तथा शारीरकात्मा की मध्यस्था बुद्धि, शारीरकात्म--निबन्धना योगत्रयी, एवं प्रत्यगात्मानुबन्धी बुद्धियोग, तथा इसके स्वतन्त्र-व्यवहार की अनुपयुक्तता का समन्वय--

प्रत्यगात्मा, और शारीरक--आत्मा के मध्य में बुद्धि प्रतिष्ठित है। ऐसी अवस्था में आत्मा मन के साथ जबतक बुद्धि को न रखले, तबतक बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त नहीं होसकती। एवं तबतक योगत्रयी सफल नहीं हो–

सकती। उपनिषत् कोई स्वतन्त्र विभाग नहीं है। बुद्धियोग का प्रतिपादक वेदभाग ही उपनिषत् है। योगत्रयी तो ब्राह्मण, एवं आरण्यक भाग से ही गतार्थ है। उसके साथ बुद्धि का योग कराने के लिए ही उपनिषद् भाग प्रवृत्त हुआ है। उपनिषत् को ज्ञानयोग का प्रतिपादक मानना तो सर्वथा भ्रान्ति ही है। निवृत्तिकर्म्म ही का नाम जब ज्ञानयोग है, और वह जब ब्राह्मणभाग से ही गतार्थ हैं, तो फिर उसके लिए उपनिषत् की क्या आवश्यकता रह जाती है ?। मानना पड़ेगा कि, उपनिषत् तो एक वैसा विभाग है, जिसका तीनों योगों से सम्बन्ध है। इसीलिए ब्राह्मणभाग में भी उपनिषत् का सम्बन्ध देखा जाता है, एवं आरण्यक भाग में भी सम्बन्ध पाया जाता है। यद्यपि औपनिषद–बुद्धियोग है तीनों से पृथक्, परन्तु तीनों का मूलाधार बना हुआ है। अतएव चतुर्थ काण्ड के स्वतन्त्र व्यवहार का अवसर नहीं आया–इति **"सर्वं सुस्थम्।"**

५०–धर्म्म--ज्ञान–वैराग्य--ऐश्वर्य्य–नामक–योगों की अभिधाओं के सम्बन्ध में एक महती विप्रतिपत्ति, एवं औपनिषद–बुद्धियोग के सम्बन्ध में गीताशास्त्र की अपूर्वता, तथा विलक्षणता का समन्वय--

एक विप्रतिपत्ति और। त्रिकाण्डात्मक उक्त वेदभाग में स्पष्टरूप से धर्म्म-ज्ञान-ऐश्वर्य्य-वैराग्य नामक बुद्धियोगों का उल्लेख नहीं मिलता। यद्यपि उपनिषत् में अवश्य ही बुद्धियोग का आभास मिलता है, परन्तु स्पष्टरूप से यहाँ भी व्यवच्छेद (छाँट) नहीं हुआ है। इसका क्या कारण ?। और किस आधार पर इस विभागचतुष्टयी को प्रामाणिक मान लिया जाय ?। इस विप्रतिपत्ति का उत्तर यही हमारा **गीताशास्त्र** है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, उपनिषत् में प्रतिपादित बुद्धियोग, एवं अव्ययात्मा सर्वथा संकुचित ही रहे। वहाँ रहस्यभाषा में, गुप्तरूप से बड़े ही संक्षेप से बुद्धियोग, एवं अव्ययविद्या का निरूपण हुआ है। उसी संक्षेप का विस्तार किया है गीता–शास्त्र ने, गीतोपदेष्टा भगवान् श्रीकृष्ण ने। हमें तो इस सम्बन्ध में यह भी कह देने में कोई संकोच नहीं होरहा कि, यदि गीता न होती, तो वेद का रहस्यपूर्ण बुद्धियोग, एवं अव्ययात्मा अविज्ञात ही बने रह जाते। यही कारण है कि, वेदसिद्ध इस मत के लिए भगवान् ने-**"ये मे मतम्"** कहने में भी कोई संकोच नहीं किया। संक्षिप्त, गुहानिहित, रहस्यपूर्ण, राजर्षिसम्प्रदाय में हीं परम्परया प्रतिष्ठित देवयुग के आरम्भ में भगवान् ने हीं इसका विस्तार किया। एवं महाभारतकाल में भी भगवान् ने हीं इसका पुनरुद्धार किया। इसीलिए यह भगवद्वाणी **"गीता"** कहलाई। संकुचित पद्य का विस्तार ही तो गान है, जैसाकि प्रथमखण्डान्तगर्त नाममीमांसाप्रकरण की गीताशब्द--निरुक्ति में विस्तार से बतलाया जाचुका है। सचमुच यह बड़े ही खेद का विषय है कि, आज पुन: गीता का वह रहस्यपूर्ण बुद्धियोग विलुप्त होगया है। क्यों विलुप्त होगया ?, इसका कारण पाठक अनुपद में ही देखेंगे।

५१--योगचतुष्टयी का तत्त्वतः योगद्वयीरूपा निष्ठाद्वयी में हीं अन्तर्भाव--

इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए। आत्मा का मनोभाग इस ओर है, यही ज्ञानयोग (बुद्धियोग) का अधिष्ठता है। वाग्भाग उस ओर है, यही कर्म्मयोग है। मध्यस्थ प्राणभाग भक्तियोग है। ज्ञानयोग ब्रह्म का ज्ञानविवर्त्त है, कर्म्मयोग कर्म्मविवर्त्त है। मध्यस्थ भक्तियोग में ज्ञान–कर्म्म के अतिरिक्त तृतीय का अभाव है। अतः आगे जाकर वेदोक्त चार निष्ठाओं का देवयुगारम्भकाल में दो

ही निष्ठाओं में पर्य्यवसान होगया। व्यक्त--त्तरमूलक प्रवृत्तिकर्म्मात्मक कर्म्मयोग, अव्यक्ताक्षरमूलक निवृत्ति-कर्म्मात्मक ज्ञानयोग, इन दोनों का कर्म्मत्त्वेन एक विभाग मान लिया गया। निर्गुण-(अव्यय)-मूलक भक्तियोग, अव्ययमूलक औपनिषद ज्ञानयोग (बुद्धियोग), दोनों का एक विभाग मान लिया गया।

५२–योगत्रयी के क्षेत्र में संशोधन के लिए सर्वप्रथम प्रवृत्त देवयुगानुगत गीताशास्त्र का संस्मरण—

देवयुगानुगत भक्तिमार्ग में आरण्यकमूला सगुणोपासना का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। अपितु उस आरम्भ की परिस्थिति में **"तस्माद्धान्यन्नः परः किञ्चनास"** इस स्वायम्भुव सिद्धान्त के आधार पर समान-प्रत्ययप्रवाहरूपा निर्गुणोपासना हीं प्रचलित थी। यह उपासना निर्गुण अव्ययमूलक बुद्धियोग से स्वतन्त्र न थी। अतएव उस युग में भक्तियोग के स्वतन्त्र व्यवहार का अवसर ही नहीं आया। उस पुरायुग में लोक में दो ही निष्ठाएँ प्रचलित थीं। अवश्य ही कुछ समय पर्य्यन्त दोनों निष्ठाओं का स्वरूप सुरक्षित रहा। परन्तु कुछ ही समय पीछे दोनों का पार्थक्य कर डाला गया। उसी के संशोधन के लिए उसी देवयुग में गीतोपदेश प्रवृत्त हुआ।

५३--सुप्रसिद्धा धर्म्म-ज्ञान--वैराग्य--एश्वर्य्य--नाम की चतुर्विधा योगनिष्ठाएँ, एवं उन का सुप्रसिद्धा दो निष्ठाओं से ही समतुलन -समन्वय—

इस परिस्थिति को न जानकर यदि कोई मन्दबुद्धि यह कहने का दुस्साहस करे कि–"देवयुगारम्भ में केवल कर्म्म-ज्ञान-निष्ठाएँ हीं प्रचलित थीं, भक्तिनिष्ठा का आरम्भ में अभाव था। पौराणिक समय में हीं भक्तिमार्ग का आविर्भाव हुआ है। इसीलिए भगवान् ने पुराकाल में दो ही निष्ठाओं का उल्लेख किया है" तो उसका कोई भी महत्त्व नहीं है। अवश्य ही ज्ञान-कर्म्मवत् भक्तिनिष्ठा भी प्राचीन ही है। तीनों का आविर्भाव भी समकालिक ही है। केवल निर्गुणोपासना का स्वतन्त्ररूप से व्यवहार करना अनावश्यक समझा गया है। और इसी आधार पर **"लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता"** यह कहा गया है।

१—	१—प्रवृत्त कर्म्म	(कर्म्मयोगः)—कर्म्म —ब्राह्मणभागः		—कर्म्मनिष्ठा
	२—निवृत्त कर्म्म	(ज्ञानयोगः)—कर्म्म —ब्राह्मणभागः		
२—	३—निर्गुणभक्तिः	(भक्तियोगः)—ज्ञानम् —आरण्यकभागः		—बुद्धिनिष्ठा (ज्ञाननिष्ठा)
	४—बुद्धियोगः	(बुद्धियोगः)—ज्ञानम्–उपनिषद्भागः		

———*———

५४-वेदसिद्धा काण्डचतुष्टयी, तथा गीतासिद्धा योगचतुष्टयी का सह-समतुलन, वेदोक्ता संक्षिप्ता योगविभूति का गीता के द्वारा विस्तार, एवं प्रवृत्तिमूलक त्रैगुण्य का संशोधन—

वेदसिद्धा निष्ठाचतुष्टयी, एवं गीतासिद्धा निष्ठाचतुष्टयी में कोई अन्तर नहीं है। केवल दो बातों में गीताशास्त्र वेदशास्त्र की अपेक्षा अपूर्व बना हुआ है। पहिली बात तो यही है कि, वेद के उपनिषत्-भाग में बुद्धियोगावच्छिन्न जिस अव्ययात्मा का जहाँ बड़ी ही रहस्यभाषा में बड़े ही संक्षेप से दिग्दर्शन हुआ है,वहाँ गीता ने उसे विस्तृतरूप दे दिया है। दूसरी बात ब्राह्मणभागोक्त प्रवृत्तिमूलक कामनामय कर्म्मयोग से सम्बन्ध रखती है। वेद के ब्राह्मणभागने लोक की स्वाभाविक प्रवृत्ति को सुरक्षित रखने के लिए जिस प्रवृत्तिमार्ग का आदर किया है, भगवान् ने उसे स्वीकार नहीं किया। यह बहुत सम्भव है कि, सत्य-त्रेता-युगों में (जब कि-मानव-समाज की बुद्धि परमार्थ की ओर ही विशेषरूप से झुकी हुई थी) प्रवृत्तिमूलक कर्म्ममार्ग परमार्थभावना को मुख्य मानता हुआ विशेषरूप से अभ्युदय का ही कारण बनता होगा। उस समय के यज्ञ यागादि लोकोपकार की भावना से ही किए जाते होंगे। इसी दृष्टि से वेद का यह आदेश उन युगों के लिए अवश्य ही उपादेय रहा होगा। परन्तु इस कलियुग में, जिसमें कि मानवसमाज महास्वार्थपरायण बना रहता है, प्रवृत्तिमूलक कर्म्ममार्ग विशुद्ध स्वार्थमूलक बनता हुआ विश्व की अशान्ति का, एवं आत्मपतन का ही कारण बन जाता है। केवल इसी हेतु को मूल मान कर भगवान् ने त्रैगुण्यभावमूलक प्रवृत्तिकर्म्म को अनुपयुक्त सिद्ध कर दिया।

५५-कलियुगानुगता वैयक्तिक-स्वार्थमूला पापात्मिका वृत्ति के मूलोच्छेद-पूर्वक ही वेदवादरति का संशोधन, एवं लोकसंग्राहक भगवान् के द्वारा निर्योगक्षेम का आदेश—

भगवान् का अवतार द्वापर के अन्त में, एवं कलि के आरम्भ में हुआ था। तत्समय की परिस्थिति महास्वार्थपूर्णा थी। सब अपनी अपनी वैय्यक्तिकी स्वार्थसिद्धि के प्रयास में हीं संलग्न थे। ऐसी दशा में यदि भगवान्उस त्रिगुणभावमय वेदोक्त प्रवृत्त कर्म्म को उपादेय बतला देते,तो तत्कालीन मानवसमाज की स्वार्थवृत्ति को अवश्य ही अधिक प्रोत्साहन प्राप्त होजाता। इसलिए भगवान् ने यह आवश्यक समझा कि, अब मानव-समाज में वह योग्यता नहीं है कि, वह लोकोपकार की भावना से प्रवृत्तिकर्म्मानुष्ठान में समर्थ होसके। इसी लोकसंग्रहरक्षा के लिए भगवान् को विवश होकर वेदोक्त त्रिगुणकर्म्म के सम्बन्ध में यह कह ही देना पड़ा कि—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

५६–भावुक-मानवों की वेदानुगता भ्रान्ति, एवं गीता के ही शब्दों में भ्रान्ति का आमूलचूड़ निराकरण, तथा वैदिक यज्ञ-तपो-दान-त्रयी का निष्ठापूर्वक समर्थन—

कितने हीं महानुभाव उक्त वचनों उबित का यह तात्पर्य्य लगाते हैं कि, भगवान्ने स्पष्ट शब्दों में वेद की, किंवा वेदसम्मत यज्ञ-तपो-दान कर्म्मों की निन्दा ही की है। कहना पड़ेगा कि-अभी वे गीता के तात्पर्य्य से सर्वथा ही वञ्चित हैं। भगवान् शत्रु थे केवल प्रवृत्तिभाग के, न कि वेदोक्त कर्म्ममार्ग के। कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्णय के सम्बन्ध में शास्त्रैकनिष्ठ भगवान् वेद की निन्दा करें?, यह असम्भव है। सम्भवतः भगवान् को भी उक्त वचन श्रीमुख से निकालते हुए यह विचार हुआ होगा कि, कहीं इसका यह तात्पर्य्य न समझ लिया जाय कि, वेदोक्त कर्म्ममार्ग निन्द्य है, मोक्ष का प्रतिबन्धक है (जैसाकि आजकल के अद्वैतवादी समझ रहे हैं)। इसीलिए भगवान् को आगे जाकर स्पष्ट कर ही देना पड़ा कि—

यज्ञ-दान-तपः-कर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत् ॥
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥१॥
एतान्यपि तु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ॥
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम् ॥२॥
नियतस्य तु सन्यासः कर्म्मणो नोपपद्यते ॥
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः ॥३॥
तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञ-तपः-क्रियाः ॥
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥४॥
यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः ॥
तदर्थं कर्म्म कौन्तेय ! मुक्तसङ्गः समाचर ॥५॥

५७–वेदोक्त कर्म्ममार्ग की मोक्षोपयिकता का समन्वय, वेदोक्त प्राजापत्य यज्ञकर्म्म का गीता के द्वारा यशःख्यापन, एवं निष्कामभावानुबन्धी वैदिक-कर्म्मयोग का उन्मुक्तहृदय से समादर—

उक्त वचनों को देखते हुए ऐसा कौन मूर्ख होगा, जो कि वेदोक्त कर्म्ममार्ग को मोक्षमार्ग का प्रतिबन्धक बतलाने की मूर्खता करेगा। वेदवादरति के ही भगवान् विरोधी हैं, स्वार्थमूला भोगैश्वर्य्यप्रवृत्ति के ही शत्रु हैं। गीतान्वेषण से हमें तो यह मान लेने में भी कोई संकोच नहीं होरहा कि, यदि हमारा प्रवृत्तिकर्म्म हमारे स्वार्थ का कारण नहीं है, परमार्थकामना से यदि हम कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त होते हैं, संसार के मानवसमाज को इष्ट-भोग मिलते रहें, इस कामना से यदि हम सकाम भी कर्म्म करते हैं, तो भगवान् की दृष्टि में वे भी आदरणीय ही हैं। भगवान् केवल उस कामना के विरोधी हैं,जो कि केवल आत्मपचन का ही कारण बनीरहती है। परमार्थकामनामय तो प्रवृत्तिकर्म्म भी भगवत्सम्मत ही हैं। और वेदोक्त प्रवृत्तिकर्म्म का यही मूल उद्देश्य

भी है। क्योंकि स्वार्थमूलक कलि में ऐसा होना कठिन है। इसलिए भगवान्ने कामना का निरोध करना आवश्यक समझा। यदि कोई श्रेष्ठ पुरुष इस युग में भी परमार्थकामना से काम्य कर्म्म करता है, तो भगवान् उसे आदर ही देते हैं। देखिए!

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ॥
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ॥
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥२॥
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ॥
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥३॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ॥
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥४॥
कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ॥
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥५॥
एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः ॥
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ ! स जीवति ॥६॥

५८—कतिपय कलिवर्ज्य शास्त्रीय विधान, एवं गीताशास्त्र-सम्मत संशोधन का तात्त्विक समन्वय -

नियोगविधि शास्त्र-सम्मत है, पशुपुरोडाश शास्त्रविहित है, परन्तु इन्हें कलिवर्ज्य माना गया है। कारण इसका यही है कि, कलियुग में मनुष्य स्वभावतः एव इन्द्रियपरायण होते हैं। ऐसी दशा में उन्हें नियोग की आज्ञा देना 'अनाचार' को ही प्रोत्साहन देना है। यही अवस्था पशुपुरोडाश की है। श्राद्ध में अवश्य ही माँसपरिपाक होना चाहिए। परन्तु उसके स्थान में जो माष (उर्द) का विधान हुआ है, इसका भी यही रहस्य है। इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि, कलियुग में ऐसा करना पाप है। यदि कोई ऋषीकेष इन्द्रिय-संयमपूर्वक ऐसा करसकता है, तो बड़ा ही उत्तम है। स्वयं याज्ञवल्क्यने चयनयज्ञ के सम्बन्ध में इसी मार्ग को श्रेष्ठ माना है। चयन में पुरुष, अश्व, गौ, अवि, अज, इन पाँच पशुओं का आलम्भन कर इन के माँस से युक्त मिट्टी से इष्टका-निर्म्माण होता है। अवश्य ही यह कर्म्म कलिवर्ज्य है। परन्तु कोई करै, तो अवश्य ही यह उत्तम भी है (देखिए! शत०ब्रा० ६ कां०)। ऐसी दशा में युगधर्म्म की मर्य्यादा को लक्ष्य में रखकर यदि भगवान् ने वेदोक्त प्रवृत्तिकर्म्म का निरोध कर दिया, तो एतावता ही गीता को वेदविरोधिनी मान बैठना सर्वथा उपहासास्पद ही तो माना जायगा।

५९-श्रुतिशास्त्रसिद्धैव योगत्रयी का गीताशास्त्र के द्वारा उपबृंहण—

तात्पर्य्य उक्त निवेदन का यही हुआ कि, श्रुतिशास्त्र ने जिस योगचतुष्टयी का, दूसरे शब्दों में-औपनिषद-बुद्धियोगगर्भिता, अतएव बुद्धियोगात्मिका जिस योगत्रयी का संक्षेप से निरूपण किया है, बिना किसी संशोधन के (नाममात्र का संशोधन करते हुए) भगवान्ने गीता में उसका विस्तार के साथ ज्यों का त्यों संग्रह कर लिया है । वेदशास्त्रसम्मत, अतएव सर्वथा निर्भ्रान्त इसी शास्त्रीया-यागत्रयी के सम्बन्ध में भगवान्ने—"त—स्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते" यह कहा है ।

६०-स्मृतिशास्त्रसिद्धा योगत्रयी का गीता के द्वारा यत्किञ्चित्-संशोधनपूर्वक संग्रह—

अब दूसरा स्मतिशास्त्र हमारे सामने आता है । इसके सम्बन्ध में अवश्य ही गीता ने संशोधन किया है । और इसी स्मार्त्त-संशोधन को लक्ष्य में रखकर हमने कहा है कि—"गीता शास्त्रसिद्ध योगत्रयी का संशोधन करके ही उन का संग्रह कर रही है ।"

६१-वेदशास्त्रसिद्धा निष्ठात्रयी के आधार पर स्वयम्भूमनु, अपान्तरतमा, तथा कपिल के द्वारा कर्म्म-भक्ति--ज्ञान--योगत्रयी का स्वरूपोद्भव, एवं तत्संशोधन के लिए ही प्रवृत्त गीताशास्त्र—

वेदशास्त्रसिद्धा निष्ठात्रयी के आधार पर उसी देवयुग में तीन आचार्य्यों के द्वारा तीन स्वतन्त्र शास्त्रों का जन्म हुआ । क्योंकि ये तीनों हीं शास्त्र श्रुत्यर्थानुगामी थे, अतएव इन्हें **"स्मृति"** कहना अन्वर्थ माना गया । ब्राह्मणभागोक्ता कर्म्मनिष्ठा के आधार पर स्वयम्भूमनु के द्वारा **मानवसंहिता** का जन्म हुआ, जिसका कि रूपान्तर आज **"मानवधर्म्मशास्त्र"** नाम से प्रसिद्ध है । इसी आधार पर इस स्मृतिशास्त्र से सिद्ध कर्म्मयोग को **"स्वयम्भूनिष्ठा"** भी कहसकते हैं । आगे जाकर वेदाचार्य्य प्राचीनबर्हि (अपान्तरतमा) नामक भारतीय महर्षि के द्वारा यह निष्ठा लोक में प्रचलित हुई । आरण्यकभागोक्ता भक्तिनिष्ठा के आधार पर हिरण्यगर्भ के द्वारा भक्तियोगात्मिका भक्तिनिष्ठा का विकास हुआ । अतएव इसे हम **"हिरण्यगर्भनिष्ठा"** भी कह सकते हैं । अवश्य ही मानवधर्मशास्त्र की भाँति हिरण्यगर्भ का भी योगात्मिकोपासना का प्रतिपादक कोई ग्रन्थ रहा होगा । परन्तु आज वह अनुपलब्ध है । सुप्रसिद्ध **पातञ्जलयोगदर्शन** इसी निष्ठाग्रन्थ का रूपान्तर है । उपनिषद्-भागोक्ता ज्ञाननिष्ठा के आधार पर कपिल के द्वारा कर्म्मत्यागलक्षणा ज्ञाननिष्ठा का जन्म हुआ । यही निष्ठा आगे जाकर प्राकृतिक अव्यक्तज्ञान के सम्बन्ध से **सांख्यनिष्ठा** नाम से प्रसिद्ध हुई । क्योंकि प्रधानवादी कपिल ने संख्यासिद्ध अव्यक्त ज्ञान को ही **"सांख्य"** कहा है । सुप्रसिद्ध **"सांख्यदर्शन"** इसी निष्ठा का समर्थक है । इसप्रकार श्रुति के आधार पर इन तीन आचार्य्यों नें तीन स्वतन्त्र निष्ठाओं को जन्म दिया ।

६२-निष्ठात्रयी की अन्ततोगत्वा निष्ठाद्वयी में हीं परिणति—

ये तीनों निष्ठाएँ भी कुछ ही समय में दो ही रूपों में परिणत होगई । हिरण्यगर्भ-सम्मता योगनिष्ठा साँख्यानुगामिनी बनती हुई सांख्यनिष्ठारूप में ही परिणत होगई । क्योंकि इस योग में गुणातीत ध्यानभाव का ही प्राधान्य था । उधर सांख्य भी गुणविवेक का ही पक्षपाती था । इसीप्रकार स्मृतिशास्त्रसिद्धा

तीनों निष्ठाओं में से कर्म-ज्ञान, दो ही निष्ठाएँ शेष रह गईं । कर्मनिष्ठा **'योगनिष्ठा'** नाम से प्रसिद्ध हुई, एवं ज्ञाननिष्ठा **'सांख्यनिष्ठा'** नाम से प्रसिद्ध हुई ।

१—कर्मनिष्ठा—स्वयम्भूनिष्ठा (कर्मयोगः स्मार्तः)—ब्राह्मणमूलकः

२—भक्तिनिष्ठा—हिरण्यगर्भनिष्ठा (भक्तियोगः स्मार्तः)—आरण्यकमूलकः

३—ज्ञाननिष्ठा—कपिलनिष्ठा (ज्ञानयोगः स्मार्तः)—उपनिषन्मूलकः

—०—

१—कर्मयोगः-योगिनाम्]—योगनिष्ठा १ (कर्ममार्गः)

२—भक्तियोगः-सांख्यानाम् }
३—ज्ञानयोगः-सांख्यानाम् }— सांख्यनिष्ठा २ (ज्ञानमार्गः)

—०—

६३-ग्रन्थकर्ता की भ्रान्ति, एवं ग्रन्थव्याख्याता की भ्रान्ति, रूपेण भ्रान्ति के दो विवर्त्त, एवं गीता के द्वारा संशोधित--तथ्य की स्वरूप--जिज्ञासा—

प्रकरणारम्भ में यह बतलाया जाचुका है कि, स्मार्तग्रन्थों के सम्बन्ध में दो प्रकार से भ्रान्ति सम्भव है । स्वयं ग्रन्थकर्त्ता भी भ्रान्ति करसकता है, एवं ग्रन्थ का वास्तविक मर्म्म न समझने वाले तदनुयायी भी ग्रन्थ के सिद्धान्त को भ्रान्त बना सकते हैं । अब हमें यह विचार करना चाहिए कि, उक्त तीनों स्मार्त्तनिष्ठाओं में से, अथवा दोनों स्मार्त्तनिष्ठाओं में से ग्रन्थकारोंनें भ्रान्ति की है, अथवा तदनुयायियों नें उनके सिद्धान्तों को भ्रान्त बनाया है ? । और उस भ्रान्ति का क्या स्वरूप है ?, जिसके कि संशोधन की (भगवान् को) आवश्यकता हुई ।

६४-परमाराध्य त्रिविध आचार्य्य, तथैव सर्वथैव मान्य उन के त्रिविध-शास्त्रीय-योग, एवं तदाधारणैव संशोधन-विचार--विमर्श, तथा गीता का तत्सम्बन्ध में लोकसंग्राहक विशाल--दृष्टिकोण—

सब से पहले तो इस समालोचना-कर्म्म से हमें अपना अहंत्व हटाना पड़ेगा । हमारे लिए तीनों ही स्मार्त्तनिष्ठाएँ, एवं समार्त्तनिष्ठाओं के प्रवर्त्तक आचार्य्य आराध्य हैं । हम उनकी वाणी की समालोचना करने का कोई अधिकार नहीं रखते । ऐसी दशा में इस कर्म्म के लिए हमें भगवत्सिद्धान्त का ही आश्रय लेना पड़ेगा । यह भी ध्यान रखने की बात है कि, भगवान् ने भी तन्निष्ठाप्रवर्त्तक आचार्य्यों में अपनी पूर्ण श्रद्धा ही प्रकट की है । उदाहरण के लिए सांख्यप्रवर्त्तक कपिल को ही लीजिए । **"सिद्धानां कपिलो मुनिः"** कहते हुए भगवान् ने कपिल को अपनी विभूति बतलाया है । यही नहीं, कपिल के प्रकृतिवाद का भगवान ने स्थान स्थान पर पूर्ण समर्थन किया है । सांख्य यदि सम्पूर्ण विश्व को अव्यक्तमूलक बतलाता है, तो भगवान् भी उसे अव्यक्तमूलक ही मान रहे हैं (देखिए गीता ८।१८) । सांख्य के अनुसार यदि कोई पुरुष निर्लेप है, निर्गुण

तो भगवान् भी "**न करोति न लिप्यते**" कहते हुए इसका समर्थन ही कर रहे हैं। इन सब समताओं को देखते हुए तो यही मानना पड़ता है कि, भगवान् सांख्यनिष्ठा के पूर्ण समर्थक हैं। फिर भी एक स्थान ऐसा रह जाता है, जिसके लिए संशोधन आवश्यक होजाता है, और वह स्थान है "अव्ययपुरुष"।

६५–'सांख्यज्ञान–प्रधान–गीताशास्त्र'–लक्षणा मान्यता की सर्वथैव आपातरमणीयता—

कितने हीं महानुभाव गीता को सांख्यशास्त्र की प्रतिच्छाया ही सिद्ध करते हुए यह कहा करते हैं कि, "भगवान् ने गीता में प्रधानरूप से 'सांख्यज्ञान' का ही निरूपण किया है। कर्मत्यागलक्षण सांख्य ही इस का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। एवं 'सांख्य' वही सुप्रसिद्ध 'कपिलनिष्ठा' है। यदि भगवान् सांख्यनिष्ठा के विरोधी होते तो, तत्प्रवर्त्तक कपिल को "**सिद्धानां कपिलो मुनिः**" यह उच्चासन कदापि प्रदान नहीं करते।"

६६–विविध-विभूति-स्मरणात्मक कपिलादि का यशः-ख्यापनमात्र, एवं तदनुबन्धेनैव गीता में कापिल–सांख्य का समादर—

केवल उक्त युक्ति से कभी गीता को सांख्यनिष्ठा–परक नहीं माना जासकता। विभूतिगणना में तो भगवान् ने "**द्यूत**" कर्म्म को भी अपनी विभूति बतलाया है। क्या इससे यह माना जायगा कि, गीता द्यूत-कर्म्म का भी समर्थन करती है ?। "**पाण्डवानां धनञ्जयः**" वाला अर्जुन क्यों मोहग्रस्त बना ?। यदि भगवान् की विभूति अर्जुन भ्रान्ति कर सकता है, तो भगवद्विभूतिरूप कपिल से भी भ्रान्ति सम्भव है। वक्तव्यांश यही है कि, उक्त तीनों निष्ठाओं में से दो निष्ठाएँ अवश्य ही संशोधन की अपेक्षा रखती हैं।

६७–मानवधर्म्मशास्त्रात्मिका-स्वयम्भू-निष्ठा का गीता के द्वारा सर्वात्मना समर्थन---

स्वयम्भूनिष्ठा ही कर्म्मयोग है। इसका निरूपक मानवधर्म्मशास्त्र है। यह सर्वथा वेदसम्मत है। "**मनुर्वै यत्किञ्चावदत् तद्भेषजं भेषजतायाः**" इत्यादि रूप से स्वयं वेद ने इसकी प्रमाणिकता दृढ़ की है। अतएव "**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणंते**" से जैसे वेदशास्त्र गृहीत है, एवमेव मानवधर्म्मशास्त्र भी गृहीत है। और यह वेदवत् सर्वथा निर्भ्रान्त ही है। यही कारण है कि, जिसप्रकार वेदबाह्या स्मृतियाँ अग्राह्या मानीं गई हैं, एवमेव मनुस्मृति के विपरीत जाने वालीं स्मृतियाँ भी अग्राह्या ही मानीं गई हैं।

६८–आचार्य्यसम्मता भक्तिनिष्ठा, तथा सांख्यनिष्ठा का स्वरूप–दिग्दर्शन, एवं गीता के द्वारा दोनों निष्ठाओं का बुद्धियोग–माध्यम से संशोधन—

अब शेष रहती है भक्तिनिष्ठा, एवं ज्ञाननिष्टा। इस भक्ति का रूप है तपःप्रणिधान, कायक्लेशपूर्वक इन्द्रियसंयम, सांसारिक कर्मों से अरति। एवं इस ज्ञान का स्वरूप है–कर्म्मत्याग, तथा विशुद्ध ज्ञानानुगमन। कर्म्मत्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा, एवं योगात्मिका भक्तिनिष्ठा, इन दोनों का मूलभाष्य के "**लोकेऽस्मिन**" इत्यादि श्लोकभाष्य में विस्तार से निरूपण होने वाला है। अतः यहाँ इस सम्बन्ध में विशेष विस्तार की आवश्यकता नहीं है। यह भक्तिनिष्ठा, किंवा हिरण्यगर्भनिष्ठा सांख्यज्ञान (अव्यक्तज्ञान) की अनुगामिनी बनी। अतएव दोनों मिलकर एक सांख्यनिष्ठा ही रह गई। एवं इसके संशोधन से ही उसका भी संशोधन गतार्थ बन गया।

६६–हिरण्यगर्भनिष्ठानुगता महती भ्रान्ति, एवं गीता के द्वारा तत्संशोधन–प्रयास—

हिरण्यगर्भ ने भ्रान्ति यह की कि, वेदसम्मत ईश्वरानन्यता की उपेक्षा कर उसने आत्मसंयम—लक्षण कायक्लेश को ही प्रधानता दे डाली। ईश्वर का स्थान (अव्यय का स्थान) योगसमाधि ने छीन लिया। योगसमाधि के आकर्षण से यह भक्ति योगज—सिद्धियों की अनुगामिनी बनती हुई ईश्वरभाव से वञ्चित रह गई। आत्मनिःश्रेयस का स्थान लोकसिद्धियोंनें छीन लिया। फलतः इसका संशोधन आवश्यक होगया।

७०–कपिलनिष्ठानुगता महती भ्रान्ति, एवं भगवान् के द्वारा तत्संसोधन--

कपिल ने यह भ्रान्ति की कि, उपनिषत्–सम्मत बुद्धियोग का अर्थ उन्होंनें निवृत्तिमार्ग समझ लिया। उनका लक्ष्य बना प्रतिशरीर में भिन्न, देहाभिमानी जीवात्मा। और उसका कपिल ने निःश्रेयस समझा कर्म्मत्याग में। ब्राह्मणोक्त निवृत्तिकर्म्म, एवं उपनिषदुक्त बुद्धियोग, दोनों को एक समझ लिया गया। एवं इस समझ के कारण बने **"त्यागेनैके ऽमृत्त्वमानशुः"—"नास्त्यकृतः कृतेन"—"आत्मेत्येवोपासीत" "नामृतत्त्वस्यत्वाशास्ति वित्तेन"** इत्यादि औपनिषद—वचन। इसप्रकार बुद्धियोग का आसन उपनिषदुक्त ज्ञानयोग ने छीन लिया। फलतः इसका भी संशोधन आवश्यक होगया।

७१–ग्रन्थकर्त्ता के सम्बन्ध से ही निष्ठाद्वयी में भ्रान्ति—

तात्पर्य्य यह निकला कि, तीनों स्मार्त्त–निष्ठाओं में से ब्राह्मण–भागसम्मता कर्म्मयोगनिष्ठा ग्रन्थकर्त्ता के सम्बन्ध से निर्भ्रान्त रही, एवं उपनिषद्भाग–सम्मता ज्ञानयोगनिष्ठा, एवं आरण्यकभाग–सम्मता भक्तिनिष्ठा ग्रन्थकर्त्ता के ही सम्बन्ध से भ्रान्त बन गई। गीता ने इन्हीं दोनों का विशेषरूप से संशोधन किया।

७२–ब्राह्मण–आरण्यक–उपनिषत्–सिद्धा निष्ठात्रयी का स्वरूप–संस्मरण—

श्रौत-स्मार्त्त–निष्ठाओं की निर्भ्रान्त-भ्रान्त–निष्ठाओं की तुलना के लिए यह भी जान लेना आवश्यक है कि, श्रौती निष्ठात्रयी का क्या स्वरूप था?। संसार के अभ्युदय के लिए परमार्थ–कामना से काम्य कर्म्मों में प्रवृत होना हीं ब्राह्मणभागसिद्धा कर्म्मनिष्ठा थी। आत्माभ्युदय के लिए (लोकसंग्रह पर दृष्टि रखते हुए) निवृत्तिकर्म्मों में प्रवृत्त रहना हीं उपनिषद्भागसिद्धा ज्ञाननिष्ठा थी। आत्मनिःश्रेयस के लिए (लोकसंग्रह पर दृष्टि रखते हुए) ईश्वरानन्यध्यान–लक्षणा निर्गुण–ब्रह्मोपासना हीं आरण्यकभागसिद्धा भक्तिनिष्ठा थी।

७३–सर्वात्मना सुरक्षिता स्वयम्भू–निष्ठा, एवं हिरण्यगर्भनिष्ठा, तथा कपिलनिष्ठा के सम्बन्ध में भगवान् के द्वारा पर्य्याप्त–संशोधन—

इन तीनों श्रौत–निष्ठाओंमें से स्वयम्भू ने तो कर्म्मनिष्ठा का स्वरूप ज्यों का त्यों सुरक्षित रक्खा। परन्तु हिरण्यगर्भ ने भक्तिनिष्ठा का, एवं कपिल ने ज्ञाननिष्ठा का स्वरूप विकृत कर दिया। जैसा कि पूर्व में कहा गया है, हिरण्यगर्भ, एवं कपिल के सम्बन्ध में भ्रान्ति बतलाने का साहस अस्मदादि को नहीं है। हम तो उन्हें

निर्भ्रान्त ही कहेंगे । और स्वयं भगवान् ने भी यह अधिकार केवल अपने ही हाथ में रक्खा है—जैसाकि—"लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा" इत्यादि से सिद्ध है । महापुरुषों के उदात्त सिद्धान्त की समालोचना का अधिकार भी महापुरुष ही रखते हैं । हमारे लिए तो गुरु, और गोविन्द, दोनों समानधरातल पर ही प्रतिष्ठित हैं ।

७४–सर्वविदित–'लोके-वेदे च' सूत्र, तन्निबन्धना–लोकनिष्ठा, तथा वेदनिष्ठा, एवं दोनों की हेयोपादेयता का दिग्दर्शन—

"लोके वेदे च" यह वाक्य सर्वविदित है । शास्त्रसम्मत मार्ग को "वैदिकमार्ग" कहा जाता है, एवं लोकसम्मत मार्ग को "लौकिकमार्ग" कहा जाता है । यदि शास्त्रनिष्ठा वेदानुगता है, तो वह "वेदनिष्ठा" है, एवं मानवसमाज ने उसका विरूद्ध तात्पर्य्य लगाते हुए यदि लौकिक बना डाला है, तो वह 'लोकनिष्ठा' है । दोनों में वेदनिष्ठा ग्राह्य है, एवं लोकनिष्ठा त्याज्य है । लोकनिष्ठा भी वही ग्राह्य है, जिसका वेदनिष्ठ अलौकिक पुरुषों के द्वारा संशोधन होजाय ।

७५–हिरण्यगर्भनिष्ठानुगता योगनिष्ठा की उपादेयता, एवं तत्सम्बन्ध में भगवान् के द्वारा मान्यता-प्रदान—

कम से कम हमें तो बिना किसी नचनुच के नतमस्तक होकर यह मान हीं लेना चाहिए कि, वेदनिष्ठावत् स्मार्त्तनिष्ठा भी सर्वथा निर्भ्रान्त ही है । कर्म्मनिष्ठा की निर्भ्रान्तता के सम्बन्ध में तो कुछ वक्तव्य ही नहीं है । अब रह जाती हैं–हिरण्यगर्भनिष्ठा, एवं कपिलनिष्ठा । यह ठीक है कि हिरण्यगर्भ का प्रधान लक्ष्य चित्तशुद्धि ही रहा, ईश्वरानन्यता नहीं । परन्तु जबतक चित्तशुद्धि नहीं होजाती, तबतक ईश्वरानन्यता प्राप्त भी तो नहीं होसकती । फिर भगवान् ने भी तो कायक्लेशात्मक इस ध्यानात्मक भक्तिमार्ग का (योगमार्ग का) समर्थन ही किया है, जैसाकि निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १ ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ २ ॥
यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ ३ ॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ॥
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ ४ ॥
स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ ५ ॥
यतेन्द्रियमनो–बुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।

विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ ६ ॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ ७ ॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ! ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ८ ॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ॥
शान्ति निर्वाणपरमां मत्संस्थानमधिगच्छति ॥ ९ ॥

---*---

७६- अव्यक्तभावापन्ना हिरण्यगर्भनिष्ठात्मिका भक्तिनिष्ठा के योगात्मक स्वरूप के सम्बन्ध में शास्त्रीय वचन--दिग्दर्शन--

हिरण्यगर्भ-सम्मत, कायक्लेशात्मक, इन्द्रियसंयम-लक्षण योगात्मक भक्तिमार्ग का प्रायः वही स्वरूप है, जो कि उक्त गीतासिद्धान्त से स्पष्ट हुआ है। उन्होंने भक्तिनिष्ठाप्राप्ति के लिए चित्तविशोधक इसी मार्ग का समर्थन किया है, जैसाकि निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है—

हन्त ते सम्प्रवक्ष्यामि यदेतदनुपृच्छसि ।
योगकृत्यं महाराज ! पृथगेव शृणुष्व मे ॥ १ ॥
विमुक्तः सर्वसंगेभ्यो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
मनो बुद्ध्या स्थिरं कृत्वा पाषाण इव निश्चलः ॥ २ ॥
स्थाणुवच्चाप्यकंपः स्याद्गिरिवच्चापि निश्चलः ।
बुद्ध्या विधिविधानज्ञस्तदा युक्तं प्रचक्षते ॥ ३ ॥
निर्वाते यथा दीप्यन् दीपस्तद्वत् प्रकाशते
निर्लिङ्गो विचलश्चोद्र्ध्वं न तिर्य्यग्गतिमाप्नुयात् ॥ ४ ॥
एवं पश्यन् प्रपश्यन्ति आत्मानमजरं परम् ।
योगदर्शनमेतावदुक्तं ते तत्त्वतो मया ॥ ५ ॥

---*---

७७--योगात्मिका स्मार्त्ती--उपासना को वेदशास्त्र के द्वारा मान्यता--प्रदान--

कहना न होगा कि, उक्त लक्षणा हिरण्यगर्भनिष्ठा का गीता में सर्वात्मना समादर ही हुआ है। और होना भी चाहिए, जब कि यह योगोपासना आत्मविशुद्धि का कारण बनती हुई ईश्वरानन्यभाव की प्राप्ति का

कारण बन जाती है। ऐसी दशा में हम कह सकते हैं कि, यह योगात्मिका स्मार्त्ती उपासना वेदानुगता बनती हुई अवश्य ही निर्भ्रान्ता है।

७८- कपिलानुगता-स्मार्त्ती-सांख्यनिष्ठा का सर्वात्मना समर्थन, एवं तत्र शास्त्रसम्मति—

यही दशा साँख्यनिष्ठा की समझिए। सांख्य ने कर्म्मत्याग का आदेश अवश्य दिया है, परन्तु उनका लक्ष्य क्या था, यह देखना चाहिए। मनुष्य की स्वाभाविक निर्बलता कपिल भलीभाँति जानते हैं। गुणान्वित-कर्म्मप्रपञ्चों का अनुष्ठान करता हुआ मनुष्य इनसे उत्पन्न होने वाले संस्कारलेप से बचा रहे, यह कठिन है। इसके लिए कपिल ने सांसारिक कर्म्मों का परित्याग ही आवश्यक समझा। सांख्यशास्त्र ने यह आवश्यक समझा कि, जीवात्मा बन्धन से मुक्त होने के लिए तत्त्वविवेक का आश्रय लेता हुआ प्रकृति–पुरुष का विवेक करे। और यह विश्वास करे कि, यह कर्म्मजाल योगमायामयी त्रिगुण-अव्यक्त-प्रकृत्ति का ही विस्तार है। पुरुष सर्वथा निर्लेप है। इस चिरकालिक--भावना से मनुष्य की अहन्ता छूट जायगी, फलतः संन्यासनिष्ठा का उदय होजायगा। निम्नलिखित श्लोक इसी सांख्यसिद्धान्त का स्पष्टीकरण कर रहे हैं——

अव्यक्तं चेत्रमित्युक्तं तथा सत्त्वं तथेश्वरः ॥
अनीश्वरमतत्त्वं च तत्त्वं तत् पञ्चविंशकम् ॥ १ ॥
सांक्यदर्शनमेतावत् परिसंख्यानुदर्शनम् ॥
सांख्याः प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते ॥ २ ॥
पञ्चविंशः प्रकृत्यात्मा बुध्यमान इति स्मृतः ॥
यदा तु बुद्धयतेऽत्मानं तदा भवति केवलः ॥ ३ ॥
सम्यगद्शनमेतावद्भाषितं तव तत्त्वतः ॥
एवमेतद्विजानन्तः साम्यतां प्रतियान्त्युत ॥ ४ ॥

७९--श्रीभगवद्गीता के द्वारा कपिल की सांख्यनिष्ठा को मान्यता-प्रदान—

भगवान् ने भी उक्त सिद्धान्त का रूपान्तर से समर्थन ही किया है। अहंभाव को भगवान् भी बुरा ही समझते हैं। यदि यह भी कहा जाय कि, गीता ने अहंभाव के विनाश के लिए ही अवतार लिया है, तब भी कोई अत्युक्ति न होगी। अर्जुन कहता था, मैं कर रहा हूँ, भगवान् कहते थे--तू तो निमित्त है। प्रकृति ही सबकुछ कर रही है। जिस दिन तू तत्त्वविवेक कर लेगा, उस दिन तेरी अहन्ता हट जायगी। देखिए निम्नलिखित गीतावचन इसी सांख्य--सिद्धान्त का समर्थन कर रहे हैं——

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्म्माणि सर्वशः ॥
अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥ १ ॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो ! गुणकर्म्मविभागयोः ॥
गुणा गुणेषु वर्त्तन्ते, इति मत्त्वा न सज्जते ॥ २ ॥

८०--वेदसम्मता, गीतासम्मता, अतएव सर्वथा निर्भ्रान्ता हिरण्यगर्भ-कपिल-निष्ठाओं की लोकसंग्रहात्मिका मान्यता का समन्वय-प्रयास--

इसप्रकार हम कह सकते हैं कि, हिरण्यगर्भ की योगात्मिका भक्तिनिष्ठा, एवं कपिल की सांख्यनिष्ठा, दोनों हीं वेदसम्मत, अतएव निर्भ्रान्त हैं। अवश्य ही इनसे भी आत्मनिःश्रेयस सम्भव है। इसीलिए गीता ने इन्हें आदर प्रदान किया है। ऐसी दशा में एकहेलया यह मान बैठना कि, गीता ने इनका खण्डन किया है, सर्वथा अनुचित है। हाँ, भगवान् ने थोड़ा सा संशोधन अवश्य ही किया है। परन्तु वह संशोधन भी मूल सिद्धान्त पर कोई प्रहार नहीं कर रहा। संशोधन क्या किया ?, संशोधन की आवश्यकता क्यों समझी गई ?, उत्तर स्पष्ट है।

८१- हिरण्यगर्भसम्मत 'योगमार्ग' की उपादेयता का समर्थन, तन्निबन्धना जटिलता, एवं तत्स्थान में संशोधनात्मक-- ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' का संस्थापन—

हिरण्यगर्भ का योगमार्ग भी अवश्य ही आत्मनिःश्रेयस् का साधक है। परन्तु योगप्रक्रियाएँ आवश्यकता से अधिक जटिल हैं। न इनमें सर्वसाधारण प्रवृत्त होसकता, न प्रवृत्त होने वालों में से सभी को सफलता ही मिल सकती। कोई विरला जितेन्द्रिय ही इसका अधिकारी बन सकता है। लोकसंग्रह का भी इसमें अत्यान्तिक अभाव है। योगारूढ़ योगी यत्किञ्चित् भी असावधानी से गिर सकता है। इसप्रकार का क्लेशसाध्य यह योग अनेक जन्मों के अभ्यास से ही बन्धन--विमोक का कारण बनता है। जो ऐसा ही करना चाहते हैं, वे करें, कोई हानि नहीं है। परन्तु इस मार्ग में सर्वसाधारण का निश्रेयस सम्भव नहीं है। इसी अरुचि को आगे करते हुए भगवान् ने इस योगमार्ग की अनुपादेयता सिद्ध करते हुए इसके स्थान में ऐश्वर्य्यबुद्धियोग-लक्षण भक्तिमार्ग स्थापित किया, जो कि योगात्मिका भक्ति का ही संशोधित रूप है।

८२--कपिल--सम्मत 'सांख्यमार्ग' की उपादेयता का अभिनन्दन, तन्निबन्धना जटिलता, एवं तत्स्थाने च संशोधनात्मक-''ज्ञानबुद्धियोग' का संस्थापन—

यही दशा कर्म्मत्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा की है। ''संन्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः''- ''अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं क्लेशवद्भिरवाप्यते'' इत्यादि रूप से भगवान् ने यह बतलाया कि, संसारी मनुष्य कर्म्म छोड़ बैठे, यह बड़ा कठिन है। यदि कर्म्म छोड़ दिया, और संकल्प बना रहा, तो उलटा सर्वनाश है--''क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति''। माना कि कपिल ने आध्यात्मिक कर्म्मों की आवश्यकता स्वीकार की है, और यदि कोई इस निष्ठा में सफल होसके, तो हानि नहीं है। परन्तु ऐसे स्थान सर्वथा क्वाचित्क ही हैं। रही कर्म्मलेप की बिभीषिका, उसका उत्तर अव्ययपुरुष है। प्रकृति से परे रहने वाले उसे मूल बना लेने से यह भय भी जाता रहता है। इसी कारण को आगे करते हुए भगवान्ने कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग की भी अनुपादेयता सिद्ध कर इसके स्थान में 'ज्ञानबुद्धियोग'-लक्षण ज्ञानमार्ग स्थापित किया, जोकि ज्ञानयोग का ही संशोधित रूप है। निष्ठाओं के मूल स्वरूप में यहीं संशोधन पर्य्याप्त था। यह संशोधन वैसा ही है, जैसाकि कलियुग में नियोगविधि का निषेध करना।

सर्वदैव तथाकथित अव्यक्त **योग**, एवं अव्यक्त **ज्ञान** (सांख्य) निष्ठाओं के अनुगमन की सभी में क्षमता नहीं रहती। यही आचाररूप इन दोनों लोकनिष्ठाओं के संशोधन का प्रमुख कारण बना। एवं इसी तथ्य–समन्वय के आधार पर हमें यह भी मान लेना पड़ा कि, 'श्रौती (वेदाभिमता) निष्ठात्रयी की भाँति स्मार्त्ती निष्ठात्रयी भी सर्वथैव निर्भ्रान्ता, अतएव 'क्वाचित्करूपेण' अनुगमनीया भी है।

८३–लोकनिष्ठाओं के व्याख्याताओं की लोक-मान्यताओं पर भगवान् के द्वारा प्रहार—

सवमेव सुस्थम्। परन्तु हम देखते हैं कि, भगवान् ने सांख्यनिष्ठा पर भी पर्य्याप्त प्रहार किया है। एवं कर्म्ममार्ग की भी निन्दा की है। इसी आधार पर हमें यह निश्चय करना पड़ता है कि, यह निन्दा मूलनिष्ठाओं की निन्दा नहीं है, अपितु निष्ठानुयायी मनुष्यों की लोकनिष्ठाओं की ही निन्दा है। उन्होंनें अपने बुद्धिदोष से मूलनिष्ठाओं का स्वरूप विगाड़ कर उन्हें भ्रान्त बना दिया है। मनुष्योंनें क्या भ्रान्ति कर डाली?, वेद निष्ठाओं को कैसे लोकनिष्ठा बना डाली?, इसका उत्तर भी गीता से ही गतार्थ है।

८४–वेद के ब्राह्मणभाग से अनुप्राणिता–कर्म्मनिष्ठा की गुणात्मकता पर गीता का प्रचण्ड प्रहार—

वेद के ब्राह्मणभाग से सिद्धा, एवं स्वयम्भू मनु के द्वारा उपबृंहिता यज्ञ-तपो-दान-लक्षणा कर्मनिष्ठा का स्वरूप कुछ समय पर्य्यन्त तो अक्षुण्ण बना रहा। इन का एकमात्र लक्ष्य लोकाभ्युदय ही बना रहा। परन्तु आगे जाकर तदनुयायियोंनें इसे स्वार्थ की ही वस्तु बना डाला। विविध वैय्यक्तिक भोगैश्वर्य्यों के लिए यज्ञकर्म्मों का अनुष्ठान होने लगा। इसी क्षणिक प्रलोभन में पड़कर निष्ठानुयायी भ्रान्त वर्गने अभिनिवेशपूर्वक यह घोषणा करदी कि-" केवल यह कर्म्ममार्ग ही हमारी सब आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए पर्य्याप्त है। हमें अभ्युदय के लिए किसी अन्य मार्ग की कोई अपेक्षा नहीं है। आत्मोपयिक वह ज्ञानयोग निरर्थक है, जिससे कि भोगैश्वर्य्य से हमें वञ्चित होना पड़ता है।" इसप्रकार इन लोकबुद्धियों की कृपा से वेदोक्ता कर्मनिष्ठा आत्यन्तिकरूप से दूषित ही होगई। इसी दूषित निष्ठा को लक्ष्य में रखकर **"कर्म्मयोगेन योगिनाम्"** यह कहा गया है। भगवान् ने इसी कल्पितनिष्ठा की निम्नलिखित शब्दों में प्रचण्ड भर्त्सना निन्दा की है—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ॥
वेदवादरताः पार्थ ! नान्यदस्तीति वादिनः ॥१॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्म-कर्म्मफलप्रदाम् ॥
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्य्यगतिं प्रति ॥२॥
भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥३॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ॥
तावान् सर्वस्य वेदस्य ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥५॥

८५–गुणात्मक कर्म्मयोग की निर्गुणता-सम्पादन के लिए गीता के द्वारा महान् संशोधन—

संशोधन भगवान् ने यही किया कि, वेदोक्त कर्म्ममार्ग सर्वोत्तम है, अवश्य ही इसका अनुष्ठान करना चाहिए, परन्तु स्वार्थबुद्धि छोड़कर। फलकामासक्ति का परित्याग कर' बुद्धियोग से युक्त वही वेदोक्त कर्म्ममार्ग इष्टकामधुक् भी बन जायगा, और बन्धन भी न होगा। यही संशोधितरूप "धर्म्मबुद्धियोग" कहलाया। निम्नलिखित वचन इसीके समर्थक हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिः.-योगे त्विमां शृणु ॥
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ ! कर्म्मबन्धं प्रहास्यसि ॥१॥
कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ॥
मा कर्म्मफलहेतुर्भूर्माते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि ॥२॥
योगस्थः कुरु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय !।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥३॥
कर्म्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ॥
जन्म-बन्ध-विनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥४॥

८६-आरण्यक–आगानुगता उपासना के व्याख्याताओं के काल्पनिक भक्तियोग पर गीता का प्रचण्ड प्रहार—

वेद के आरण्यकभाग से संसिद्धा, एवं हिरण्यगर्भ के द्वारा उपबृंहिता चित्तविशोधनलक्षणा भक्तिनिष्ठा का स्वरूप भी कुछ समय पर्य्यन्त तो अक्षुण्ण बना रहा। आत्मविशोधन-पूर्वक ईश्वरप्राप्ति ही मुख्य लक्ष्य बना रहा। परन्तु आगे जाकर तदनुयायी वर्गने इसे भी स्वार्थभावना से रँग डाला। विविध प्रकार की अणिमा महिमादि सिद्धियों के लिए, इन सिद्धियों से स्वार्थसिद्धि करने के लिए ही इस मार्ग का उपयोग होने लगा। सात्त्विक योगमार्ग ने तामस आसुरभाव का आसन ग्रहण कर लिया। सिद्धियों के प्रलोभन में पड़कर इन स्वार्थी-योगियोंनें शास्त्रविरुद्ध घोर तमोमार्ग का ही आविष्कार कर डाला। ईश्वरार्चन का स्थान भूतिप्रेतार्चनने छीन लिया। इसप्रकार कर्म्मयोगवत् यह योगात्मक भक्तियोग भी आगे जाकर भूतसम्पत् का ही अनुगामी बन गया। इसी दूषित निष्ठा की निन्दा करते हुए भगवान् कहते हैं—

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपोजनाः ॥
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ १ ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ २ ॥

८७-काममयी भक्ति का लोकसंग्राहक भगवान् के द्वारा संशोधन—

संशोधन भगवान् ने यह किया कि, सिद्धि के द्वारा जिस ऐश्वर्य्य के लिए तुम योगात्मिका भक्ति को कायक्लेशात्मिका बना रहे हो, वह ऐश्वर्य्य तो आत्मा का स्वाभाविक धर्म्म है। चित्तविशोधनान्तर वह तो स्वतः ही संसिद्ध है। उस शाश्वत संसिद्धि की उपेक्षा कर इन क्षणिक सिद्धियों में हीं रह जाना तो पुरुषार्थ नहीं है। तुझे सदा आत्मविशोधक योग के द्वारा ईश्वरानन्यता-लक्षणा, ऐश्वर्य्यविभूति-सम्पन्ना बुद्धियोगसम्मता भक्ति का ही अनुगमन करना चाहिए। इससे तुझे ऐश्वर्य्य भी मिल जायगा, और बन्धन भी न होगा। यही संशोधित रूप "ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' कहलाया। निम्न लिखित वचन इसी संशोधन का समर्थन कर रहे हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १ ॥
मदर्थमपि कर्म्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ २ ॥
ये तु सर्वाणि कर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ३ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ ! मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ४ ॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ५ ॥

८८-आरण्यकोपनिषद्-भागानुगता सांख्यनिष्ठा के व्याख्याताओं की काल्पनिक-सांख्य-निष्ठा पर गीता का प्रचण्ड-प्रहार—

आरण्यकोपनिषदात्मक ब्राह्मण के अन्तिम भाग से सिद्धा (किन्तु कपिलमतानुसार उपनिषद्भाग से सिद्धा), कपिल के द्वारा उपबृंहिता, शारीरकात्मोपकार-लक्षणा, क्षीणोदर्कमुक्तियुता, ज्ञाननिष्ठा का स्वरूप भी कुछ समय पर्य्यन्त तो उपादेय बना रहा। परन्तु आगे जाकर यह निष्ठा भी लोकसंग्रह की महाविरोधिनी बन गई' क्योंकि इसमें व्यक्त सांसारिक कर्म्मों का आत्यन्तिक परित्याग था। यही नहीं, इस निष्ठा के व्याज से लोगों ने आगे जाकर संसार को धोके में डालना आरम्भ कर दिया। ढोंगी सन्यासियोंनें अपने आपको तो धोका दिया ही, किन्तु साथ ही अपने अकर्म्मप्रचार से संसार को भी कर्म्मशून्य बनाना आरम्भ कर दिया।

संकल्पसंन्यास को मूल में रखने वाला यह कर्म्मसन्यास आगे जाकर संकल्पसंन्यास से वञ्चित होता हुआ प्रवृत्ति-मार्ग से भी निकृष्ट बना डाला गया। लुक-छिपकर कर्म्म का भी परिग्रह होने लगा। इसप्रकार स्वार्थियोंनें संन्यासनिष्ठा को सर्वथा ही दूषित बना डाला। इसी कर्म्मत्याग-लक्षणा-दूषित-संन्यासनिष्ठा के लिए भगवान् ने—"ज्ञानयोगेन योगिनाम्" यह कहा है। इसी के लिए अरुचि प्रकट करते हुए भगवान् कहते हैं—

न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ १ ॥
न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत्।
कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ २ ॥
कर्म्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥

८६—कर्म्मत्यागात्मिका सांख्यनिष्ठा का भगवान् के द्वारा संशोधन—

संशोधन भगवान् ने यही किया कि, जिस लेपभय से तुम कर्म्म छोड़ना चाहते हो, वह भय निष्काम-कर्म्म के समावेश से भी दूर होसकता है। ऐसा करने से तुम्हारा तो अभ्युदय निश्चत है ही, साथ ही तुम्हारे सहयोग से लोकसंग्रह की भी रक्षा होजायगी। बुद्धियोगयुक्त, कर्म्मसहकृत तुम्हारा यह ज्ञानयोग सभी दृष्टियों से लाभप्रद ही सिद्ध होगा। यही संशोधित ज्ञानयोग "ज्ञानबुद्धियोग" कहलाया। इसी का समर्थन करते हुए भगवान् कहते हैं—

काम्यानां कर्म्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्म्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ १ ॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्म्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्म्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ २ ॥
अनाश्रितः कर्म्मफलं कार्य्यं कर्म्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः ॥३॥

६० संशोधन का मूलाधारसूत्र 'वैराग्यबुद्धियोग'—

तीनों लोकनिष्ठाओं का संशोधक, तीनों को बुद्धियोग का स्वरूप प्रदान करने वाला वह संशोधन उपनिषत्-भागसिद्ध वही चौथा "वैराग्यबुद्धियोग" है, जिसका कि उपबृंहण एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा ही हुआ है। एवं जिसके सम्बन्ध से ही 'गीताशास्त्र-बुद्धियोगशास्त्र' कहलाया है, जैसाकि पाठक अगले प्रकरण में देखेंगे।

९१-देवयुगानुगता निर्गुणोपासना का संस्मरण—

भगवान् ने किन निष्ठाओं का संशोधन किया ?, शास्त्रसिद्ध निष्ठाएँ जब निर्भ्रान्त थीं, तो उनका संशोधन करने की क्या आवश्यकता हुई ?, इन प्रश्नों के समाधान के लिए ही यह अवान्तर प्रकरण पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया गया। इस प्रकरण का मुख्य लक्ष्य था--"**देवयुगानुगता उपासना का स्वरूप प्रदर्शन**"। यह लक्ष्य भी उक्त प्रकरण के साथ ही गतार्थ है।

९२-युगभेदनिबन्धना--उपासना का स्वरूप--समन्वय, एवं चतुर्थ प्रकरणान्तर्गत प्रथम-अवान्तर प्रकरण की उपरति—

यद्यपि देवयुग, और वेदयुग का पार्थक्य नहीं है। कारण-देवयुग के प्रवर्त्तक ब्रह्मा ने वेद के आधार पर ही देवव्यवस्था व्यवस्थित की थी। फिर भी उपासना के सम्बन्ध से हमें उस एक ही युग के दो भेद मान लेने पड़े हैं। आरम्भ में कुछ समय पर्य्यन्त समानप्रत्ययप्रवाहरूपा निर्गुणोपासना का ही आविष्कार हुआ था। मानस-ध्यान ही उस युग कीं मौलिक उपासना थी। किन्तु कुछ ही समय पीछे निर्गुणोपासना का स्थान सगुणोपासना ने, किंवा प्रजापत्युपासना ने ग्रहण कर लिया, जैसाकि आगे के प्रकरण में विस्तार से बतया जानेवाला है। "**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**" ही तद्युगानुगता उपासना का मूल धरातल था। दूसरे शब्दों में-यह भी कहने में कोई आपत्ति न होगी कि, उस युगारम्भकाल में "**ईश**" नामक व्यापक निर्गुणब्रह्म की ज्ञानात्मिका उपासना ही प्रचलित थी। आगे जाकर इसी '**ईश**' ने '**ईश्वर**' का आसन ग्रहण कर लिया। **निर्गुण हीं उपासना की सिद्धि के लिए सगुण बन गया। और यह सगुणोपासना ही आरण्यकोपासना (वेदयुगानुगता-उपासना) कहलाई।**

इति--"युगधर्म्मानुगता--विविधोपासना" नामके चतुर्थप्रकरणे

"देवयुगानुगता-निर्गुणोपासना"

नामक

प्रथम--अवान्तर--प्रकरण--उपरत

१

———*———

श्री:

(२)--वेदयुगानुगता-सगुणोपासना से अनुप्राणित- पारिभाषिक- परिलेख—

"अक्षरोपासना" (षोडशी-प्रजापतिः-ईश्वरः)

ज्ञानानुगतं कर्म्म-एव-उपासना-प्राणात्मिका (ब्रह्म)
सगुणोपासना-ईश्वरोपासना-कर्म्मात्मिका
प्राणमयी-उपासना-क्रियात्मिका

---*---

सोऽयं सगुणोऽक्षरः	पञ्चकलोऽव्ययोऽक्षरमूर्त्तिः--'मनः'-प्राण एव	तदिदमक्षरविवर्त्तम्-प्राणविवर्त्तमेव
	पञ्चकलोऽव्ययोऽक्षरमूर्त्तिः--'प्राणः'--प्राण एव	
	पञ्चकलोऽव्ययोऽक्षरमूर्त्तिः--'वाक्'-प्राण एव	
	सर्वाधारो निराधारस्तुरीयः---'तत्'-सर्वमेव	

स एव--कर्म्मणा-उपासितव्यः

वेद्व्यः--ज्ञेयश्च

---*---

"उपासनं नाम--ज्ञान--कर्म्मणोः समीपे--भागरूपेण--अवस्थानम्"

सैषा--क्रियात्मिका उपासनैव--भक्तिरव्यभिचारिणी

द्वितीया

२

(सोऽयं वेदयुगः--द्वितीयः--सत्ययुगात्मकः)

ब्रह्म अक्षरः क्रिया प्राणः	तदेतत्सर्वं-प्राण एव, अक्षर एव सगुणः "गुणांश्चैतान्-विद्धि प्रकृति-सम्भवान्" (प्रकृतिर्हि-अक्षरः)

---*---

१-देवयुगानुगत-निर्गुणोपासनामार्ग
(चतुर्थप्रकरणान्तर्गत-द्वितीय-अवान्तर-प्रकरण)
१

---*---

६३-व्यवच्छेदात्मक पाण्डित्य, तदनुप्राणित निश्चित निर्णय, एवं भारतीय उपासनाकाण्ड—

"व्यच्छेदो हि पाण्डित्यम्" इस लक्षण के अनुसार प्रत्येक विषय को विज्ञानदृष्टि से विभक्त कर उसे सुव्यवस्थित कर देना हीं पाण्डित्य है। इधर कुछ शताब्दियों से हम यह देख रहे हैं कि, पण्डितसमाज उक्त पाण्डित्य से प्रायः वञ्चित ही होरहा है। व्यवच्छेदवृत्ति के अभाव से आज का विद्वत्--समाज "**इदमित्थमेव**" निर्णय करने में सर्वथा ही असमर्थ है। यही दशा हमारे इस '**उपासनाकाण्ड**' की है। उपासना का मौलिक स्वरूप क्या है ?, उपासना के विविध स्वरूप क्यों बन गए ?, किस उपासना का कौनसा शास्त्र मूल है ?, उपासना का कौनसा अंश दूषित है ?, इन सब प्रश्नों का वास्तविक समाधान तबतक असम्भव है, जबतक कि मूलसभ्यता से आरम्भ कर अबतक की पारस्थिति का व्यवच्छेददृष्टि से समन्वय न कर लिया जाय।

६४-निर्गुण-सगुणोपासना का तारतम्य-समन्वय, एवं शास्त्राचार की उपेक्षा से सम्भावित महान् स्खलन—

प्रक्रान्त चतुर्थ--प्रकरणान्तर्गत पूर्व के प्रथम अवान्तर--प्रकरण में यह बतलाया गया है कि, "देवयुग में '**निर्गुणोपासना**' की ही प्रधानता थी। आगे जाकर इसका स्थान '**सगुणोपासना**' ने ग्रहण कर लिया, एवं वही वेदयुगानुगत उपासनामार्ग कहलाया"। इसी के आधार पर आगे जाकर '**पौराणिक भक्तिवाद**' का आविर्भाव हुआ। एवं **पुराणसमकालिक दर्शनयुग ने तत्त्वरूप से भक्तिमार्ग की व्यवस्था** की। सर्वान्त में उक्त चारों ही प्रकारों के वास्तविक उपासना-तत्त्व का स्थान **प्रचलित भक्तिमार्ग ने** अपहृत कर लिया। यद्यपि यह ठीक है कि--"**रीझ भजो, या खीज**" इस लोकसूक्ति के अनुसार भक्ति का यह विकृतरूप भी आगे जाकर तुष्टिकर ही सिद्ध होता है, तदपि शास्त्रीय निकषा (कसौटी) पर परीक्षित करने से ज्ञान-वैराग्य-पुत्रों से वञ्चिता प्रचलित माता भक्ति एक अवैध भक्ति ही आ ठहरती है। औषधपान अनुपालन के सुव्यवस्थित रखने से ही अधिक उपकारक सिद्ध होता है। अव्यवस्थित तो भोजन भी कभी कभी हानिप्रद ही बन जाता है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि, यदि अव्यवस्थित, अशास्त्रीय भक्तिमार्ग भी अभ्युदय के स्थान में पतन का ही कारण बन जाय।

६५-विविध भेदभिन्न असंख्य-अगणित भक्तिवादों का युगधर्म्मानुबन्ध से पञ्चधा वर्गीकरण—

जब से आर्य्यसभ्यता का मूलस्रोत प्रवाहित हुआ, तब से आरम्भ कर आज की बीसवीं शताब्दी-पर्य्यन्त भक्तिमार्ग में कितने परिवर्त्तन हुए ?, **शैव, शाक्त, कापालिक, गाणपत्य, वैष्णव,** आदि आदि मान्य-

ताओं के भेद से भक्ति के कितने रूप आविर्भूत, एवं तिरोभूत हुए ?, इन सब विवादों को यदि छोड़कर भक्तिमार्ग पर दृष्टि डाली जाती है, तो स्थूलरूप से इस सम्बन्ध में हमारे सामने पाँच ही मार्ग उपस्थित होते हैं। एवं इन पाँचों मार्गों को हम क्रमशः निम्नलिखित नामों से व्यवहृत करसकते हैं—

१—देवयुगानुगत–भक्तिमार्ग
२—वेदयुगानुगत–भक्तिमार्ग
३—पुराणयुगानुगत–भक्तिमार्ग
४—दर्शनयुगानुगत–भक्तिमार्ग
५—वर्त्तमानयुगानुगत–भक्तिमार्ग

—— * ——

९६–महारम्भ–शास्त्र से अनुप्राणित भक्तिमार्ग में शास्त्रैकशरणता की ही अनन्यता—

जबकि शास्त्रनिष्ठा ही हमारे लिए सर्वश्रेष्ठ, एवं सर्वज्येष्ठ प्रमाण है, तो उक्त पाँचों भक्तिमार्गों के लिए भी हमें शास्त्र का ही आश्रय लेना पड़ेगा। महारम्भशास्त्र से प्रतिपादित भक्तिमार्ग का व्यवच्छेद करते हुए ही पाँचों मार्गों की प्रामाणिकता सिद्ध करनी पड़ेगी। बिना ऐसा किए पाँचों ही मार्ग केवल कल्पना की ही वस्तु रह जायगी, और उस दशा में इस भक्तिव्याख्या का वही मूल्य रह जायगा, जो कि मूल्य वर्त्तमानजगत् में उत्पन्न होने वाले, **धर्म्म–कर्म्म–ज्ञान–भक्ति** आदि के निर्णय के सम्बन्ध में केवल अपनी बुद्धि को श्रेष्ठ प्रमाण मानने वाले, सनातनशास्त्रों में परिवर्त्तन चाहने वाले, शास्त्रविरोधी व्यक्तियों के द्वारा निर्णीत कल्पित मार्ग का है।

९७–भक्ति–मार्गानुबन्धी उपास्य–उपासक, एवं उपासना–साधन–त्रयी का संस्मरण—

भक्ति के सम्बन्ध में यह विशेषरूप से ध्यान देने की बात है कि, इस मार्ग में **द्वैतभाव** की ही प्रधानता है। **"उपास्य–उपासक–उपासनासाधन"**, इन तीन पर्वों के समन्वय से ही **"भक्ति"** का स्वरूप निष्पन्न होता है। शास्त्रों का चरम लक्ष्यभूत **अखण्ड, अद्वय, निर्गुण, निराकार, निरञ्जन, सर्वव्यापक आत्मब्रह्म** उक्त तीनों पर्वों से बहिर्भूत होता हुआ सर्वथा अनुपास्य ही है। व्यापक आत्मदृष्टि में **उपास्य–उपासक** का भेद सर्वथा अनुपपन्न है। फलतः उस व्यापक आत्मदृष्टि से न कोई उपास्य है, न कोई उपासक है, एवं न उपासना का साधन ही है।

९८–द्वैतभावनिबन्धन भक्तिमार्ग—

'मनोयोग' को उपासना मानिए, अथवा शङ्करपरिभाषानुसार **समानप्रत्ययप्रवाहरूप 'ध्यानयोग'** को उपासना कहिए, उभयथा इस योग के लिए द्वैतभाव को ही आधार बनाना पड़ेगा। यही कारण है कि,

ज्ञानयोगदृष्टि को प्रधान मानने वाले भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्य्य ने ज्ञानदृष्टि से जहाँ "अहं" और "असौ" (जीव और ईश्वर) का अभेद माना है, वहाँ भक्तिमार्ग की दृष्टि से उन्होंनें भी इन दोनों का भेद ही आवश्यक समझा है, जैसाकि उनकी इस सूक्ति से स्पष्ट है--

यद्यपि भेदापगमे नाथ ! तवाहं, न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरङ्गः, क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥

९९-भक्तिमार्ग--निबन्धन द्वैतभाव की स्वरूप-मीमांसा, तत् प्राणप्रतिष्ठारूपा अद्वैत-निष्ठा, एवं तत्सम्बन्ध में आर्ष--वचनों का संस्मरण—

भक्तिमार्गानुबन्धी इस भेदवाद का मूल रहस्य यही है कि, हमारा **मन**, एवं **बुद्धि**, दोनों हीं परिच्छिन्न हैं, ससीम हैं, परिमित हैं । इनका योग किसी परिच्छिन्न, ससीम, एवं परिमित तत्त्व के साथ ही सम्भव है । उधर वह मायातीत अद्वयब्रह्म अपरिच्छिन्न, असीम एवं अपरिमित है । अतएव वहाँ न हमारा सीमित मन पहुँच सकता, एवं न सीमित बुद्धि का ही वहाँ गमन सम्भव । हम हमारे **मानस ज्ञान** से, **विज्ञानज्ञान से**, एवं वाणी से जिस आत्मा के ज्ञान एवं यशोगान का अभिमान करते हैं, वह **सगुण--साकार--सावच्छिन्न-ससीम एवं परिमित आत्मा ही है । निर्गुण--निराकार--अनवच्छिन्न तत्त्व तो हमारे विज्ञानज्ञान-प्रज्ञानज्ञान--श्रोत्र--वाक्** आदि सब परिग्रहों से बहिर्भूत ही है । उसी की अनुपास्यता, एवं अनिर्वचनीयता बतलाते हुए निम्नलिखित श्रौत वचन हमारे सामने आते हैं--

१- "न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वागगच्छति, न मनः, न विद्मः, न विजानीमः, यथैतदनु-शिष्यात् । अन्यदेव तद्विदितात्, अथो अविदितादधि । इति शुश्रुम धीराणां ये न स्तद्व्याचचक्षिरे" ।

२--यद्वाचानभ्युदितं, येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

३--यस्यामतं--तस्य मतं, मतं यस्य--न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातमविजानताम् ॥

४--संविदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः ।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥

१००- निराकार--साकार--भेद भिन्ना--औपासनिकी तत्त्वमर्य्यादा, अनुपास्य निराकार, एवं उपास्य सगुणप्रजापति का संस्मरण—

"नेदं यदिदमुपासते" इस वचन ने 'ज्ञेय' (तटस्थ लक्षण से ज्ञेय, किन्तु स्वरूपतः सर्वथा अविज्ञेय), एवं 'उपास्य' दोनों का सर्वथा पार्थक्य ही सिद्ध किया है । यही वचन यह सिद्ध करने के लिए भी पर्य्याप्त

प्रमाण है कि, **निराकार सर्वथा अनुपास्य ही है**। हम जिस की उपासना करते हैं, वह उस व्यापक निराकार से सर्वथा भिन्न ही तत्त्व है। फलतः जो महानुभाव **द्वैतमूला सगुणोपासना** की उपेक्षा करते हुए **निराकार की उपासना** का अभिमान करते हैं, पद पद पर **निरञ्जन-निराकार** का यशोगान करते हुए **शास्त्रसिद्धा-सगुणोपासना** पर आक्षेप करते हैं, वे बालिश अवश्य ही दया के पात्र हैं।

१०१-आत्मा--प्राण--पशु-समष्ट्यात्मक उपास्य सगुणेश्वर का संस्मरण—

वक्तव्यांश यही है कि, **उपासना व्यापक निर्गुण की नहीं होती। होती है एकमात्र सगुण ब्रह्म की, द्वैतमूलक संसारप्रवर्त्तक विश्वेश्वर प्रजापति** की। आगे जाकर तो पाठक यह भी देखेंगे कि, **वस्तुतः उपासना ईश्वर (सगुणब्रह्म) की भी नहीं होसकती**। ईश्वरप्रजापति के **आत्मा (सगुणात्मा)-प्राण-पशु**, ये तीन विवर्त्त हैं। इन तीनों में आत्मा **"ईश्वर"** है। प्राण **'ईश्वर की विभूति' है, यही 'देवता' है**। एवं पशु **'भौतिक संसार' है। पशुरूप भौतिक संसार अर्थप्रधान है, कर्म्मप्रधान है। आत्मरूप ईश्वर ज्ञानप्रधान है**। एवं **प्राणरूप देवता उभयरूप है**।

१०२-अध्यात्म---अधिदैवत--अधिभूत--निबन्धन उपासक--उपास्य--उपासना-साधन--भावत्रयी का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

यह बतलाया जाचुका है कि, **ज्ञानयोग ज्ञानप्रधान है, कर्म्मयोग कर्म्मप्रधान है, एवं मध्यस्थ भक्तियोग में ज्ञान-कर्म्म दोनों का समन्वय है**। फलतः सिद्ध होजाता है कि, **ज्ञानयोग** की **आलम्बनभूमि आत्मेश्वर है, कर्म्मयोग की प्रतिष्ठा भौतिक विश्व है**। एवं **भक्तिनिष्ठा का अन्यतम आधार प्राणदेवता है। ज्ञान ईश्वर का ही होता है, कर्म्म संसार से ही सम्बन्ध रखता है, एवं उपासना, किंवा भक्ति मध्यस्थ देवता की ही होती है**। सभी विषयों का आगे के प्रकरणों में विस्तार से स्पष्टीकरण होने वाला है। प्रकृत में केवल यही वक्तव्य है कि, आत्मतत्त्व के **विश्व-विश्वातीत**, ये दो विवर्त्त हैं। **इन में विश्वातीत सर्वथा अनुपास्य है, अविज्ञेय है, एवं विश्वब्रह्म ही सगुणब्रह्म बनता हुआ उपास्य बनता है**। तथा सगुणब्रह्मोपासनाकाण्ड में न केवल **भगवत्पाद माध्वाचार्य्य**-सम्मत द्वैतवाद ही, अपितु **भगवत्पाद रामानुजाचार्य्य**-सम्मत **"ईश्वर--जीव--जगत्"** इस त्रित्ववाद की ही प्रधानता है। **ईश्वर आधिदैविक तत्त्व है, जगत् आधिभौतिक तत्त्व है, एवं जीव आध्यात्मिक तत्त्व है। आधिभौतिक जगत् उपासनासाधन है, आधिदैविक ईश्वर उपास्य है, एवं आध्यात्मिक जीव उपासक है। "इस के द्वारा यह वहाँ युक्त होजाता है"** यही उपासनाकाण्ड है। ज्ञानयोग साध्य-साधनापेक्षया उभयथा जहाँ आधिदैविक है, कर्म्मयोग साध्य-साधनापेक्षया उभयथा जहाँ आधिभौतिक है, वहाँ हमारे इस **उपासनाकाण्ड में साध्य आधिदैविक है, साधन आधिभौतिक है, एवं साधक आध्यात्मिक (जीव) है। "अध्यात्म (जीव) अधिभूत-(जगत्)-साधनों से अधिदैवत (ईश्वर) का भाग बन जाय"** यही भक्तिनिष्ठा का निष्कर्ष है, जैसा कि आगे के परिच्छेदों में विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

१०३–देवयुगानुगता निर्गुणोपासना की ज्ञानैकप्रवणता, एवं तत्सम्बन्ध में विप्रतिपत्ति-परम्पराएं —

पूर्वप्रतिपादित देवयुगानुगत भक्तिमार्ग--परिच्छेदों में हमनें यह कहा है कि, उस युग की उपासना "निर्गुणोपासना" ही थी। परन्तु इन परिच्छेदों में यह कहा जारहा है कि–**निर्गुण की उपासना बन ही नहीं सकती**। यह पूर्वापर--विरोध कैसा ?, एक विप्रतिपत्ति। एक ही शास्त्रने भक्ति के सम्बन्ध में अनेक मार्ग किस आधार पर बतलाए, जब कि सनातन सत्यमार्ग सदा एक ही होता है ?, दूसरी विप्रतिपत्ति। मौलिक भक्तिमार्ग किन कारणों से अनेक रूपों में परिणत होगया ?, तीसरी विप्रतिपत्ति। इन्हीं कतिपय विप्रतिपत्तियों के निराकरण के लिए निम्नलिखित सन्दर्भ उपक्रान्त होरहा है। अवधानपूर्वक दृष्टि-निक्षेपानुग्रह से किसी भी विप्रतिपत्ति का महत्त्व शेष नहीं रह जाता। फलतः शास्त्रविरोध का यथापूर्व समन्वय होजाता है, संशयात्मक सभी झञ्झावात विलीन होजाते हैं।

१०४-उपास्यतत्त्व का पावन संस्मरण, तदनुप्राणिता अद्वैतनिष्ठा, एवं तत्समर्थक--श्रुतिसन्दर्भ--

उपासनाकाण्ड के पाँच मार्गों के समन्वय से पहिले हमें '**उपास्यतत्त्व**' का ही विचार करना पड़ेगा। उपास्य का स्वरूप ही इस विप्रतिपत्ति के निराकरण का मूलाधार माना जायगा। **ईश्वर-आत्मा-ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-वरुण-अग्नि-मातरिश्वा--महेश--दुर्गा-गणेश--सूर्य्य--चन्द्रमा--ओङ्कार--राम-कृष्ण-इत्यादि** रूप से उपास्य देवताओं के अनेक नाम सुने जाते हैं, एवं इस नाम–भेद से ही उपासनामार्ग विभिन्न भी बन रहे हैं। इस में कोई सन्देह नहीं कि-"**एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्**" * इत्यादि ऋङ्मन्त्र के अनुसार उक्त सभी उपास्य उस एक ही तत्त्व के अनेक विवर्त्त हैं। अतएव यह भी निःसंदिग्ध है कि, इन उपास्यों में से किसी एक रूप की उपासना करता हुआ भी उपासक परम्परया उसी तत्त्व की उपासना कर रहा है, जैसा कि निम्नलिखित श्रौत-स्मार्त्त-वचनों से स्पष्ट है—

१--स यथेमा नद्यः यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्य अस्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे, समुद्र इत्येवं प्रोच्यते, एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषपरायणाः पुरुषं प्राप्य-अस्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे, पुरुष इत्येवं प्रोच्यते। स एषोऽकलोऽमृतो भवति" (प्रश्नोपनिषत्)

२—येप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय ! । यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ (गीतोपनिषत्)

---

*–एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनुप्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति–"एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्" ॥
---ऋक्संहितायाम्

१०५–उपास्यदेवता के विभिन्न विवर्त्त—

अब हमारे सामने प्रमुख प्रश्न केवल यही शेष रह जाता है कि, वह एक तत्त्व कौन है, एवं कैसा है, जिसके कि ये अनेक उपास्य--विवर्त्त बन जाते हैं। इन सब प्रश्नों का **सम्यक् दर्शन-सम्यक्-ज्ञान-सम्यक् चारित्र्य भूमिका द्वितीय खण्डान्तर्गत 'आत्मपरीक्षाप्रकरण'** से गतार्थ है। अतः यहाँ उस विषय के पिष्टपेषण की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। प्रकरणसङ्गति के लिए दो शब्दों में उस **आत्मस्वरूप** का सिंहावलोकनमात्र ही कर लिया जाता है।

१०६–निर्गुण ब्रह्म की परिग्रहानुगता सगुणता का समन्वय—

सर्वबलविशिष्ट (सर्वकर्म्मविशिष्ट) रसमूर्त्ति (ज्ञानमूर्त्ति) तत्त्व ही **"परात्पर" "परमेश्वर" "विश्वातीत" "अनुपाख्यब्रह्म" "निर्गुणब्रह्म" "निराकार" "निरञ्जन" "अद्वय" "अखण्ड" "प्रविविक्त"** इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध है। **यही निर्गुण विश्वातीत ब्रह्म परिग्रहों से युक्त होकर (अंशरूप से) सगुण बन जाता है।**

१०७–सगुणताप्रवर्त्तक षड्विध (६) परिग्रहों का नाम-स्मरण---

परिग्रह ही उस **निर्धर्म्मक** को **सर्वधर्म्मोपपन्न** प्रमाणित कर देते हैं। वे परिग्रह षट्संख्याओं से परिगणित (गिने गिनाए) हैं, एवं वे ६ परिग्रह क्रमशः **१--माया, २-कला, ३–गुण, ४--विकार, ५--अञ्जन, ६--आवरण** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन ६ परिग्रहों के सम्बन्ध से उस एक ही विश्वातीत के षड्विध (६) विश्वरूप होजाते हैं। माया से युक्त मायी तत्त्व ही **"अव्यय"**[1] कहलाता है। कला से युक्त मायी अव्यय ही **"षोडशीप्रजापति"**[2] (**षोडशीपुरुष**) कहलाता है। गुण से युक्त षोडशीप्रजापति ही **"सत्य–प्रजापति"**[3] [**वेदसत्यात्मक**] कहलाता है। विकार से युक्त सत्यप्रजापति ही **"यज्ञप्रजापति"**[4] [**शुक्रात्मक**] कहलाता है। अञ्जन से युक्त यज्ञप्रजापति ही **"विराट्प्रजापति"**[5] [**देवसत्यात्मक**] कहलाता है। एवं आवरण से युक्त विराट्प्रजापति ही **'विश्व"**[6] [**पाञ्चभौतिक, सप्तवितस्तिरूप, त्रैलोक्य-त्रिलोकीरूप विश्व**] कहलाता है।

१०८--षट्परिग्रहभेद से सगुणप्रजापति के विभिन्न ६ स्वरूप--

विश्वदृष्टि से वही तत्त्व **अव्यय**[1]**-षोडशी**[2]**-सत्य**[3]**-यज्ञ**[4]**-विराट्**[5]**-विश्व**[6] इन ६ रूपों के समन्वय से षट्कल है। विराट् दृष्टि से वही **अव्यय**[1]**–षोडशी**[2]**–सत्य**[3]**–यज्ञ**[4]**- विराट्**[5] इन पाँच रूपों के समन्वय से **पञ्चकल**[2] है। यज्ञदृष्टि से वही **अव्यय**[1]**--षोडशी**[2]**–सत्य**[3]**--यज्ञ**[4] इन चार रूपों के समन्वय से **चतुष्कल**[3] है। सत्यदृष्टि से वही **अव्यय**[1]**--षोडशी**[2]**--सत्य**[3] इन रूपों के समन्वय से **त्रिकल**[4] है। षोडशीदृष्टि से वही **अव्यय**--[1]**षोडशी**[2] इन दो रूपों के समन्वय से **द्विकल**[5] है। विशुद्ध अव्ययदृष्टि से वही अकल है। **एवं परात्परदृष्टि से वही सब कुछ है भी, सब कुछ नहीं भी है।**

१०९--अत्यन्त-विलक्षण-परिग्रहविशिष्ट प्रजापति का आश्चर्य्यमय-समन्वय-प्रयास--

कैसा विलक्षण समन्वय है, कैसा अनिर्वचनीय सम्बन्ध है, **जिसके सम्बन्ध में सबकुछ कह सकते हैं, एवं कुछ भी नहीं कह सकते। थोड़ा भी कह सकते हैं, एवं बहुत भी। क्या कहें, कुछ कहते भी नहीं बनता, बिना कहे भी रहा नहीं जाता। यह कहें कि वह, इसे सच माने, अथवा उसे, सब कुछ सच, सब कुछ अस्तव्यस्त। यह भी वही है, तो वह भी यही है। न यह वह है, न वह यह है। 'ना' भी वही है, 'हाँ' भी वही है। न वह 'ना' है, न वह 'हाँ' ही है। वह 'ना' भी है**

तो 'हाँ' भी है। आत्मब्रह्म के इस अनिर्वचनीय विवर्त्त के सम्बन्ध में मानवीय मन इत्थंभूता अलग्ला अस्तव्यस्ता वाणी के प्रयोग के अतिरिक्त और कर भी क्या सकता है ?। सब से अच्छा तो यही होगा कि, तटस्थरूप से लीलाधर की लीला पर आश्चर्य्य ही करते रहें हम निरन्तर यावज्जीवन, और तत्सम्बन्ध में कहें कुछ भी नहीं। यदि काममय मन के स्वाभाविक चाञ्चल्य से कुछ तो भी कहने की आकुलाता ही हो, तो अधिक से अधिक "नेति-नेति" मात्र ही कहदें--"नेति नेति कहि वेद पुकारा" (देखिए ! गीताभूमिका-'आत्मपरीक्षात्मक' द्वितीयखण्ड के 'क' विभाग का-'दार्शनिक-दृष्टि से आत्मपरीक्षा' नामक अवान्तर प्रकरण)।

११०-सगुणात्मविवर्त्त-समन्वयः (परिलेखात्मकः)—

निर्गुणआत्मा— परात्परः
विश्वातीतः सर्वातीतः सर्वरूपः

परात्परः

	१ १-अव्ययः					
	१ २-अव्ययः	२ षोडशी				
	१ ३-अव्ययः	२ षोडशी	३ सत्यप्रजापतिः			
	१ ४-अव्ययः	२ षोडशी	३ सत्यप्रजापतिः	४ यज्ञप्रजापतिः		
	१ ५-अव्ययः	२ षोडशी	३ सत्यप्रजापतिः	४ यज्ञप्रजापतिः	५ विराट्प्रजापतिः	
	१ ६-अव्ययः	२ षोडशी	३ सत्यप्रजापतिः	४ यज्ञप्रजापतिः	५ विराट्प्रजापतिः	६ विश्वम्
विश्वम्	१-अव्ययः	२-षोडशी	३-सत्यप्रजापतिः	४-यज्ञप्रजापतिः	५-विराट्प्रजापतिः	६-विश्वम्

स गु णा त्म वि व र्त्त म्

१११–षड्विध-परिग्रह-समन्वयः (परिलेखात्मकः)—

षट्परिग्रहशून्यः –अमायी "नेदं" परात्परः –आत्मा

१ १–माया	मायी–अव्ययः -१					षट्परिग्रहयुक्तः–सर्वधर्म्मोपपन्नः आत्मन्वी
१ २–माया	२ कलाः	सकलः षोडशी-२				
१ ३–माया	२ कलाः	३ गुणाः	सगुणः सत्यप्रजापतिः-३			
१ ४–माया	२ कलाः	३ गुणाः	४ विकाराः	सविकारो यज्ञप्रजापतिः-४		
१ ५–माया	२ कलाः	३ गुणाः	४ विकाराः	५ अञ्जनानि	साञ्जनो विराट्प्रजापतिः-५	
१ ६–माया	२ कलाः	३ गुणाः	४ विकाराः	५ अञ्जनानि	६ आवरणानि	सावरणं विश्वम्-६

यदिदमुपासते

११२–अभिन्न-विद्युद्यन्त्र से सञ्चालित भिन्न भिन्न तन्त्र, एवं अभिन्न-आत्मतन्त्र से सञ्चालित नानाभेद-भिन्न प्राकृतिक-विवर्त्त—

एक ही विद्युद्-यन्त्र, परन्तु उससे सञ्चालन असंख्य कार्य्यों का। रेल, तार, टेलीफोन, वायरलेस-टेलीग्राफी, रेड़ियो, वायुयान, जलयान, फोनोग्राफ, पुतलीघर, जलाकर्षण, लाइट, प्रेस, पनचक्की, आदि आदि सभी तो उस एक ही विद्युद्-यन्त्र से सञ्चालित हैं। इन सभी विविध कर्म्मों का एकमात्र विद्युद्-यन्त्र ही तो मूलाधार है। उस एक ही पर तो ये नाना कर्म्म प्रतिष्ठित हैं। उक्त किसी कर्म्म का यदि वास्तविक रहस्य जानने की इच्छा होती है, तो इसकी सम्यक् पूर्त्ति के लिए पहिले उस विद्युद्-यन्त्र का रहस्य जान लेना परमावश्यक होजाता है। कारण–सभी कर्म्मों का वही विद्युद्-यन्त्र मूलस्रोत बना हुआ है।

११३–सर्वाधारात्मक स्वाधारभूत निराधार आत्मतन्त्र की सर्वव्याप्ति, एवं तदनुगता सर्वतन्त्रानुप्राणिता जिज्ञासा—

ठीक यही स्थिति विद्यु द्-यन्त्र-स्थानीय उस **सर्वाधार** (किन्तु स्वयं स्वाधार, अतएव निराधार) एक आत्मा के, एवं इतर आविष्कार-स्थानीय इतर विवर्त्तों के सम्बन्ध में समझिए। **"सर्वेषामेकायतनम्"** इस सिद्धान्त के अनुसार वही उक्त ६ ओं विवर्त्तों का मूलाधार है। न केवल इन्हीं का, अपितु—**ज्ञान-कर्म्म-यज्ञ-तप-दान-इष्ट-आपूर्त्त-दत्त-इत्यादि** जितने भी **वैदिक-लौकिक-शास्त्रीय-अशास्त्रीय** प्रपञ्च हैं, सब का मूल आधार वही एक तत्त्व है। फलतः इन सबमें से जिसकी भी स्वरूप-जिज्ञासा होगी, प्रत्येक के आरम्भ में उसका विवर्त्तज्ञान आवश्यकरूपेणैव संस्मरणीय होगा।

११४–प्रक्रान्त उपासनात्मक-भक्तियोग के अनुबन्ध से सर्वाधारभूत आत्मतन्त्र का अनिवार्य्य संस्मरण, एवं काल्पनिकों के काल्पनिक आपेक्ष का निरसन—

जब वह सबके मूल में प्रतिष्ठित है, तो हमारा उपासनाकाण्ड भी उससे कैसे वञ्चित रहसकता है?। फलतः उपासना के पाँचों विवर्त्तों के मौलिक रहस्य के परिज्ञान के लिए भी उसी मूलतत्त्व के विस्तार का परिज्ञान आवश्यक बन जाता है। ऐसी दशा में यदि कोई यह आक्षेप करे कि—निबन्ध-निबन्धा (लेखक) **"पद पद पर उसी अव्यय-अक्षर-की गाथा गाकर समय नष्ट कर रहा है"** तो इस आक्षेप का कोई मूल्य नहीं रह जाता। आप तो उपासना के लिए कहते हैं। हमारा तो यह भी विश्वास है कि, यदि कोई यह जिज्ञासा करे कि-**"सूर्य्योदय से पहिले क्यों उठना चाहिए?, यज्ञोपवीत क्यों धारण करना चाहिए?, सन्ध्या क्यों करनी चाहिए"**?, तो इन प्रश्नों के समाधान के लिए भी उसी **मूलात्मा** के स्वरूप को आगे रखना पड़ेगा। यही कारण है कि, पूर्वप्रकरणों में प्रत्येक विषय के साथ हमें भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से उसी मूलतत्त्व का स्वरूप बतलाना पड़ रहा है, और आगे भी आवश्यकतानुसार उसका अवश्य ही आश्रय लिया जायगा। वही मर्य्यादा प्रस्तुत उपासनाकाण्ड में भी उसीके स्वरूपोपबृंहण की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रही है।

११५–'एतत्' रूप विश्व के आधारभूत 'तत्' रूप विश्वात्मा की मनः-प्राण-वाग्-निबन्धना ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तित्रयी का पावन संस्मरण—

'उसे' पहिचाने के लिए **'इसे'** पहिचाना पड़ेगा, एवं **'इसे'** पहिचाने के लिए **'उसे'** ध्यान में रखना पड़ेगा। **'इसका'** अर्थ है-**"विश्व"**, एवं 'उसका' अर्थ है **"आत्मा"**। **'यह'** कार्य्य है, तो **'वह'** कारण है। कार्य्यस्वरूप से कारणस्वरूप का अनुमान लगा लेना दार्शनिक-सम्प्रदाय का भी सर्वसम्मत सिद्धान्त है। कार्य्यरूप विश्व में हम **ज्ञान-क्रिया-अर्थ**, इन तीन विवर्त्तों का साक्षाद्रूप से अनुभव, एवं प्रत्यक्ष कर रहे हैं। **ज्ञान-क्रिया का तो अनुभव होता है, एवं अर्थ का प्रत्यक्ष होता है।** कार्य्यविश्व के इन्हीं अनूभूत, दृष्ट-तीनों भावों के आधार पर हमें यह अनुमान लगा लेना पड़ता है, कि अवश्य ही कारणरूप तत्त्व में ऐसी कोई तीन शक्तियाँ होंगीं, जिनसे कि कार्य्यरूप विश्व की इन तीन शक्तियों की अभिव्यक्ति हुई। **'विश्वज्ञान'** का आधार वही कारणपर्व **"मन"** नाम से प्रसिद्ध है। **'विश्वक्रि य** आधा वही
र

कारणपर्व "प्राण" नाम से, एवं 'त्रिश्वार्थ' का आधार वही कारणपर्व "वाक्" नाम से प्रसिद्ध है। **मनःप्राणवाङ्मय कारणतत्त्व ही ज्ञान-क्रिया-अर्थमय कार्य्यविश्व की आधारभूमि है**। वही इस विश्व का आत्मा है, जैसाकि-**"स वा एष आत्मा वाङ्मय, प्राणमयो, मनोमयः"** इत्यादि औपनिषद-सिद्धान्त से स्पष्ट है।

११६-विश्वातीत-निष्कल-'परात्परात्मा' की षट्परिग्रह-निबन्धना-मायानुगता-'सकलता', एवं निष्कलता का संस्मरण—

जैसाकि आरम्भ में कहा गया है, **विश्वतीत आत्मा निष्कल है**। प्रश्न स्वाभाविक है कि, **वह निष्कल** त्रिकल **कैसे बन गया ?**। उत्तर वे ही **माया**-कला-गुण-आदि ६ परिग्रह हैं। इन परिग्रहों में **"माया"** नाम का परिग्रह ही सर्वादि, सर्वज्येष्ठ, एवं सर्वश्रेष्ठ है। इसके उदय से ही वह असीम अंशतः ससीम बन कर **'अव्ययपुरुष'** कहलाने लगता है। केवल **मायामय**, अतएव **'मित'** **(परिमित)** वही तत्त्व सर्वथा **'अकल'**-किंवा **निष्कल "अव्ययपुरुष"** है।

११७-मायापरिग्रह-युक्त 'मायी' अव्यय की सगुणरूपता का दिग्दर्शन, एवं तत्त्व-दृष्ट्या मायी अव्यय की अनादित्वनिबन्धना 'निर्गुणता' का समन्वय—

यदि माया को भी एकप्रकार का **'गुण'** ही मान लिया जाता है, तब तो वह **'मायी अव्यय'** भी **'सगुण आत्मा'** कहला सकता है। परन्तु वस्तुतः **'गुण'** तीसरा परिग्रह है, एवं इसका उदय **'योगमाया-मय'** तीसरे **'सत्यप्रजापति'** में ही होता है। **"योगत्रयी का मौलिक रहस्य"** नामक द्वितीय प्रकरण में यह विस्तार से बतलाया जाचुका है कि, **'महामाया' का अक्षर से सम्बन्ध है, एवं योगमाया का क्षर से सम्बन्ध है**। अव्यय का स्वरूप-सम्पादन करने वाली महामाया गुणातीता (विशुद्ध सत्त्वात्मिका-जिसके कि आधार पर ही वाल्लभों का शुद्धाद्वैतसम्प्रदाय प्रतिष्ठित है) है। एवं क्षरात्मिका योगमाया ही त्रिगुणभाव की जननी बनती हुई **'यज्ञ-विराट्'** के द्वारा विश्वस्वरूप की सम्पादिका बनती है। इस दृष्टि से हम केवल महा-मायावच्छिन्न अव्ययपुरुष को (सीमाभाव से सगुण होते हुए भी) गुणत्रय से बहिर्भूत बने रहने के कारण **'निर्गुण'** ही कहेंगे, जैसाकि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते ॥

—गीता

११८-'सर्वान्तरतम'-'श्वोवसीयस-मनो-मूर्त्ति निर्गुण अव्ययात्मा की अक्षरप्रकृति-निबन्धना मनःप्राणवाङ्मयता का संस्मरण—

मायाजनित सीमाभाव के उदयकाल में ही सीमाभाव का नित्यसहचारी **'हृदयबल'** उद्बुद्ध होजाता है। हृदयावच्छिन्न मायामय वही अव्यय **"मन"** **(श्वोवसीयस् नामक 'अव्ययमन', 'सर्वान्तरतममन')** कहलाने लगता है। आगे जाकर हृदयबलरूपा क्षरयुक्ता **'अक्षरप्रकृति'** के व्यापार से वही मन प्राणवाङ्मय

बनता हुआ त्रिकल बन जाता है। इसप्रकार केवल मायाबल ही अक्षर-क्षर के सहयोग से अकल, मनोमय उस 'अव्यय' को मनः-प्राण-वाङ्मय-बना डालता है।

११९- प्रकृतिनिबन्धन अक्षरभाव के अनुबन्ध से अव्ययात्मा की ही अव्यय-अक्षर-क्षर-भेदनिबन्धना संस्थात्रयी का क्रमानुगत-समन्वय—

इन तीनों में-प्रत्येक के तीन तीन विवर्त्त होजाते हैं। स्वयं **अव्ययमन** के वे तीनों विवर्त्त [1] **आनन्द**-[2]**विज्ञान**-[3] **मन** (**अन्तर्म्मन**), इन नामों से प्रसिद्ध हैं। यही मौलिक **'अव्ययात्मसंस्था है'**, ये तीनों **'मनोमय अव्यय'** के ही तीन विवर्त्त हैं, अतएव इसे हम-**"मनःसंस्था"** भी कहसकते हैं। हृदयबलात्मक पञ्चकल अमृता-प्रकृतिरूप अक्षर का **प्राणविवर्त्त** से सम्बन्ध है। इस **'अक्षरप्राण'** के तीनों विवर्त्त **'मन (वहिर्म्मन]-प्राण-वाक्** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। यही दूसरी **'अक्षरात्मसंस्था'** है। ये तीनों प्राणमय अक्षर के ही तीन विवर्त्त हैं, अतएव इसे हम **"प्राणसंस्था"** कहसकते हैं। हृदयबलात्मक, पञ्चकल, मर्त्या-प्रकृतिरूप आत्मक्षर का **'वागविवर्त्त'** से सम्बन्ध है। इस **'क्षरप्राण'** के तीनों विवर्त्त **"वाक्--आपः--अग्निः"** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। यही तीसरी **'क्षरात्मसंस्था'** है। तीनों वाङ्मय क्षर के ही तीन विवर्त्त हैं, अतएव इसे हम **"वाक्संस्था"** कहसकते हैं।

१२०-कामरेतोमय मनोमूर्त्ति अव्ययात्मा के त्रिवृद्भावापन्न--मनः--प्राण--वाग्--विवर्त्तों का स्वरूप--समन्वय, एवं निष्कल--मायी की पञ्चकलोपेतता का दिग्दर्शन—

तात्पर्य्य यही हुआ कि, मायामय **'अव्ययमन'** आरम्भ में अक्षर के सम्बन्ध से होने वाली **'चिति'** से प्राणमय बनता हुआ **'द्विकल'** बना, एवं क्षर के सम्बन्ध से होने वाली चिति से वाङ्मय बनता हुआ **'त्रिकल'** बना। आगे जाकर प्रकृतिजन्य त्रिवृद्भाव के कारण इसकी **तीनों कलाएँ मनः प्राण--वाक्**, इन तीन तीन भावों से युक्त बनतीं हुई **९ संख्या** में परिणत होगईं। **इनमें त्रिवृन्मन स्वयं अव्ययपुरुष रहा, त्रिवृत्प्राण अक्षर रहा, एवं त्रिवृत्-वाक् क्षर रही। त्रिवृन्मनोमय अव्यय का मनोभाग आनन्द, प्राणभाग विज्ञान, एवं वागभाग मन कहलाया।** इस वाङ्मय मन के गर्भ में कामना का साम्राज्य रहा, जैसाकि **"कामस्तदग्रे समवर्त्ताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्"** इत्यादि * मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। इसी कामना से **वाङ्मय मन ने (अव्ययमन ने)** अपने ऊपर 'बल' की 'बहिश्चिति' की। वह चिति "प्राण--वाक्" इन दो भागों में विभक्त हुई। इसप्रकार **आनन्द-विज्ञान-गर्भित कामनामय वागरूप मन** ही मन-प्राण-वागरूप में परिणत होता हुआ तीन के स्थान में **'पञ्चकल'** बन गया।

---

*--कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥
--ऋक्संहिता।

१२१ आनन्द--विज्ञान--मनः--प्राण--वाग्--भेदेन पञ्चकोशात्मक अव्ययात्मा, तन्नि--बन्धना मुमुक्षा--सिसृक्षा, तदनुप्राणिता निवृत्ति--प्रवृत्ति, एवं सृष्टिसाक्षी, तथा मुक्तिसाक्षी अव्ययात्मा का संस्मरण---

यही पञ्चकल अव्यय उपनिषदों में **पञ्चकोशमय (आनन्दमय--विज्ञानमय--मनोमय-प्राणमय-वाङ्मय--अन्नमय)--ब्रह्म** कहलाया। इसके पाँच कोश **निवृत्तिकामना--प्रवृत्तिकामना** के भेद से दो रूपों में परिणत होगये। काममय मन का निवृत्तिभाव **'सृष्टिनिवृत्ति'** (बन्धनविमुक्ति) का कारण बना, एवं काममय मन का प्रवृत्तिभाव **'सृष्टिप्रवृत्ति'** [बन्धनप्रवृत्ति] का कारण बना। **आनन्द-विज्ञान-मनोमय वही अव्यय मुक्तिसाक्षी बनता हुआ मुमुक्षाका आलम्बन बना, एवं मनःप्राणवाङ्मय वही अव्यय सृष्टिसाक्षी बनता हुआ 'सिसृक्षा' का अधिष्ठान कहलाया।** मुक्तिसाक्षी अव्यय **'विद्यामूर्त्ति'** कहलाया, एवं सृष्टिसाक्षी अव्यय **'कर्म्ममूर्त्ति'** अव्यय कहलाया। सर्वथा यह स्मरण रखने की बात है कि, अव्यय के ये पाँचों रूप मनोमय बनते हुए ज्ञानप्रधान ही हैं। एव इसके मनः--प्राण--वाक्, ये तीनों सृष्टिसाक्षीरूप वाङ्मय मन के ही तीन विवर्त्त हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट होजाता है।

१२२---अव्ययात्मसंस्थान--समन्वयः--परिलेखात्मकः---

१---१-मनोमयं मनः---आनन्दः (ज्योतिर्म्मयः)]---मनोमयं मनः (आनन्दः) (मनः)

२---२-मनोमयः प्राणः---विज्ञानम् (विकासमयम्)]---मनोमयः प्राणः (विज्ञानम्) (मनः)

३--{ ३-मनोमयी वाक्---मनः (निवृत्तिकाममयम्) ; ४-वाङ्मयं मनः---मनः (प्रवृत्तिकाममयम्) }

४---५-वाङ्मयः प्राणः---(तपोमयः)

५---६-वाङ्मयी वाक्---(श्रममयी)

}---मनोमयी वाक् (मनः) (मनः)

}---**"मनः" (ज्ञानम्)**

---०---

१२३--अक्षरात्मासंस्थान-समन्वयः--परिलेखात्मकः---

यह तो हुआ **मनः-प्राण-वागूरूप (आनन्द-विज्ञान-मनोमय) मनोरूप अव्ययात्मा** का संक्षिप्त निदर्शन। अब क्रमप्राप्त **प्राणमय अक्षर** पर दृष्टि डालिए। अक्षर पर अव्यय के त्रिवृत्--प्राण का अनुग्रह होता है। इन में प्राणमय मन **अमृत-ब्रह्माक्षर** का अनुग्राहक बनता है, प्राणमय प्राण **अमृत-इन्द्राग्निरू-अक्षरों** का अनुग्राहक बनता है, एवं प्राणमयी वाक् **अमृत-अग्नि-सोमाक्षरों** की अनुग्राहिका बनती है। इस-प्रकार पञ्चकल अक्षर में त्रिवृत्प्राण का उपभोग सिद्ध होजाता है।

१–आनन्दे प्रतिष्ठितः—ब्रह्माक्षरः] —प्राणमयं मनः (प्राणः) प्राणः
२–विज्ञाने प्रतिष्ठितः-विष्णुरक्षरः }
३–मनसि प्रतिष्ठितः—इन्द्राक्षरः } —प्राणमयः प्राणः (प्राणः) प्राणः
४–प्राणे प्रतिष्ठितः—सोमाक्षरः }
५–वाचि प्रतिष्ठितः—अग्न्यक्षरः } —प्राणमयी वाक् (प्राणः) प्राणः

} —"प्राणः" (क्रिया)

——०——

१२४–क्षरात्मसंस्थान-समन्वयः-परिलेखात्मकः—

अक्षर के अनन्तर है **वाङ्मय क्षर**। इस आत्मक्षर पर अव्यय की त्रिवृता वाक् का अनुग्रह होता है। इन में वाङ्मय मन मर्त्य **ब्रह्माक्षर** का अनुग्राहक बनता है, यही **वाक्शुक्र है**। वाङ्मय प्राण **मर्त्य इन्द्राविष्णूक्षरों** का अनुग्राहक बनता है, यही **आपःशुक्र है**। वाङ्मयी वाक् मर्त्य **अग्नि-सोमक्षरों** की अनुग्राहिका बनती है। यही **अग्निशुक्र** है। इसप्रकार पञ्चकल आत्मक्षर में त्रिवृता वाक् का उपभोग सिद्ध होजाता है।

१–आनन्दगर्भिते-ब्रह्माक्षरे प्रतिष्ठितः—ब्रह्मा क्षरः]——वाङ्मयं मनः (वाक्) वाक्
२–विज्ञानगर्भिते-विष्णवक्षरे प्रतिष्ठितः—विष्णुः क्षरः }
३–मनोगर्भिते-इन्द्राक्षरे प्रतिष्ठितः—इन्द्रः क्षरः } —वाङ्मयः प्राणः (आपः) वाक्
४–प्राणगर्भिते-सोमाक्षरे प्रतिष्ठितः—सोमः क्षरः }
५–वाग्गर्भिते-अग्न्यक्षरे प्रतिष्ठितः—अग्निः क्षरः } —वाङ्मयी वाक् (अग्निः) वाक्

} —"वाक्" (अर्थः)

——*——

१२५–अव्यय-अक्षर-क्षरा-नुबन्धी-कला-गुण-विकार-परिग्रह-समन्वय, एवं अव्ययपुरुष की प्रातिस्विकी निष्कलता, निर्विकारता, तथा निर्गुणता का संस्मरण—

मायापरिग्रह अव्ययानुबन्धी है, कलापरिग्रह अक्षरानुबन्धी है, एवं गुणपरिग्रह आत्म-क्षरानुबन्धी है। यह विशुद्ध मायामय अव्यय कलाप्रवर्त्तक अक्षर, एवं गुणप्रवर्त्तक क्षर के समन्वय से आगे जाकर **षोडशकल** बन जाता है। यही दूसरा **षोडशीविवर्त्त कहलाता** है। क्षर गुणप्रवर्त्तक अवश्य है, परन्तु इस का प्रभुत्त्व स्वयं षोडशीपुरुष पर नहीं होने पाता। प्रभुत्त्व होता है इस का आगे के **'विकारक्षर'** पर, जिस से कि तीसरे **'सत्यप्रजापति'** का स्वरूप निष्पन्न होता है, एवं जिसे कि हम अनुपद में हीं **'सगुण-**

प्रजापति' कहने वाले हैं। इस दृष्टि से जहाँ विशुद्ध अव्यय को हम **निर्गुणात्मा** कहते हैं, वहाँ दूसरे षोडशी को भी निर्गुण (किन्तु क्षरदृष्ट्या गुणप्रवर्त्तक, एवं विकारप्रवर्त्तक) ही कहेंगे। विज्ञानसिद्धान्त के अनुसार अव्यय जहाँ **भावसृष्टि (मानसी सृष्टि)** का प्रवर्त्तक है, वहाँ अक्षर, और आत्मक्षर-रूपा परा–अपरा-प्रकृतियाँ क्रमशः **गुण**, एव **विकारसृष्टि** की प्रवर्त्तिकाएँ कहलाती हैं। गुण, तथा **विकार** की प्रवृत्ति यद्यपि **षोडशी** से ही होती है। परन्तु यह स्वतःशुद्ध अव्ययवत् निर्गुण, एवं निर्विकार ही है।

१२६–'न करोति, न लिप्यते' मूलक विशुद्ध निर्गुण अव्यय, एवं—'भूतभृन्नच भूतस्थो ममात्मा भूतभावन', मूलक सगुणाव्ययमूर्त्ति षोडशीप्रजापति—

कारण स्पष्ट है। गुण, एवं विकार-भावों का विश्वसृष्टि से ही सम्बन्ध है। विश्वसृष्टि का मूलोपादन **सगुण-सत्यप्रजापति (वेदमय)**, एवं **सविकार-यज्ञप्रजापति** ही है। षोडशी तो त्रिगुणात्मक-सविकार विश्वका निर्गुण-निर्विकार आत्मा है। इसी दृष्टि से यह भी कहा जासकता है कि, विशुद्ध निर्गुण-निष्कल अव्ययात्मा **न करता है, न लिप्त होता है**। षोडशीप्रजापति **कर्त्ता अवश्य है, परन्तु लिप्त नहीं होता**। "**न करोति न लिप्यते**" ये अक्षर जहाँ विशुद्ध अव्यय के सूचक हैं, वहाँ–"भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः" ये अक्षर षोडशीप्रजापति की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं।

१२७–अव्यय-निबन्धन-'आत्मा' शब्द, एवं षोडशीप्रजापति-निबन्धन 'आत्मन्वी' शब्द, तथा आत्मा-प्राण-पशु-समष्ट्यात्मक 'प्रजापति' का स्वरूप-समन्वय—

एक बात और। अव्यय केवल '**आत्मा**' शब्द के-सम्बोन्धन का ही अधिकारी है। इसे 'ईश्वर' नहीं कहा जासकता। '**ईश्वर**' शब्द '**आत्मन्वी**' का वाचक है, और यही '**प्रजापति**' है। प्रजापति में **आत्मा–**प्राण–पशु, ये तीन विवर्त होने चाहिएँ। **निष्कल अव्यय में त्रित्वका अभाव है। अतएव न वह 'ईश्वर' कहला सकता, न** 'प्रजापति'। **प्रजापतियों में** पहिला प्रजापति **यही षोडशीपुरुष है**। इसका पञ्चकल अव्ययभाग आत्मा है, पञ्चकल अक्षरभाग प्राण है, एवं पञ्चकल क्षरभाग पशु है। इन्हीं तीनों के समन्वय से यह "प्रजापति" मर्य्यादा से युक्त है।

१२८–विशुद्ध अव्यय की 'तत्' रूपता, एवं षोडशीप्रजापति की 'अमृत-ब्रह्म-शुक्र'-रूपता का समन्वय—

विशुद्ध अव्यय "तत्" है, एवं षोडशीपुरुष "अमृत–ब्रह्म–शुक्र" है। "तत्" ही "अमृत" (पञ्चकल–अव्ययपुरुष) बना है, "तत्" ही "ब्रह्म" (पञ्चकल अक्षरपुरुष, किंवा अपराप्रकृति) बना है, एवं "तत्" ही "शुक्र" (पञ्चकल क्षरपुरुष, किंवा अपराप्रकृति) बना है, जैसाकि—"तदेव शुक्रं, तद्ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते" इत्यादि औपनिषद सिद्धान्त से स्पष्ट है।

१२९–अर्द्धमात्रात्मक निष्कल अव्यय, अकारात्मक पञ्चकल अव्यय, उकारात्मक पञ्चकल अक्षर, मकारात्मक पञ्चकल क्षर, एवं प्रणवमूर्त्ति–षोडशी-प्रजापति–लक्षण–'ईश्वर'—

'**तत्**' तत्त्व (विशुद्ध अव्यय) अकर्त्ता एवं निर्लेप है। '**अमृत**' तत्त्व (**सकल अव्यय** विश्व का आलम्बन है, '**ब्रह्म**' तत्त्व (**अक्षर**) **विश्वकर्त्ता है**, एवं '**शुक्र**' तत्त्व (**क्षर**) **विश्व का उपादान है**। विश्वोपादनरूप शुक्र

(क्षर) मर्त्य सृष्टप्रपञ्च (विश्व) रूपा विश्वासक्ति से युक्त रहता हुआ "मकार" है । विश्वालम्बनरूप अमृत (सकलअव्यय) निर्लेप रहता हुआ "अकार" है, एवं विश्वनिमित्तकारणरूप ब्रह्म (अक्षर) मध्यस्थ बनता हुआ "उकार" है । चौथा बचता है–वही विशुद्ध अव्यय, निष्कल अव्यय । उसका भी इसमें समावेश है । इसी से इसकी सोलहवीं कला की पूर्त्ति होती है । वही तुरीय पद "अर्द्धमात्रा", किंवा "अमात्रा", किंवा 'सर्वमात्रा' है । समष्टि हीं "ओङ्कार" है । प्रणव ही इस षोडशी-ईश्वर का वाचक माना गया है–– 'तस्य वाचकः प्रणवः ' (पातञ्जलयोगसूत्र) ।

१३०–चतुष्पाद् ब्रह्म के ऊर्ध्वभावानुगत तीन पाद, एवं चतुर्थ पाद की विश्वरूपता का समन्वय, तथा अमृत-ब्रह्म-शुक्रात्मक-अणोरणीयान्-महतोमहीयान् 'पूर्णपुरुष' रूप अश्वत्थप्रजापति का माङ्गलिक-संस्मरण

यही प्रणवमूर्त्ति षोडशी विश्वात्मा विश्व का (व्यापक) एक आत्मा है । इसे ही उपनिषदोंनें "अश्वत्थ" कहा है । विशुद्ध अव्यय, सकल अव्यय, अक्षर, ये तीन पाद अतीत हैं । चौथे क्षरपाद से ही वह विश्व में (विश्वाभिमानरूप से) प्रविष्ट रहता है –– 'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोस्येहा-भवत्पुनः' । विश्व में महतोमहीयान् भी यही अश्वत्थवृक्ष है, एवं अणोरणीयान् भी यही है । इसी षोडशीपुरुष का दिगदर्शन कराती हुई श्रुति कहती है–

यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

श्वेताश्वतरोपनिषत् ३।६।

उर्ध्वम्मूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं, तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे
तदु नात्येति कश्चन
"एतद्वै तत्"

कठोपनिषत् २।६।१

१३१–पराऽव्ययमूर्त्ति, ब्रह्मक्षरमूर्त्ति, एवं परावराक्षरमूर्त्ति, अतएव सर्वमूर्त्ति—मध्यस्थ अक्षरप्रजापति की प्रणवोङ्कारता का स्वरूप-समन्वय—

ध्यान रहे, वह विशुद्ध अव्यय इस षोडशीपुरुषसे सर्वथा भिन्न तत्त्व है । वहाँ केवल माया का वेष्टन है, षोडशी में कलाभाव का विकास है, और इस कलाभाव का प्रवर्त्तक एकमात्र अक्षर स्वयं भी 'कलाचिति' से पञ्चकल बना हुआ है । एवं अव्यय-क्षर को भी इसी ने पञ्चकल बना रक्खा है । इसीलिए हम इस षोडशी

को "**सकलप्रजापति**" कहते हैं। एवं इसी रहस्य के आधार पर इस दूसरी संस्था को हम **'अक्षरसंस्था'** कहते हैं। इसीलिए "**ओमित्येकाक्षरम्**" इत्यादिरूप से ईश्वरवाचक (षोडशीवाचक) ओङ्कार को "**अक्षर**" माना गया है। मध्यस्थ अक्षर उस ओर की "**परसम्पत्ति (अव्ययसम्पत्ति)**" से युक्त होता हुआ **'पर'** (अव्यय) भी बन रहा है, इस ओर की **ब्रह्मसम्पत्ति (क्षरसम्पत्ति)** से युक्त होता "**ब्रह्म**" भी बन रहा है, एवं स्वस्वरूप से **'अक्षर'** भी बन रहा है। षोडशीपुरुष के स्वरूप--समर्पक इसी अक्षरतत्त्व की सर्वव्याप्ति का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है-----

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि॥ १॥
एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म (क्षरः), एतद्ध्येवाक्षरं परम् (अव्ययम्)।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्'॥

---कठोपनिषत् १।२।१५,१६,।

१३२—अमृत ब्रह्म-शुक्र-मूर्त्ति-अश्वत्थलक्षण षोडशीप्रजापति के त्रिवृद्भावापन्न तात्त्विक-स्वरूप का समन्वय-प्रयास—

उक्त विवेचन का निष्कर्ष यही निकला कि, परात्पर का प्रदेश मायापरिग्रह से युक्त बनकर "**अव्ययपुरुष**" कहलाया। यह ससीम होता हुआ भी निर्गुण, अतएव अकर्त्ता निर्लेप कहलाया। मन हीं इसका प्रातिस्विक रूप हुआ। आगे जाकर **कलापरिग्रह** से यही मनोमय [ज्ञानमय] अव्यय--मनः--प्राण--वाग्रूप में परिणत होकर मनःप्राणवाक् के त्रिवृद्भाव से क्रमशः त्रिसंस्थ बनता हुआ **षोडशकल** बन गया। यही **'षोडशीपप्रजापति'** कहलाया। इस षोडशी का त्रिवृन्मनोमय अव्ययभाग **ज्ञान--अमृत--मन--पुरुष--आलम्बन--अकार** आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ। त्रिवृत्प्राणमय अक्षरभाग **क्रिया-ब्रह्म-प्राण-परा-प्रकृति-निमित्त-'उकार'** इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हुआ। त्रिवृत्वाङ्मय क्षरभाग--**अर्थ--शुक्र--वाक्--अपराप्रकृति--उपादान--'मकार'** आदि नामों से व्यवहृत हुआ। एवं अधिष्ठानात्मक अखण्डधरातलात्मक विशुद्ध अव्यय **कार्य्यकारणातीत--अरूप--सर्वरूप--अप्राण--अमन--शुभ्र--ज्योतिषां ज्योतिः--अर्द्धमात्रा-अमात्रा--सर्वमात्रा--तुरीय** आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ। विशुद्ध अव्ययगर्भित आनन्द--विज्ञान-मनोमय **'मन'**, मनः-प्राण-वाङ्मय **'प्राण'**, वाक्-आपः अग्निमी **'वाक्'**, ये ही तीनों क्रमशः **अव्यय-अक्षर-क्षर-**संस्थाओं के स्वरूप समर्पक बनते हुए षोडशीप्रजापति के स्वरूप--समर्पक बने। कलापरिग्रहयुक्त सकल षोडशी-प्रजापति का यही संक्षिप्त निदर्शन है। आगे की तालिकाओं से उक्त स्वरूप सर्वात्मना गतार्थ बन जाता है।

* निष्कलोऽव्ययः-तुरीयः-तत्——(मनः) * * * * अर्द्धमात्रा
१-पञ्चकलोपेतः—-अव्ययः-अमृतम् (आनन्दः-विज्ञानम्-मनः) अकारः
२-पञ्चकलोपेतः— अक्षरः-ब्रह्म (मनः—-प्राणः—वाक्) उकारः
३-पञ्चकलोपेतः—क्षरः—शुक्रम् (वाक्—-आपः—अग्नि) मकारः

—ईश्वरप्रजापतिः (षोडशी) विश्वात्मा

——*——

स एष षोडशीप्रजापतिः—सकलः—विश्वात्मा

"स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः"

१-आनन्दः
२-विज्ञानम्
३-मनः
—१ मनः-ज्ञानम्-अमृतम्-अव्ययः

१-मनः
२-प्राणः
३-वाक्
—२ प्राणः-क्रिया-ब्रह्म-अक्षरः

१-वाक्
२-आपः
३-अग्निः
—३ वाक-अर्थः-शुक्रम्-क्षरः

तत्—मनोमयोऽव्ययः

"तस्य वाचकः प्रणवः"

***-सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्तिः -परात्परः**

१-महामायावच्छिन्नो मायी, निर्गुणः, अकलः, परमात्मायं-अव्ययः-(अमनाः)

२—षोडशी—प्रजापतिः —षोडशकलावच्छिन्नः

१-	*-अव्ययः (मनः --ज्ञानम्)		
२-	१-आनन्दः (मनः-मनोमयम्--ज्ञानम्)	—मनोमयं मनः -ज्ञानम्-१-**आनन्दः** (मनः-ज्ञानम्)	--पञ्चकलोपेतस्त्रिवृन्मनोमयः-**अव्ययपुरुषः 'मनः'** (१)
३-	२-विज्ञानम् (प्राणः-मनोमयः--क्रिया)	—मनोमयः प्राणः-क्रिया-२-**विज्ञानम्** (मनः-ज्ञानम्)	
४-	३-मनः (वाक्--मनोमयी--अर्थः) / १-मनः (मनः--वाङ्मयम्-अर्थः)	— मनोमयी वाक्-**अर्थः** -३-**मनः** (मनः-ज्ञानम्)	
५-	३-प्राणः (प्राणः--वाङ्मयः-अर्थः)		
६-	३-वाक् (वाक्--वाङ्मयी-अर्थः)		
७-	१-ब्रह्माक्षरः	—(मनः -प्राणमयम्-ज्ञानम्)—१-**मनः** (प्राणः -क्रिया)	--पञ्चकलोपेतस्त्रिवृत्प्राणमयः --**अक्षरपुरुषः "प्राणः"** (२)
८-	२-विष्णवक्षरः	-(प्राणः -प्राणमयः -क्रिया)—२-**प्राणः** (प्राणः -क्रिया)	
९-	३-इन्द्राक्षरः		
१०-	४-सोमाक्षरः	-'वाक्--प्राणमयी--अर्थः)—३-**वाक्** (प्राणः- क्रिया)	
११-	५-अग्न्यक्षरः		
१२-	१-ब्रह्मा क्षरः	—(मनः -वाङ्मयं -ज्ञानम्)—१-**वाक्** (वाक्- अर्थः)	--पञ्चकलोपेतस्त्रिवृद्वाङ्मयः -**क्षरपुरुषः "वाक्"** (३)
१३-	२-विष्णुः क्षरः	-(प्राणः -वाङ्मयः -क्रिया)—२-**आपः** (वाक्- अर्थः)	
१४-	३-इन्द्रः क्षरः		
१५-	४-सोमः क्षरः	-(वाक्-वाङ्मयी-अर्थः)—३-**अग्निः**(वाक्- अर्थः)	
१६-	५-अग्निः क्षरः		

१३३–'सत्यप्रजापति' का स्वरूप–संस्मरण, तन्निबन्धन परिग्रहों का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं अक्षरानुबन्धी गुणभाव की सगुणरूपता का स्वरूपोपबृंहण—

मूलतत्त्व के ६ विवर्त्तों में से निष्फल, किन्तु मायी 'अव्यय, एवं षोडशकल षोडशीप्रजापति, इन दो विवर्त्तों का दिगदर्शन करा दिया गया। अब क्रमप्राप्त तीसरा "सत्यप्रजापति" नामक तीसरा विवर्त्त हमारे सामने आता है। पूर्व में यह कहा गया है कि, माया–कला–गुण–विकार, इन चारों परिग्रहों का क्रमशः निष्फल अव्यय, पञ्चकल अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर से सम्बन्ध है। क्योंकि षोडशी में अव्ययानुबन्धी मायाभाव, अक्षरानुबन्धी कलाभाव, आत्मक्षरानुबन्धी गुणभाव, एवं विकारक्षरानुबन्धी विकारभाव, इन चारों का समन्वय है। अतएव इस दृष्टि से हमें दूसरे षोडशीप्रजापति को 'सकल' के साथ-साथ सगुण-एवं सविकार भी कहना चाहिए था। परन्तु जैसा कि वहीं स्पष्ट कर दिया गया है, षोडशी के अक्षरभाग से अवश्य ही गुणप्रवृत्ति, एवं आत्मक्षरभाग से अवश्य ही विकारप्रवृत्ति होती है, परन्तु स्वयं अक्षर और क्षर में गुण-विकारों का लेपरूप विकास नहीं होता। गुण का विकास होता है विकारक्षरप्रपञ्च में, एवं विकार का विकास होता है वैकारिक क्षरप्रपञ्च में। अतएव षोडशी को हम निर्विकार ही कहेंगे। हाँ, अक्षरानुबन्धिनी गुणविभूति से यह अवश्य ही युक्त रहता है। एवं इसी दृष्टि से इसे हम अवश्य ही "सगुण" कह सकते हैं। विशुद्ध अव्यय जहाँ केवल मायानुबन्ध से निर्गुण है, षोडशी का अव्यय जहाँ कलासम्बन्ध से सकल है, वहाँ स्वयं षोडशी अक्षरानुबन्धी गुणभाव से सगुण भी माना जासकता है।

१३४–पञ्चविध–विकारक्षरों का संस्मरण, तन्निबन्धन परिग्रहों का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं आत्मक्षरानुबन्धी विकारभावों की सविकाररूपता का स्वरूपोपबृंहण, और तदनुप्राणिता–सत्य–यज्ञात्मिका त्रयीविद्या––

अव्ययालम्बन पर प्रतिष्ठित अक्षर से क्षर के द्वारा सर्वप्रथम प्राण–आपः-वाक्-अन्न अन्नाद, ये पाँच विकारक्षर उत्पन्न होते हैं। विज्ञानभाषा में तो इन्हें विकार कहा जाता है, परन्तु प्राधानिक-परिभाषा के अनुसार ये ही "गुणभूत" हैं। इन पाँचों में प्राण प्रधान है। प्राण ही वेदतत्त्व (यज्जू का यद्भाग) है। वेद ही सत्य है। षोडषीब्रह्म के निःश्वासभूत इस सत्यवेद से युक्त होकर वही षोडशी "सत्यप्रजापति" बन जाता है। वेद ही साक्षात् गुणविभूति है, जैसाकि–"त्रैगुण्यविषया वेदाः" इत्यादि गीतासिद्धान्त से स्पष्ट है। वेदात्मक गुणभाव ही "तद्यत्तत् सत्यं-त्रयी सा विद्या" इस श्रुति के अनुसार सत्य है। गुणात्मक वेदसत्य से युक्त वही षोडशी सत्यप्रजापति है। "वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्म्ममे" इस मानवसिद्धान्त के अनुसार षोडशी ईश्वर वेद के द्वारा ही विश्वनिर्म्माण में समर्थ होता है। अतएव ईश्वर को वेदमूर्त्ति कहा गया है।

१३५–'यज्ञ' के द्वारा 'सत्य' का महिमात्मक वितान, एवं प्रजापति का चतुर्थ–विवर्त्त—

"यज्ञं कृत्वा सत्यं तनवामहै" इस सिद्धान्त के अनुसार इसी सत्यवेद के आधार पर आगे जाकर यज्ञवितान होता है। क्षरात्मक अग्नीषोम का समन्वय ही यज्ञ है। अग्नि की प्रतिष्ठा त्रयीवेद है, एवं सोम की प्रतिष्ठा अथर्ववेद है। "सैसा त्रयीविद्यायज्ञः" के अनुसार अथर्व–गर्भिता त्रयीविद्या का ही विततरूप ही "यज्ञ" है। विकारक्षर की पञ्चीकृतावस्था ही यज्ञ है। गुण का विकारभाव ही यज्ञ है। इस यज्ञ से युक्त वही सत्यप्रजापति यज्ञप्रजापति कहलाने लगता है, और यही उसका चौथा विवर्त्त है।

१३६–अङ्गिरामय अग्नि, एवं भृगुमय सोम के अवस्था-निबन्धन षड्विध महिमा-विवर्त्त, तदनुबन्धी षटकल 'सुब्रह्म', तदनुप्राणित कलाचतुष्टयात्मक–'ब्रह्म', एवं ब्रह्म–सुब्रह्म–समष्ट्यात्मक-दशकल–विराटप्रजापति—

अग्नि अङ्गिरा है (ऋक् सं० १।३१।१*) एवं सोम भृगु है। अङ्गिरोऽग्नि की अग्नि-यम-आदित्य, ये तीन अवस्था हैं, भृगुसोम की आपः-वायुः-सोमः, ये तीन अवस्था हैं। यही षड्ब्रह्मात्मक सुब्रह्म यज्ञ है। ऋक्–साम–यत्–जू–इन चार की समष्टि सत्यात्मक (वेदात्मक) ब्रह्म है। ब्रह्म चतुष्कल है, सुब्रह्म षट्कल है। चतुष्कल ब्रह्म सत्यप्रजापति है, एवं षट्कल सुब्रह्म यज्ञप्रजापति है। दोनों का समन्वित रूप ही दशकल 'विराट्प्रजापति' है। सत्य और यज्ञ से युक्त होकर वही सत्य 'विराट्प्रजापति' बन जाता है। विराट् में सत्य–यज्ञ दोनों का समन्वय है। यज्ञ का सत्य के साथ यजन होने से ही यज्ञसत्यमूर्ति विराट्पुरुष का प्रादुर्भाव होता है, जैसाकि–**'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'** इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। यह उसका पाँचवाँ विवर्त्त है। **अञ्जन** (यज्ञात्मा) ही इस का स्वरूप–सम्पादक बनता है। अतएव इसे हम **'साञ्जन-प्रजापति'** मान सकते हैं।

१३७–आत्मसन्तान की विश्रामभूमि सावरणभाव–निबन्धन षष्ठ–प्राजापत्य–विवर्त्त—

यही अञ्जनभाव आगे जाकर तम के आवरण से विश्व का स्वरूप–समर्पक बनता है। यहीं गुण–विकारभावों का (आवरण के समावेश से) पूर्ण विकास होता है। सम्पूर्ण भौतिक पदार्थ ही प्रकृत में **'विश्व'** शब्द से गृहीत हैं। विराड्यज्ञ ही इस चतुर्दशविध भूतसर्ग का उपादान बनता है, जैसाकि—**"सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः"** इत्यादि से स्पष्ट है। यही उसकी ६ ठी संस्था है। और यही आत्म–सन्तान की विश्रामभूमि है।

१३८–सत्य–यज्ञ–विराट्–विश्व–भावानुबन्धी प्राजापत्य–विवर्त्तों का समष्टयात्मक–संस्मरण—

सत्य-यज्ञ–विराट्-विश्व, इन चारों विवर्त्तों का जो स्वरूप बतलाया गया, वह सन्तोषावह नहीं माना जासकता। अतएव ये चारों हीं विवर्त्त कुछ विशेष स्पष्टीकरण की अपेक्षा रख रहे हैं। "आरम्भ में नेति नेति रहने वाला, आगे जाकर मायापरिग्रह से मनोमय बनने वाला, कलापरिग्रह से मनः–प्राण–वाङ्मय बनने वाला षोडशीपुरुष ही विश्व का आत्मा है, यही ईश्वरप्रजापति है" यहाँतक का स्पष्टीकरण तो सन्तोषजनक है। विश्व-मर्य्यादा से सम्बन्ध रखने वाले आगे के सत्य-ज्ञयादि चारों विवर्त्त अवश्य ही स्पष्ट-मीमांसा की आवश्यकता का अनुभव कर रहे हैं। अतः संक्षेप से वही मीमांसा पाठकों के सम्मुख उपस्थित होरही है।

*** त्वमग्ने ! प्रथमो अङ्गिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा।**
तव व्रते कवयो विद्मनापसोऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः॥

—ऋक्संहिता

१३९--महिमामय प्रजापति से अनुप्राणित अविकृत-परिणामवाद, एवं 'ब्रह्म' के नित्य--महिमाभाव का स्वरूप--समन्वय—

"षोडशीपुरुष का मनोमय (त्रिवृन्मनोमय) अव्ययरूप अमृतभाग विश्वसृष्टि का आलम्बन बनता है, प्राणमय (त्रिवृत्प्राणमय) अक्षररूप ब्रह्मभाग निमित्तकारण बनता है, एवं वाङ्मय (त्रिवृद्वाङ्मय) क्षररूप शुक्रभाग उपादानकारण बनता है" यह पूर्व में कहा जाचुका है। इस स्पष्टीकरण से यह भी स्पष्ट होजाता है कि, षोडशीपुरुष के अव्यय-अक्षरभाग (विश्व में रहते हुए भी) विश्व के उस ओर (विश्वासक्ति से बर्हिभूत) हैं, क्षरभाग मध्य में है, एवं विश्व इस ओर है। क्योंकि मध्यस्थ क्षर उपादान है, एवं उपादानकारण की सत्ता ही कार्य्य की सत्ता बनती है, इसी सत्ता-अभेद से कार्य्य कारण से नित्य युक्त रहता है, अतएव इस उपादानकारणात्मक वाङ्मय क्षर को हम विश्वमर्य्यादा में अन्तर्भूत मानते हुए विश्व-कोटि में भी मान सकते हैं। साथ ही क्षर का उपादानभाव अविकृतपरिणामवादात्मक है। क्षर से अनन्त विकार अवश्य ही उत्पन्न होते रहते हैं। परन्तु क्षर सदा अपने उसी रूप से सुरक्षित रहता है, जैसेकि विकारोत्पत्ति से पहिले। यही इस क्षरब्रह्म की अपूर्वमहिमा है, जैसाकि-'**एष नित्यो महिमा ब्रह्मणो न कर्म्मणा वर्द्धते नो कनीयान**" इत्यादि श्रौत सिद्धान्त से स्पष्ट है।

१४०--क्षर की आत्मरूपता, तथा विश्वरूपता का समन्वय, एवं तन्निबन्धन अविकृत-परिणामभाव—

आत्मा का यही स्वरूप है। वह न स्वस्वरूप से कम होता, न अधिक, अपितु सदा एकरस ही रहता है। अविकृतपरिणामभाव के कारण क्षर क्षरणशील होता हुआ भी अक्षरवत् अक्षीण '**आत्मक्षर**' कहा जाता है। अतएव यह षोडशी-विश्वात्मा का ही एक अन्तिम अवयव माना लिया गया है। इसप्रकार अविकृतपरिणाम-भाव से आत्मकोटि में प्रविष्ट होता हुआ आत्मक्षर विश्वात्मा भी बन रहा है, एवं कार्य्यकारणसत्तैक्य-सिद्धान्तानुबन्धीभाव के कारण विश्व में प्रविष्ट (आसक्त) होता हुआ विश्वमर्य्यादा से भी आक्रान्त हो-रहा है!

१४१-विश्वोद्देश्येन प्राजापत्यात्मसंस्थाओं का विचार--समन्वय, एवं त्रिपुरुषात्मक-प्रजापति की कारणतात्रयी का दिग्दर्शन—

यदि विश्व को उद्देश्य मान कर आत्मसंस्थाओं का विचार किया जायगा, तो हमें अव्यय-अक्षर क एक विभाग मानना पड़ेगा, एवं क्षर, तथा क्षरात्मक विश्व का एक विभाग मानना पड़ेगा। मनोमय अव्यय, तथ **प्राणमय अक्षर**, दोनों की समष्टि को **विश्वात्मा** कहना पड़ेगा, एवं वाङ्मय क्षर, तथा क्षरात्मक भौतिक प्रपञ्च, दोनों के समुच्चय को विश्व कहना पड़ेगा। विश्वात्मा क्योंकि क्षर से अविनाभूत है। अतएव उसे हम षोडशी कहते हुए भी संकोच नहीं करेंगे। विश्व में भी पञ्चकल क्षर प्रविष्ट है, अतः विश्व को भी पञ्चकलात्मक कहने में कोई आपत्ति नहीं करेंगे। क्षर की इसी विश्वरूपता को, अक्षर की इसी निमित्तता को, एवं अव्यय की इसी धारणात्मिका आलम्बनता को लक्ष्य में रखकर भगवान्ने कहा है--

क्षरः सर्वाणि भूतानि (क्षरः) }
कूटस्थोऽक्षर उच्यते (अक्षरः) } "षोडशी"
बिभर्त्यव्यय ईश्वरः (अव्ययः) }

१४२–विश्वात्मा के क्षरात्मक एकांश से विश्वोदय, एवं प्रजापति की सर्वव्याप्ति—

यद्यपि यह ठीक है कि, षोडशीपुरुष इस क्षरात्मक पाञ्चभौतिक विश्व का आत्मा है, यह इसका शरीर है, वह उसका आत्मा बनता हुआ विश्वात्मा है, और इसीलिए दोनों के स्वरूप में अहोरात्र का अन्तर भी है, तथापि क्षरदृष्ट्या हम उसे विश्व के साथ अभिन्न मानने के लिए सन्नद्ध हैं। उस विश्वात्मा का क्षररूप एकांश (क्षरांश) ही तो विश्व बना हुआ है-"एकांशेन जगत् सर्वम्"। यही कारण है कि, ऋषिने विश्वात्मरूप प्रजापति, और उसकी विश्वसृष्टि को अभिन्न मानते हुए यह कहा है कि--प्रजापति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं, जैसाकि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है–

प्रजापते ! न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥

—यजुःसं० ३३।६५।

१४३–विश्वानुबन्धी 'आत्मा', एवं आत्मप्रतिष्ठ-'विश्व', तथा तन्निबन्धन त्रिवृद्भाव का संस्मरण—

यह सब कुछ ठीक ठीक मानते हुए भी, दूसरे शब्दों में षोडशी को विश्वात्मा मानने हुए भी, विश्व को क्षरप्रधान मानते हुए भी विश्वदृष्ट्या हम अव्ययाक्षर को ही आत्मा कहेंगे, एवं क्षरयुक्त भौतिक प्रपञ्च को ही 'विश्व' कहेंगे। अब एक सर्वथा स्वतन्त्र दृष्टि से विचार कीजिए। अव्यय को हमने मनोमूर्ति, अक्षर को प्राणमूर्ति, क्षर को वाङ्मूर्ति कहा है। एवं तीनों के त्रिवृद्भाव से क्रमशः त्रिसंस्थ षोडशीप्रजापति का स्वरूप-निर्म्माण बतलाया है। इन में अव्यय को अमृत, अक्षर को ब्रह्म, एवं क्षर को शुक्र कहा गया है। तीनों की समष्टि को सकल षोडशी प्रजापति कहा गया है। अब इस क्रम को थोड़ी देर के लिए सर्वथा विस्मृत कर एक नवीन क्रम पर दृष्टि डालिए।

१४४–निर्गुण-षोडशी-सगुण-सविकार-भावानुगत सत्य, यज्ञ का स्वरूप-समन्वय, एवं सर्वज्ञाव्यय, सर्वशक्ति अक्षर, सर्ववित् क्षर का स्वरूप-दिग्दर्शन—

केवल अव्यय मायोपाधिक निर्गुण अव्यय है, केवल अक्षर सकल षोडशी है, एवं केवल क्षर **सगुण सविकार** सत्य-यज्ञ प्रजापति है। विकारक्षर विराटप्रजापति है, एवं वैकारिक भूतप्रपञ्च विश्व है। केवल अव्यय से तात्पर्य्य है—आनन्द-विज्ञान-मनोमूर्त्ति अव्यय, जिसे कि पूर्वदृष्टि में हमने पञ्चकल अव्यय कहा था। पूर्वदृष्टि में निर्गुण अव्यय केवल मनोमय था, किन्तु इस दृष्टि का निर्गुण अव्यय आनन्द-विज्ञान-मनोमय है। केवल अक्षर का तात्पर्य्य है--मनः-प्राण-वाङ्मय अक्षर। मनोमय अक्षर अव्यय है, प्राणमय अक्षर अक्षर है, एवं वाङ्मय अक्षर क्षर है। निर्गुण आनन्द-विज्ञान-मनोमय अव्यय सोलहवाँ है। इस प्रकार निर्गुणाव्ययगर्भित मनोऽवच्छेदेन वही अक्षर पञ्चकल अव्यय बनता हुआ (सर्वज्ञात्मक बन कर) विश्व

का आलम्बन बना हुआ है, प्राणावच्छेदेन वही अक्षर पञ्चकल अक्षर बनता हुआ (सर्वशक्तिमान् बनकर) विश्व का निमित्तकारण है, एवं वागवच्छेदेन वही अक्षर पञ्चकल क्षर बनता हुआ (सर्ववित्–सर्वार्थमय बनकर) विश्व का उपादान बन रहा है।

१४५–माया–कला–आदि परिग्रहों का सृष्ट्यनुबन्धी तारतम्य–समन्वय, विभिन्न दृष्टियों से सपरिग्रह–प्रजापति के विविध–विवर्त, एवं तालिका–माध्यम से विवर्त–भावों का स्वरूप–समन्वय—

सम्भवतः पाठक यह न भूले होंगे कि, पूर्वदृष्टि में हमने अक्षर को ही कलाप्रवर्त्तक बतलाया था। जब चेतनरूप अक्षर ही चिदव्यय को, एवं अचित् क्षर को ५–५ कलाओं में विभक्त कर स्वयं भी पाँच कलाओं मे परिणत होजाता है, तो हम कह सकते हैं कि, षोडशकल विश्वात्मा का विश्वात्मत्व केवल अक्षर ही है। स्वयं अव्यय पुरुष यह स्वीकार करते हैं कि––यद्यपि मैं अपने प्रातिस्विक अव्ययरूप से "अज" (अजन्मा) हूँ। फिर भी अक्षर के द्वारा मुझे विश्वसम्भूति में आकर विश्वात्मा बनना पड़ता है, जैसाकि "**अजोऽपि सन्**" * इत्यादि से स्पष्ट है। अक्षर उसे अपने रँग में रञ्जित कर विश्वात्मा बना डालता है। ऐसी दशा में विश्वात्मा के अव्यय–अक्षर-क्षर-इन तीनों विवर्त्तों को हम अक्षरमय मानते हुए षोडशी-प्रजापति को "**अक्षरप्रजापति**" ही कह सकते हैं। इसप्रकार पूर्वदृष्टि का षोडशीगर्भित अव्यय तो इस दृष्टि में निर्गुण अव्यय बन जाता है, एवं केवल षोडशी का **अक्षर**भाग अपने त्रिवृत्प्राणात्मक मनः–प्राण–वाक् से षोडशीपुरुष बन जाता है। यही दूसरी अक्षरसंस्था है। वहाँ षोडशी में हीं अव्यय–अक्षर–क्षर–ये तीन संस्थाएँ थीं, यहाँ केवल अक्षर में हीं मनोधिया अव्ययसंस्था, प्राणधिया अक्षरसंस्था, एवं वाग्धिया क्षरसंस्था का भोग होरहा है। यही इस एकाक्षर ओङ्कार–प्रजापति की सर्वज्ञता (अव्ययवत्ता), सर्वशक्तिमत्ता (अक्षरवत्ता), एवं सर्ववित्ता (क्षरवत्ता) है। "**यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः**" ÷ वाला ब्रह्म यही अक्षरब्रह्म है, जो कि मध्यस्थ होने से उस ओर के मनोमय अव्यय को लेकर अव्ययमूर्त्ति, इस ओर के वाङ्मय क्षर को लेकर क्षरमूर्त्ति, एवं स्वात्मसंस्थ प्राण के सम्बन्ध से अक्षरमूर्त्ति, अतएव षोडशकल बनता हुआ सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान्-सर्ववित् बन कर विश्व का आलम्बन-निमित्त, एवं उपादान बन रहा है। यदि इसी दृष्टि से प्राधानिक शास्त्र विशुद्ध पुरुष (अव्यय) को निर्लेप, एवं अव्यक्त प्रकृति (अक्षर) को ही विश्वजननी मानता है, तो सांख्यसिद्धान्त में क्या विप्रतिपत्ति है ?–"**नृणामेको गम्यः**"। पूर्वदृष्टि से सम्बन्ध

***–अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।**
प्रकृतिं स्वां (अक्षर) अधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
----गीता ४।६।

÷ यः सर्वज्ञः सर्ववित्, यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतत्–ब्रह्म, नामरूप–मन्नञ्च जायते॥
––मुण्डकोपनिषत् १।१।६।

रखने वालीं तालिकाओं को लक्ष्य में रखते हुए निम्न लिखित तालिकाओं पर दृष्टि डालिए, दोनों का निर्विरोधात्मक पार्थक्य भलीभाँति गतार्थ होजायगा।

१–आनन्दः (मनोमयः)
२–विज्ञानम् (मनोमयम्) } मनः—ज्ञानम्— मायोपाधिको निर्गुणः—"अव्ययः"
३–मनः (मनोमयम्)

—— * ——

१–(१) निर्गुण अव्ययः—मायोपाधिकः (मनः)
२–(५) आनन्द विज्ञान मनः प्राण वाङ्मयः पञ्चकलोऽव्ययोऽक्षरात्मकः—प्राणमयं—मनः
३–(५) ब्रह्मेन्द्रविष्णवग्निसोममयः पञ्चकलोऽक्षरोऽक्षरात्मकः—प्राणमयः—प्राणः
४–(५) ब्रह्मेन्द्रविष्णवग्निसोममयः पञ्चकलः क्षरोऽक्षरात्मकः—प्राणमयी—वाक्
} अक्षरः (षोडशी)

—— * ——

(१) १–आनन्द—विज्ञान—मनोमूर्त्तिर्मनोमयः—निर्गुण अव्ययः (एकलः)—मायी
(५) २–प्राणमूर्त्तिरक्षरो मनोमयः—पञ्चकलावच्छिन्नोऽव्ययात्मकः—अक्षरः (अव्ययमूर्त्तिः)
(५) ३–प्राणमूर्त्तिरक्षरः प्राणमयः—पञ्चकलावच्छिन्नोऽक्षरात्मकः—अक्षरः (अक्षरमूर्त्तिः)
(५) ४–प्राणमूर्त्तिरक्षरो वाङ्मयः—पञ्चकलावच्छिन्नः क्षरात्मकः—अक्षरः (क्षरमूर्त्तिः)

स एष षोडशीप्रजापतिः सकलः

—— * ——

१४६-तालिका-प्रदर्शित विवर्त्तभावों का यथापूर्व समन्वय-प्रयास—

पूर्व-तालिकाओं से यह सिद्ध होजाता है कि, षोडशीप्रजापति के अव्ययभागने (पञ्चकल-अथवा त्रिकल अव्ययभागने) यहाँ आकर निर्गुण-मायिक अव्यय का आसन ग्रहण करलिया, एवं षोडशी के त्रिवृत्-प्राणमूर्त्ति, अतएव मनः-प्राण-वाङ्मूर्त्ति अक्षरने षोडशी का आसन ग्रहण करलिया। अब बच गया षोडशी का त्रिवृद्वाङ्मय आत्मक्षरभाग। यही क्षरभाग अपने विकारभाव को लेकर आगे जाकर सत्य, एवं यज्ञरूप में परिणत होता है।

१४७-पञ्चविध 'गुणभूतों' का स्वरूप-विस्तार, एवं तदाधारेण वाक्-आपः-अग्नि-रूपा शुक्रत्रयी की अभिव्यक्ति—

क्षरतत्त्व वाङ्मय है, यह कहा जाचुका है। यही वाक्तत्त्व अक्षर की पाँच कलाओं के समन्वय से तद्रूप में (पञ्चकलरूप में) परिणत होता हुआ क्रमशः **प्राण-आपः-वाक् अन्न,-अन्नाद,** इन पाँच 'गुणभूतों' का जनक बनता है। **वाङ्मय मर्त्य क्षरब्रह्म से प्राण का, वाङ्मय मर्त्य क्षरविष्णुसे आपः का, वाङ्मय मर्त्य क्षरइन्द्र से वाक् का, वाङ्मय मर्त्य क्षर सोम से अन्न का, एवं वाङ्मय मर्त्य क्षर अग्नि से अन्नाद का विकास होता है।** ये पाँचों हीं 'विकारक्षर' वाङ्मय क्षर में अन्तर्भूत होते हुए क्षरात्मक ही कहलाते हैं। जिसप्रकार अव्यय का मन त्रिवृत् है, अक्षर का प्राण त्रिवृत् है, एवमेव यह क्षरात्मिका वाक् भी त्रिवृता ही मानी गई है। वाङ्मय मन, वाङ्मय प्राण, वाङ्मयी वाक्, ये तीनों क्रमशः **वाक्-आपः- अग्निः** इन नामों से प्रसिद्ध हैं।

१४८-शुक्रत्रयी का पञ्चविध क्षरों के साथ सम्बन्ध-समन्वय—

वाक्-तत्त्व वाङ्मय मन है, इस का क्षरमूर्त्ति ब्रह्मयुक्त प्राण-विकार के साथ सम्बन्ध है। आपः तत्त्व वाङ्मय प्राण है, इस का क्षरमूर्त्ति-विष्णु-इन्द्रयुक्त आपः-वाक् के साथ सम्बन्ध है। अग्नि-तत्त्व वाङ्मयी वाक् है (वागेवोपनिषत्), एवं इस का क्षरमूर्त्ति सोमाग्नियुक्त अन्न-अन्नाद के साथ सम्बन्ध है। इसप्रकार तीनों का पाँचों क्षरों में उपयोग होरहा है, जैसाकि निम्न लिखित तालिका से स्पष्ट है—

१--प्राणः (ब्राह्मः)	—वाङ्मयं मनः (वागूगर्भिता—"वाक्"	—"क्षरः"
२--आपः (वैष्णव्यः) २--वाक् (ऐन्द्री)	—वाङ्मयः प्राणः (वागूगर्भिताः--"आपः"	
३--अन्नम् (सौम्यम्) ४--अन्नादः(आग्नेयः)	—वाङ्मयी वाक् (वागूगर्भितः-"**अग्निः**"	

१४९–मनः–प्राण–वाक् के त्रिवृद्भाव का मौलिक रहस्य, एवं त्रिवृद्भाव के विविध प्रक्रम–अभिक्रम—

मन–प्राण–वाक् का त्रिवृद्भाव भी बड़ा ही रहस्यपूर्ण है। इस रहस्य-परिज्ञान के आधार पर ही आत्मा के ६ विवर्त्तों का परिज्ञान अवलम्बित है। **ज्ञानघन मन, क्रियाघन प्राण, अर्थघना वाक्**, तीनों हीं स्वतन्त्र तन्त्र हैं, एवं तीनों हीं क्रमशः विश्वानुबन्धी **ज्ञान-क्रिया-अर्थ**–भावों के अधिष्ठाता हैं। हम देखते हैं कि—कोई ज्ञान ऐसा नहीं है, जिस के गर्भ में क्रिया, एवं अर्थ (विषय) प्रतिष्ठित न हो। कोई ऐसी क्रिया नहीं है, जिसका ज्ञान, एवं अर्थ के बिना सञ्चालन होता हो। एवमेव ऐसा कोई अर्थ भी नहीं है, जिस में परिवर्त्तनरूपा क्रिया न हो। जब क्रिया है, तो अवश्य ही उस अर्थ में ज्ञान की भी सत्ता का अनुमान विज्ञानसिद्ध है। क्योंकि बिना कामना के क्रिया का सञ्चालन सम्भव नहीं, एवं बिना ज्ञान के कामनोत्थान सम्भव नहीं। इसप्रकार ज्ञान–क्रिया–अर्थ, विश्वके इन तीनों तन्त्रों में (प्रत्येकमें) हम क्रमशः क्रिया-अर्थ, ज्ञान–अर्थ, क्रिया-ज्ञान का समन्वय पाते हैं। यह तभी सम्भव है, जबकि इनके कारणरूप आत्मा के ज्ञानघन मन, क्रियाघन प्राण, अर्थघना वाक् तीनों में (प्रत्येक में) क्रमशः–प्राण–वाक्, मनो–वाक्, प्राण-मन का समन्वय मान लिया जाय। मनः–प्राण–वाक् के त्रिवृद्भाव का यही मौलिक रहस्य है।

१५०–त्रिवृद्भावानुबन्धी विस्तार से अनुप्राणिता प्राजापत्यसंस्थाओं के १–३–९-संख्यानुगत विस्तार—

हाँ, इस सम्बन्ध में यह विवेक अवश्य कहलेना चाहिए कि, ज्ञानघन मनका **'मन'** क्योंकि ज्ञानप्रधान है, अतएव तदन्तर्गर्भित प्राण–और वाक् भी ज्ञानमय ही होंगे। अर्थात् ज्ञानानुबन्धी, किंवा मनोऽनुबन्धी मनः प्राण–वाक्, तीनों मनोमय बनते हुए ज्ञानमय ही रहेंगे। मनोमय ईश्वरीय कर्म ही उसका तप है, एवं मन की प्रधानता से ही उसका यह तप **"ज्ञानमय"** कहलाता है—**"यस्य ज्ञानमयं तपः"**। क्रियाघन प्राण क्योंकि क्रियाप्रधान है, अतएव तदन्तर्गर्भित मन, और वाक् भी क्रियाप्रधान ही रहेंगे। अर्थात् क्रिया–नुबन्धी, किंवा प्राणानुबन्धी मनः–प्राण–वाक्, तीनों प्राणमय बनते हुए क्रियामय ही रहेंगे। एवमेव अर्थघना वाक् क्योंकि अर्थप्रधाना है, अतएव तदन्तर्गर्भित मन, और प्राण भी अर्थप्रधान ही रहेंगे। अर्थात् अर्थानु–बन्धी, किंवा वागनुबन्धी मनः–प्राण–वाक्, तीनों वाङ्मय बनते हुए अर्थमय ही रहेंगे। यह तो हुआ स्थूलविभाग। यदि अवान्तर विभागों का विचार किया जाता है, तो सामान्यरूपेण दृष्टा १–३–९ वाली यह अनन्त की विभूति अनन्त पर ही विश्राम करती है।

१५१–त्रिवृद्भावनिबन्धन अव्यय, अक्षर, क्षर–पुरुषों के तात्त्विक महिमाभाव—

उक्त त्रिवृद्भाव का प्रकृत आत्मविवर्त्तों के साथ समन्वय कीजिए। **अव्यय मनोमय है, अक्षर प्राणमय है, एवं क्षर वाङ्मय है।** इसका यह भी तात्पर्य्य निकला कि, तीनों क्रमशः–**ज्ञान–क्रिया–अर्थमय** हैं। क्योंकि तीनों हीं त्रिवृत् हैं, अतएव आगे जाकर यह निष्कर्ष निकला कि, तीनों हीं (प्रत्येक) मनः–प्राण–वाङ्मय बनते हुए त्रिकल हैं। साथ ही पूर्वरहस्यानुसार यह भी सिद्ध होगया कि, **अव्यय के**

तीनों भाव ज्ञानप्रधान हैं, मनःप्रधान हैं। अक्षर के तीनों भाव क्रियाप्रधान हैं, प्राणप्रधान हैं। एवं क्षर के तीनों भाव अर्थप्रधान हैं, वाक्प्रधान हैं। इसी से यह भी मान लेना पड़ा कि, ज्ञानप्रधान अव्ययतन्त्र के गर्भमें रहने वाले तीनों अव्ययरूप हैं। क्रियाप्रधान अक्षरतन्त्र के गर्भ में रहनेवाले तीनों अक्षररूप हैं। एवं अर्थप्रधान क्षरतन्त्र के गर्भमें रहने वाले तीनों क्षररूप हैं।

१५२–अव्यय की अक्षररूपता, एवं अक्षर की क्षररूपता का समन्वय—

साथ ही यह भी स्मरण रखिए कि, आरम्भमें केवल मनोमय रहने वाला अव्यय ही त्रिवृत्–प्राणात्मक अक्षररूप में परिणत हुआ। एवं त्रिवृत्–अक्षर का वाग्भाग ही त्रिवृत्–क्षररूप में परिणत होगया। अब यह भी देख लीजिए कि, वे त्रिवृद्रूप किन किन नामों से व्यवहृत हुए।

१५३–मायापरिग्रहात्मक त्रिवृद्भावापन्न मनोमय अव्ययात्मा, एवं तन्निबन्धना 'अव्ययसंस्था'—

मनोमय अव्यय का मनोमय मन **आनन्द**[1] कहलाया, मनोमय प्राण **विज्ञान**[2] कहलाया, एवं मनोमयी वाक् **"मन[3]"** कहलाया। **यही पहिली निर्गुण–अव्ययात्म–संस्था कहलाई**। परिग्रहों में यहाँ केवल सर्वादिभूत **'मायापरिग्रह'** का विकास हुआ।

१५४–त्रिवृद्भावापन्न प्राणमय अक्षरात्मा—

मनोमयी वाक्, जिसे कि अब अव्ययमन कहा जायगा, आगे जाकर अक्षरविवर्त्त के विकास का कारण बनी। मन हीं प्राणात्मक क्रियाभाव में परिणत होता हुआ अक्षर का अनुग्राहक बना। इसी से अक्षर प्राणमय कहलाया। प्राणमय अक्षर का प्राणमय मन **मन[1] कहलाया**, प्राणमय अक्षर का प्राणमय प्राण **प्राण[2]** कहलाया, एवं प्राणमय अक्षर की प्राणमयी वाक् **'वाक्[3]'** कहलाई। इसप्रकार केवल त्रिवृत्–प्राणमूर्त्ति अक्षर मनः–प्राण–वाक्–इन तीन रूपों में परिणत होगया।

१५५–कलापरिग्रहात्मिका–'अक्षरसंस्था'—

यही प्राणात्मक अक्षरमन, किंवा मनोमय अक्षर पञ्चकल अव्यय बना, यही प्राणात्मक अक्षरप्राण, किंवा प्राणमय अक्षर पञ्चकल अक्षर बना, एवं यही प्राणात्मिका अक्षरवाक्, किंवा वाङ्मय अक्षर पञ्चकल क्षर बना। त्रिवृत्–प्राणमूर्त्ति अक्षर की इन्हीं १५ कलाओंनें उस मनोमय निर्गुण–अव्यय को मूलाधार बनाते हुए षोडशीप्रजापति नाम धारण किया। **यही दूसरी सकल–अक्षरसंस्था कहलाई**। परिग्रहों में यहाँ **'कलापरिग्रह'** की प्रधानता रहती। कलाविकास से ही अक्षर **'षोडशी'** बन गया।

१५६–त्रिवृद्भावापन्न वाङ्मय क्षरात्मा—

अक्षर के तीनों विवर्त्तों में से तीसरा वाग् विवर्त्त हमारे सामने आया। प्राणमयी यह वाक्, जिसे कि अब हम 'अक्षरप्राण' कहेंगे, आगे जाकर क्षरविवर्त्त के विकास का कारण बनी। इसी के सम्बन्ध से क्षर–

वाङ्मय प्राण वागात्मक अर्थभाव में परिणत होता हुआ क्षरका अनुग्राहक बना। इसी से क्षर वाङ्मय कहलाया। वाङ्मय क्षर का वाङ्मय मन **वाक्**[1] कहलाया, वाङ्मय क्षर का वाङ्मय प्राण **आपः**[2] कहलाया, एवं वाङ्मय क्षर का वाक् भाग **अग्नि**[3] कहलाया। इसप्रकार केवल त्रिवृद्वाङ्मूर्ति क्षर **वाक्**-तत्त्व **वाक्-आपः-अग्निः**--इन तीन रूपोंमें परिणत होगया।

१५७–प्रकृतिभावनिबन्धन-परिग्रहों के विविध-समन्वय, एवं त्रिपुरुषपुरुषानुबन्धी तीन विवर्त्तों का आविर्भाव—

यही वागात्मक वाङ्मय (मनोमय) क्षर प्राण से [क्षरप्रकृतिवाली पहिली प्राण कला से] सहयोग कर वेदत्रयीरूप में परिणत हुआ, जैसाकि-"**अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा**"-"**वाग्विवृताश्च वेदाः**" इत्यादि से स्पष्ट है। वाक् का यही गुणात्मक रूप "**सत्य**" कहलाया, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। आगे जाकर यही वागात्मक आपोमय (प्राणमय) क्षर आपः से [क्षरप्रकृति वाली दूसरी आपः कला से] सहयोग कर आहुतिद्रव्य (सोम) बना, एवं यही वागात्मक अग्निमय (वाङ्मय) क्षर वाक् से (क्षरप्रकृतिवाली तीसरी वाक्कला से) सहयोग प्राप्त कर आहुतिग्राहक (अग्नि) रूप में परिणत हुआ। इन दोनों के समन्वय से यज्ञतत्त्व का विकास हुआ। इसप्रकार क्षर के **वाक्-आपः--अग्निः (मनः--प्राण--प्राक्)** इन तीनों से क्रमशः **प्राणः-आपः-वाक्** इन तीनों के क्रमिक सहयोग से क्रमशः '**वाङ्मयवेदाः-सत्यम्**'-"**आपोमयं--(सोममयं) आहुतिद्रव्यम्**"--'**अग्निमयः--आहुतिग्राहकः-(वेद--सोम--अग्नि)** नामक तीन विवर्त्तभाव अभिव्यक्त हुए।

१५८–विवर्त्तत्रयी की समष्टिरूप सत्येवद, एवं त्रिवृद्भावापन्ना 'क्षरात्मसंस्था' का स्वरूप समन्वय--

उक्त तीनों की समष्टिरूप '**सत्यवेद**' का स्वतन्त्र विभाग रहा, यही परिग्रहों में से '**गुणपरिग्रह**' की अधिष्ठानभूमि बना। इसी के आधार पर [सत्यवेद के आधार पर] आयोमय दाह्य सोम, एवं दाहक अग्नि, इन दोनों का समन्वय हुआ। इन्हीं दोनों का समन्वितरूप '**यज्ञ**' कहलाया। यहीं आकर परिग्रहों में से '**विकार**' नाम के चौथे परिग्रह का विकास हुआ। इसप्रकार क्षरतत्त्व ही **वाक्–आपः --अग्निः** के तारतम्य से **गुण--विकार** परिग्रहों से युक्त होता हुआ पहिले **सत्य--प्रजापति** बना, यही **सगुणप्रजापति** कहलाया, एवं पीछे यज्ञ से युक्त होकर सत्यविकार परिग्रह के अनुग्रह से '**यज्ञ--प्रजापति**' बन गया, यही **सविकारप्रजापति** कहलाया। इन दोनों संस्थाओं का मूलाधार केवल '**क्षरतत्त्व**' [**वाङ्मय क्षरतत्त्व**] ही बना, अतएव इन दोनों प्रजापति–संस्थाओं को हम '**क्षरसंस्था**' नाम की एक ही संस्था कहेंगे।

१५९–अमृत--ब्रह्म--शुक्र--भावों का दृष्टिकोणभेदनिबन्धन विभिन्न समन्वय—

पाठकों को स्मरण होगा कि, पूर्वदृष्टि में हमने षोडशी के त्रिकल, किंवा पञ्चकल अव्यय को '**अमृत**' कहा था, अक्षर को '**ब्रह्म**' कहा था, एवं क्षर को '**शुक्र**' कहा था। परन्तु आज वह क्रम भी बदल गया है। अब **निर्गुण त्रिकल अव्यय अमृत कहलाएगा**, सकल [षोडशकल] **अक्षर ब्रह्म कहलाएगा**,

एवं पञ्चकल, किंवा त्रिकल क्षर शुक्र कहलाएगा। वहाँ के अमृत में पञ्चकल अव्यय था, यहाँ के अमृत में त्रिकल, किंवा निष्कल अव्यय है। वहाँ के ब्रह्म में पञ्चकल अक्षर था, यहाँ के ब्रह्म में पञ्चकल अमृताव्यय–पञ्चकल ब्रह्माक्षर–पञ्चकल शुक्रक्षर, इन तीनों का समन्वय है। वहाँ के तीनों यहाँ केवल ब्रह्म बन रहे हैं। वहाँ के शुक्र में पञ्चकल षोडशी वाला सकल क्षर था, एवं यहाँ के शुक्र में गुण-विकार-युक्त त्रिकल क्षर है।

१६०–ज्ञान-क्रिया-अर्थ-प्रधाना क्रमसिद्धा पुरुषसंस्थात्रयी, एवं विभिन्न-तालिकाओं के माध्यम से तत्स्वरूप-समन्वय---

इसप्रकार केवल त्रिवृद्भाव की कृपा से वह एक ही तत्त्व माया-कला-गुण-विकार, इन चार परिग्रहों के क्रमिक सम्बन्ध से निर्गुण-षोडशी-सत्य-यज्ञ, इन चार स्वरूपों में परिणत होजाता है। चारों में निर्गुण मनोमय अव्यय है, षोडशी प्राणमय अक्षर है, सत्य-यज्ञ की समष्टि वाङ्मय क्षर है। इसप्रकार सत्ययज्ञ के समन्वय से चार के तीन ही वर्ग शेष रह जाते हैं। अव्ययात्मसंस्था ज्ञानप्रधाना है, अक्षरात्मसंस्था क्रियाप्रधाना है, एवं क्षरात्मसंस्था अर्थप्रधाना है। अव्यय आत्मा है, अक्षर षोडशी आत्मन्वी है, एवं क्षर सत्य-यज्ञात्मक आत्मन्वी है। विषय थोडा दुरूह है, अतः आगे की तालिकाओं से इस दुरूहता का यथावत् यथाक्रम व्यवच्छेद कर लेना चाहिए।

***–'मनः' –'ज्ञानम्' –'तत्रैव सर्वं परिसमाप्यते'**

('सर्वं कर्म्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते')

१-(*'मनः' –) मनः–प्राण–वाचां त्रिवृद्भावः

१–मनः
- १--मनः (आनन्दः --मनः) [१]
- २--प्राणः (विज्ञानम्--मनः) [२]
- ३–वाक् (मनः --मनः) [३]

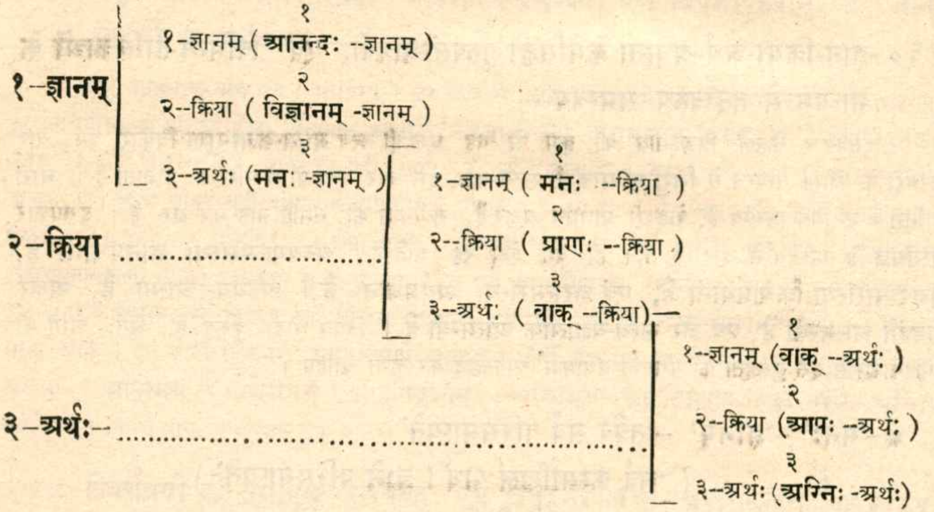
२–प्राणः ....
- १--मनः (मनः –प्राणः) [१]
- २–प्राणः (प्राणः -प्राणः) [२]
- ३--वाक् (वाक्--प्राणः) [३]

३–वाक् .. ..
- १-मनः (वाक् -वाक्) [१]
- २-प्राणः (आपः वाक्) [२]
- ३-वाक् (अग्निः वाक्) [३]

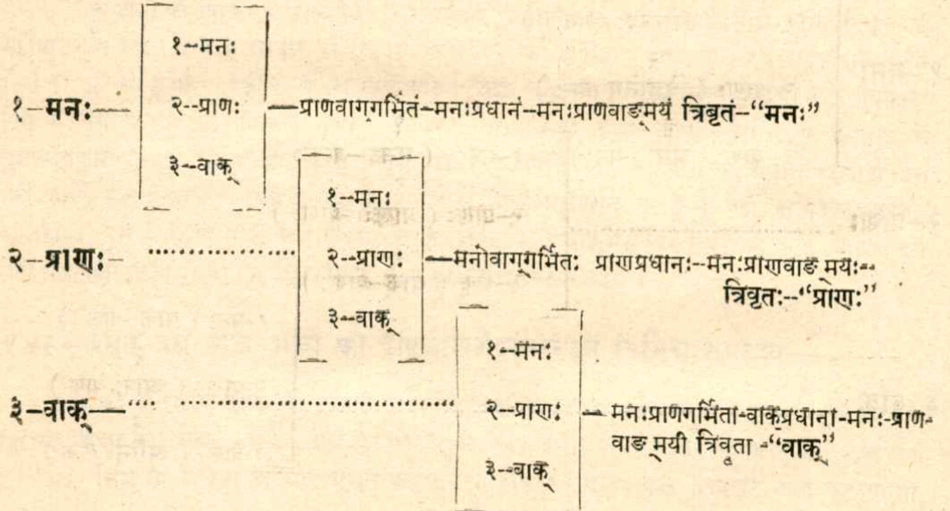
*–'ज्ञानम्'–'मनः'–'ज्ञानम्'–'पवित्रतममिदम्'

('न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते')

२–(*ज्ञानम्) ज्ञान-क्रियार्थभावनां त्रिवृद्भावः

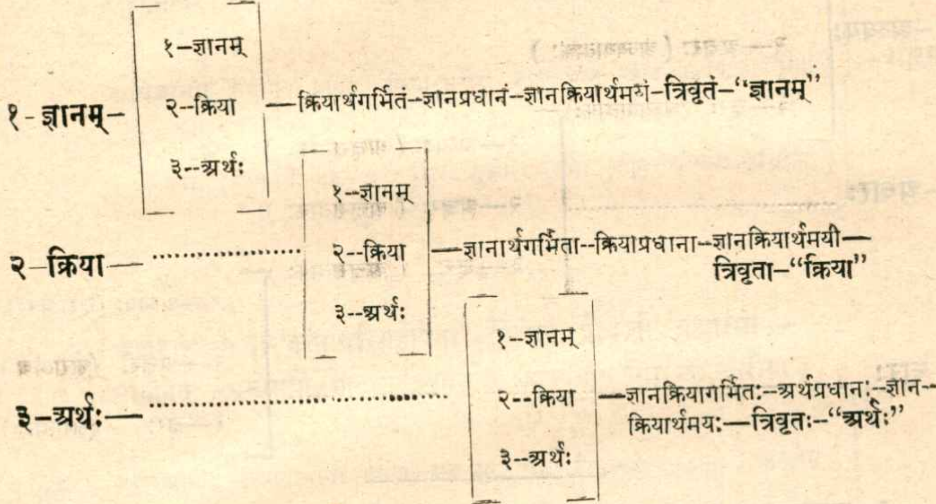


१—प्रकारान्तरेण—



—:*:—

२—प्रकारान्तरेण—



—:*:—

१
१—मनोमयः--अव्ययः---अमृतम्
२—प्राणमयः---अक्षरः---ब्रह्म
३—वाङ्मयः---क्षरः--शुक्रम्
--"तदिदं-सर्वम्"

२
१—ज्ञानमयः---अव्ययः---अमृतम्
२—क्रियामयः---अक्षरः---ब्रह्म
३—अर्थमयः---क्षरः---शुक्रम्
--"तदिदं-सर्वम्"

१-अव्ययाक्षरक्षराणां--मनःप्राणवाङ्मयानां त्रिवृद्भावः—

१-अव्ययः
- १—अव्ययः (अव्ययात्मकः)
- २—अक्षरः (अव्ययात्मकः)
- ३—क्षरः (अव्ययात्मकः)

२-अक्षरः ......
- १—अव्ययः (अक्षरात्मकः)
- २—अक्षरः (अक्षरात्मकः)
- ३—क्षरः (अक्षरात्मकः)

३-क्षरः ......
- १—अव्ययः (क्षरात्मकः)
- २—अक्षरः (क्षरात्मकः)
- ३—क्षरः (क्षरात्मनः)

—————*—————

२--अमृत-ब्रह्म--शुक्राणां--अव्ययाक्षरक्षरमयानां त्रिवृद्भावः—

१--अमृतम्
- १—अमृतम् (अव्ययात्मकम्)
- २—ब्रह्म (अव्ययात्मकम्)
- ३–शुक्रम् (अव्ययात्मकम्)

२-ब्रह्म ......
- १—अमृतम् (अक्षरात्मकम्)
- २—ब्रह्म (अक्षरात्मकम्)
- ३—शुक्रम् (अक्षरात्मकम्)

३-शुक्रम् ......
- १—अमृतम् (क्षरात्मकम्)
- २—ब्रह्म (क्षरात्मकम्)
- ३—शुक्रम् (क्षरात्मकम्)

—————*—————

१-निर्गुणाव्ययात्मसंस्था-'मायापरिग्रहोपेता'—'अव्ययः' अमृतात्मा—

१*
१-आनन्दः[1] [मनोमयं-मनः -ज्ञानम्-अव्ययः अमृतम्]-[मनः -ज्ञानं-अव्ययः अमृतम्]
२-विज्ञानम्[2] [मनोमयः प्राणः -क्रिया-अक्षरः ब्रह्म]-[मनः -ज्ञानं-अव्ययः -अमृतम्] }—आत्मा
३—मनः[3] [मनोमयी-वाक्-अर्थः -क्षरः शुक्रम्]-[मनः -ज्ञानं-अव्ययः -अमृतम्]

——*——

२-अक्षरात्मसंस्था-'कलापरिग्रहोपेता'-'अक्षरः षोडशी' ब्रह्मात्मा—

१ षोडशीप्रजापतिः
१*मायोपेतः -मनोमयो-ज्ञानमयोऽमृतमयः -अव्ययः (निर्गुणः,-तुरीयः)
२—आनन्द-विज्ञान-मनः-प्राण-वाङ्मयः पञ्चकलोऽव्ययः —मनः[1] [अमृतम्]
३—ब्रह्मे—न्द्र—विष्णव—ग्नि-सोममयः पञ्चकलोऽक्षरः —प्राणः[2] [ब्रह्म] }—ब्रह्म
४—ब्रह्मे—न्द्र—विष्णव—ग्नि-सोममयः पञ्चकलः क्षरः —वाक्[3] [शुक्रम्]

——◇——

(२) १-प्रकारान्तरेण—(अक्षरात्मसंस्था-'षोडशीप्रजापतिः-ब्रह्मात्मा'-अक्षरात्मकः)

(२) षोडशी-प्रजापतिः
१*मनोमयोऽव्ययः [तत्]
१—मनः [प्राणमयः -मनः -ज्ञानं-अव्ययः -अमृतं]-[प्राणः -क्रिया-अक्षरः -ब्रह्म]
२—प्राणः [प्राणमयः -प्राणः क्रिया-अक्षरः -ब्रह्म]-[प्राणः -क्रिया-अक्षरः -ब्रह्म] }—ब्रह्म
३—वाक् [प्राणमयी-वाक्-अर्थः -क्षरः -शुक्रं]-[प्राणः -क्रिया-अक्षरः -ब्रह्म]

——*——

(३)–प्रकारान्तरेण-(अक्षरात्मसंस्था-षोडशीप्रजापतिः-ब्रह्मात्मा अक्षरात्मकः)।

(१) १❀ मनोमयोऽव्ययः (तत्)

त्रिवृन्मनः-अक्षरात्मकोऽव्ययः

[२] १--आनन्दः }--[मनोमयं मनः]--ज्ञानं--अव्ययः--अमृतं [मनः--ज्ञानं--अव्ययः--अमृतम्]
[३] २--विज्ञानम् }--[मनोमयः प्राणः]--क्रिया--अक्षरः--ब्रह्म [मनः--ज्ञानं--अव्ययः--अमृतम्]
[४] ३--मनः
[५] ४--प्राणः }—[मनोमयी वाक्]--अर्थः--क्षरः--शुक्रम् [मनः--ज्ञानं--अव्ययः--अमृतम्]
[६] ५--वाक्

अमृतम्

——❀——

त्रिवृत्प्राणः-अक्षरात्मकोऽक्षरः

[७] १--ब्रह्मा]—[प्राणमयं मनः]--ज्ञानं--अव्ययः--अमृतं [प्राणः--क्रिया--अक्षरः--ब्रह्म]
[८] २--विष्णुः
[९] ३--इन्द्रः }—[प्राणमयः प्राणः]--क्रिया--अक्षरः--ब्रह्म [प्राणः-क्रिया--अक्षरः--ब्रह्म]
[१०] ४--सोमः
[११] ५--अग्निः }—[प्राणमयी वाक्]-अर्थः--क्षरः-शुक्रम् [प्राणः-क्रिया-अक्षरः-ब्रह्म]

ब्रह्म

——❀——

त्रिवृता वाक्-अक्षरात्मकः क्षरः

[१२] १-ब्रह्मा]—[वाङ्मयं मनः]--ज्ञानं--अव्ययः--अमृतं [वाक्--अर्थः--क्षरः--शुक्रम्]
[१३] २--विष्णुः
[१४] ३--इन्द्रः }–[वाङ्मयः प्राणः]--क्रिया--अक्षरः--ब्रह्म [वाक्--अर्थः--क्षरः--शुक्रम्]

——❀——

[१५] ४--सोमः
[१६] ५--अग्निः }–[वाङ्मयी वाक्]--अर्थः-क्षरः-शुक्रम् [वाक्--अर्थः--क्षरः--शुक्रम्]

शुक्रम्

स एव त्रिवृत्-मनः प्राण वाङ्मूर्तिः, ज्ञानक्रियार्थमूर्तिः, अव्ययाक्षरक्षरमूर्तिः; अमृतब्रह्मशुक्रमूर्तिः, अक्षरात्मकः--"षोडशी"

——❀——

३--क्षरात्मसंस्था "गुण-विकारपरिग्रहोपेता"–"क्षरः" (सत्य-यज्ञप्रजापतिः शुक्रात्मा)

१–प्राणः [ब्रह्मविकारः] }–वाक्-त्रयीवेदस्त्रिगुणमूर्त्तिः }–सत्यप्रजापतिः[३]
२–आपः [विष्णुविकारः]
३–वाक् [इन्द्रविकारः] }–आपः-आहुतिद्रव्यं [सोमः]
४-अन्नम् [सोमविकारः]
५–अन्नादः[अग्निविकारः] }-अग्निः-आहुतिग्राहकः[अग्निः] }–यज्ञप्रजापतिः[४]

–शुक्रात्मा

——❀——

(३) प्रकारान्तरेण--(गुणविकार-परिग्रहोपेता--क्षरात्मसंस्था--"सत्ययज्ञप्रजापतिः"--"शुक्रात्मा"--क्षरात्मकः—

अमृत——	ब्रह्म		गर्भितं		शुक्रम्		
१--आनन्द (निर्गुणानन्द)--	ब्रह्माक्षरानन्द—	ब्रह्माक्षरब्रह्म—	ब्रह्मा-क्षरब्रह्मगर्भितः--	प्राणः	—वाक्—वेदाः	सत्यः	शुक्रात्मा
२--विज्ञान (निर्गुणविज्ञान)--	विष्णवक्षरविज्ञान-	विष्णवक्षरविष्णु--	विष्णुक्षरविष्णुगर्भिताः--	आपः	—आपः-सोमः	यज्ञः	
३--मन * (निर्गुणमन)--	इन्द्राक्षरमन-——	इन्द्राक्षरेन्द्र——	इन्द्रक्षरेन्द्रगर्भिता——	वाक्			
४--मन * (निर्गुणमन)--	सोमाक्षरप्राण—	सोमाक्षरसोम—	सोमक्षरसोमगर्भितं——	अन्नम्	-अग्निः-अग्निः		
५--मन * (निर्गुणमन)--	अग्न्यक्षरवाक्—	अग्न्यक्षरोऽग्नि---	अग्निक्षरोऽग्निगर्भितः--	अन्नादः			
१--आनन्दः (निर्गुणानन्दः)	१--आनन्दः	१–ब्रह्माक्षरः	१–ब्रह्मा–क्षरः-तद्गर्भितः–	४–प्राणः	—१-वाक्-वेदाः	सत्यः	शुक्रात्मा
२–विज्ञानम्(निर्गुणविज्ञानम्)	२–विज्ञानम्	२–विष्णवक्षरः	२–विष्णुः क्षरः-तद्गर्भिताः-	२–आपः	-२-आपः-सोमः	यज्ञः	
३--मनः * (निर्गुणमनः)	३–मनः	३–इन्द्राक्षरः	३–इन्द्रः क्षरः-तद्गर्भिता–	३–वाक्			
*--मनः (निर्गुणमनः)	४–प्राणः	४–सोमाक्षरः	४–सोमः क्षरः-तद्गर्भितं–	४–अन्नम्	--अग्निः-अग्निः		
*--मनः (निर्गुणमनः)	५–वाक्	५–अग्न्यक्षरः	५–अग्निः क्षरः-तद्गर्भितः-	५–अन्नादः			
निर्गुण–अव्ययः (मनः)	अक्षरात्मक-अव्ययः (मनः)	अक्षरात्मक–अक्षरः प्राणः	अक्षरात्मक—क्षरः वाक्	क्षरः			
अ व्य यः (मनः)	अ	क्ष	रः (प्राणः)	क्ष	रः	(वाक्)	
अव्यय——	अक्षर		—गर्भितः—	—क्षरः			

४--समष्टिपरिलेखः—(परात्पर-अव्यय[1]-षोडशी[2]-सत्य[3]-यज्ञ[4]-प्रदर्शकः)।

* सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्तिः, अद्वयः, निरञ्जनः, निराकारः नित्यनिर्गुण,ः विश्वातीतः **परात्परः**

(१) — निर्गुण-अव्ययः

* आनन्दः
* विज्ञानम् } **मनः** * ……………………………………
* **मनः** *

[२] — षोडशी प्रजापतिः

* आनन्दमयः-आनन्दः (मनः)-मनः] …………………… "आनन्दः"
(१) * विज्ञानमयं विज्ञानम् (प्राणः)-मनः] …………………… "विज्ञानम्"
* मनोमयं **मनः** * (वाक्–मनः *)–मनः] …………………… "**मनः**" *

(२) १–आनन्दगर्भितः "**आनन्दः**"* (मन *)] ………… मनः
(३) २–विज्ञानगर्भितं-"**विज्ञानम्**" * (प्राणः)
(४) ३–मनोगर्भितं"**मनः**" * (वाक्-मनः *) } ………… मनः — "मनः"[1] *
(५) ४–मनोगर्भितः-"**प्राणः**" * (प्राणः)
(६) ५–मनोगर्भिता-"**वाक्**" * (वाक्–मनः *) } ………… मनः

(७) १–* आन्दगर्भितः-"**अक्षरब्रह्मा**" (मनः *)] …………प्राणः
(८) २–* विज्ञानगर्भितः-"**अक्षरविष्णुः**" (प्राणः)
(९) ३–* मनोगर्भितः-"**अक्षरेन्द्रः**" (वाक्-मनः *) } …………प्राणः — "प्राणः"[2]
(१०) ४–* प्राणगर्भितः-"**अक्षरसोमः**" (प्राणः)
(११) ५–* वाग्गर्भितः-"**अक्षराग्निः**" (वाक्-मनः *) } …………प्राणः

(१२) १--आनन्द-अक्षरब्रह्मगर्भितः-"**क्षरब्रह्मा**" (मनः *)] ····वाक्
(१३) २--विज्ञान-अक्षरविष्णुगर्भितः-"**क्षरविष्णुः**" (प्राणः) } ···वाक् — "वाक्"[3]*
(१४) ३--मन—अक्षरेन्द्रगर्भितः —"**क्षरेन्द्रः**" (वाक्-मनः *)
(१५) ४--प्राण---अक्षरसोमगर्भितः--"**क्षरसोमः**" (प्राणः) } ···वाक्
(१६) ५--वाक्--अक्षराग्निगर्भितः--"**क्षराग्निः**" (मनः *)

[३] — सत्य-यज्ञ-प्रजापतिः

१--आनन्द-अक्षरब्रह्म--क्षरब्रह्मगर्भितः---"**प्राणः**" [मनः *] ····विकारः] "वाक्"[1] *
२–विज्ञान-अक्षरविष्णु-क्षरविष्णुगर्भिताः-"**आपः**" [प्राणः]
३–मन—अक्षरेन्द्र—क्षरेन्द्रगर्भिता--- "**वाक्**"[वाक्-मनः*] } ····विकारः] "आपः"[2]
४–प्राण---अक्षरसोम---क्षरसोमगर्भितं--"**अन्नम्**" [प्राणः]
५--वाक्—अक्षराग्नि--क्षराग्निगर्भितः-"**अन्नादः**" [वाक्] } ····विकारः] "अग्निः"[3]

४—समष्टिपरिलेखः—

*** सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्तिः—"परात्परः" (विश्वातीतः) ।**

*—आनन्दः
*—विज्ञानम् } * मनः
*—मनः

*–आनन्दमयः--आनन्दः मनः (मनः)..................आनन्दः[1]
*–विज्ञानमयं विज्ञानम् प्राणः (मनः)..................विज्ञानम्[2]
–मनोमयंमनः वाक् (मन:)..................मनः[3]*

१–आनन्दगर्भितः आनन्दः–मनः *]––मनः
२–विज्ञानगर्भितं विज्ञानम्–प्राणः]––मनः
३–पनोगर्भितं–मनः— वाक् (मनः*)
४–मनोगर्भितः--प्राणः—-प्राणः } —मनः
५–मनोगर्भिता–वाक्–वाक् (मनः*)
} —मनः[1]

१–आनन्दगर्भितः-अक्षरब्रह्मा—मन- * }--प्राणः
२–विज्ञानगर्भितः--अक्षरविष्णुः—प्राणः
३–मनोगर्भितः--अक्षरेन्द्रः—वाक् (मनः*) } –प्राणः
४–प्राणगर्भितः --अक्षरसोमः— प्राणः
५–वाक्गर्भितः-अक्षरोऽग्निः—वाक् (मनः*) } –प्राणः
} —प्राणः[2]

१–आनन्द–अक्षरब्रह्मगर्भितः--क्षरब्रह्मा— मनः* }--वाक्
२–विज्ञान –अक्षरविष्णुगर्भितः--क्षरविष्णुः—प्राणः
३–मनः –अक्षरेन्द्रगर्भितः--क्षरेन्द्रः —वाक् (मनः*) } --वाक
४–प्राण–अक्षरसोमगर्भितः-क्षरसोमः –- प्राणः
५–वाक्–अक्षराग्निगर्भितः-क्षरोऽग्निः—वाक् (मन*) } --वाक्
} —वाक्[3]

१–आनन्द–अक्षरब्रह्मा--क्षरविष्णुगर्भितः-प्राणः—मनः* }--विकारः]---वाक्[1]
२–विज्ञान--अक्षरविष्णु--क्षरविष्णुगर्भिताः-आपः —प्राणः
३–मन – अक्षरेन्द्र -- क्षरेन्द्रगर्भिता--वाक्वाक् (मनः*) } --विकार } --आपः[2]
४–प्राण – अक्षरसोम-- क्षरसोमगर्भितं–अन्नम्— प्राण
५–वाक् – अक्षरो -क्षरोऽग्निगर्भितः–अन्नादः--वाक् } --विकारः } —अग्निः[3]

—०—

[४] प्रकारान्तरेण—[समष्टिपरिलेखः]।

अमृतम्—१—निर्गुणात्मसंस्थामयो मायी— "अव्ययः[१]"— आत्मा (अव्ययात्मा[१])।
ब्रह्म— २—सकलात्मसंस्थामयः सकलः— "षोडशीप्रजापतिः[२]"—आत्मन्वी (अक्षरात्मा[२])।
शुक्रम्— ३— *सगुणात्मसंस्थामयः सगुणः— "सत्यप्रजापतिः[३]"—आत्मन्वी (क्षरात्मा[३])।
*सविकारसंस्थामयः सविकारः—"यज्ञप्रजापतिः[४]"—आत्मन्वी

———*———

१६१—आत्मसंस्थात्रयी का स्वरूप-संस्मरण—

उक्त तीनों आत्मसंस्थाओं में से २ के सम्बन्ध में तो अब कोई विशेष वक्तव्य नहीं रहा। हाँ, तीसरी क्षरात्मसंस्था अवश्य ही अभी और भी स्पष्टीकरण की अपेक्षा रख रही है। इसी अपेक्षा की पूर्ति कर यह 'परिग्रहप्रकरण' समाप्त किया जाता है।

१६२—विकारप्रपञ्चानुगता विज्ञाननिबन्धना विश्वसृट्, पञ्चजन, पुरञ्जन-त्रयी, एवं दर्शननिबन्धना गुणभूत-अणुभूत-रेणुभूत-त्रयी का स्वरूप-समतुलन—

"क्षरसंख्या वाङ्मयी है, एवं वाक् तत्त्व त्रिवृद्भाव के कारण **वाक्-आपः-अग्नि**- इन तीन रूपों में विभक्त है। साथ ही इन तीनों की समष्टि "शुक्र" नाम से प्रसिद्ध है" यह स्पष्टीकरण तो पूर्व प्रकरण से गतार्थ है। इसे लक्ष्य में रखते हुए ही आगे का विचार करना है। वाङ्मय क्षर की ब्रह्मादि पाँच कलाओं से क्रमशः **प्राण-आपः-वाक्-अन्न-अन्नाद**, ये पाँच विकार उत्पन्न हुए। इन पाँचों के पञ्चीकरण से इन्हीं नामों से युक्त पाँच **पञ्चीकृत-प्राणादि** का विकास हुआ। इन पञ्चीकृत पाँचों प्राणादि के समन्वय से **पञ्च-पञ्चात्मक** प्राणादि विकसित हुए। इसप्रकार यज्ञप्रक्रियात्मक इसी पञ्चीकरणभाव से आत्मक्षर की ब्रह्मादि कलाओं से उत्पन्न प्राणादि विकारक्षरों के **विशुद्ध विकारक्षर, पञ्चीकृत विकारक्षर, पञ्चपञ्चीकृत विकारक्षर**, ये तीन विभाग होगए। विकारप्रपञ्च के ये ही तीनों विभाग **विज्ञानभाषा** में क्रमशः **विश्वसृट्-पञ्चजन-पुरञ्जन**, इन नामों से व्यवहृत हुए। **दर्शनभाषा** में ये ही क्रमशः **गुणभूत-अणुभूत-रेणुभूत**, इन नामों से प्रसिद्ध हुए।

१६३—गुणभूतात्मक 'विश्वसृट्', तथा अणुभूतात्मक 'पञ्चजन' का तात्कालिक पञ्चीकरण, एवं रेणुभूतात्मक 'पुरञ्जन' की स्पष्ट-अभिव्यक्ति, तथा तन्निबन्धन पुरभावात्मक विश्व का संस्मरण—

इन तीनों विवर्त्तों के सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि, विश्व में—**गुणभूतरूप विश्वसृट्**, (**विकारक्षर**), एवं **अणुभूतरूप पञ्चजन** (**पञ्चीकृत विकारक्षर**) कभी स्वतन्त्र नहीं मिलेंगे। क्षर की कलाओं से जिस समय विश्वसृट् नामक विकार का विकास होता है, तत्काल इनका पञ्चीकरण होजाता है,

विश्वसृट् पञ्चजनरूप में परिणत होजाते हैं। पञ्चजन अव्यवहितोत्तरकाल में हीं **"पुरञ्जन"** रूप में परिणत होजाते हैं। इसप्रकार तीनों में अन्त का पुरञ्जनरूप ही शेष रह जाता है। विकार--प्राण पञ्चीकृत--प्राण बना, यही आगे जाकर **वेदात्मक**--पुरञ्जन बना। विकार-आपः पञ्चीकृत-आपः बना, यही आगे जाकर **लोकात्मक**--पुरञ्जन बना। विकार--वाक् पञ्चीकृत--वाक् बनी, यही आगे जाकर **देवात्मक**--पुरञ्जन बना। विकार--अन्न पञ्चीकृत अन्न बना, यही आगे जाकर **पश्वात्मक**--पुरञ्जन बना। विकार-अन्नाद पञ्चीकृत-अन्नाद बना, यही आगे जाकर **भूतात्मक**--पुरञ्जन बना। तात्पर्य्य इसका यह निकला कि, **प्राण--आपः--वाक्--अन्न--अन्नाद**, ये पाँच विकारत्तर पञ्चीकृत **"सात्र्य"** प्राणादि रूप में परिणत होते हुए अन्त में **वेद--लोक--देव--पशु--भूत**, इन रूपों में परिणत होगए। इनमें वेदपुरञ्जन **वाक्शुक्र** कहलाया, लोक-देव-पुरञ्जन **आपःशुक्र** कहलाया, एवं पशु-भूत पुरञ्जन **"अग्निशुक्र"** कहलाया। २१२ वें पृष्ट की समष्टिप्रदर्शनात्मिका तालिका के सर्वान्त की **विकारत्तरात्मिका तालिका** का इस दृष्टि से निम्नलिखित स्वरूप हमारे सामने आया---

(३)–क्षरात्मसंस्था-परिलेखः–(शुक्रात्मा)–"सत्य-यज्ञ-प्रजापतिरूपः"—

१–आनन्द–अक्षरब्रह्मा–क्षरविष्णु–विकारप्राण–पञ्चीकृतसार्व्यप्राणगर्भिताः—	वेदाः	(पुरञ्जनम्)–मनः *]—	१ विकारः–वाक्		
२–विज्ञान–अक्षरविष्णु–क्षरविष्णु–विकारापः–पञ्चीकृतसार्व्यापोगर्भिताः—	लोकाः	(पुरञ्जनम्)–प्राणः }	२ —विकारः–आपः	शुक्रम्	
३–मन–अक्षरेन्द्र–क्षरेन्द्र–विकारवाक्–पञ्चीकृतसार्व्यवाग्गर्भिताः—	देवाः	(पुरञ्जनम्)–वाक्–(मन*) }			
४–प्राण–अक्षरसोम–क्षरसोम–विकारान्न–पञ्चीकृतसार्व्यान्नगर्भिताः—	पशवः	(पुरञ्जनम्)–प्राणः }	३ विकारः अग्निः		
५–वाक्–अक्षराग्नि–क्षराग्नि–विकारान्नाद–पञ्चीकृतसार्व्यान्नादगर्भितानि—	भूतानि	(पुरञ्जनम्)–वाक् }			

विशुद्धा विकारक्षराः विश्वसृजः गुणभूतानि	पञ्चीकृता विकारक्षराः पञ्चजनाः अणुभूतानि	पञ्चपञ्चीकृता विकारक्षराः पुरञ्जनाः रेणुभूतानि

१–	प्राणः	—	१–	सर्वप्राणः	—	१–	वेदाः	—	प्राणमयाः सर्वे वेदाः	]—वाक्		
२–	आपः	—	२–	सर्वापः	—	२–	लोकाः	—	आपोमयाः सर्वे लोकाः	} —आपः	शुक्रम्	
३–	वाक्	—	३–	सर्ववाक्	—	३–	देवाः	—	वाङ्मयाः सर्वे देवाः			
४–	अन्नम्	—	४–	सर्वान्नम्	—	४–	पशवः	—	अन्नमयाः सर्वे पशवः	} —अग्निः		
५–	अन्नादः	—	५–	सर्वान्नादः	—	५–	भूतानि	—	अन्नादमयानि सर्वाणि भूतानि			

१६४—विश्वतीत 'परात्परब्रह्म' नुगत रस–बल के अनुग्रह से षड्विध-प्राजापत्य—विवर्त्तों में 'अमृत'--'मृत्यु' भावो का अपेक्षाभेद—निबन्धन–समन्वय—

अमृत-ब्रह्म-शुक्र, इन उक्त तीनों संस्थाओं के अनेक विवर्त्त बतला गए। इन सब विवर्तों का पर्य्यवसान उसी '**रस-बल**' तत्त्व पर माना गया है। **रस अमृत है, बल मृत्यु है।** दोनों के सम्बन्ध-तारतम्य से उस एक ही के अनेक रूप होजाते हैं। जिसमें अमृत की प्रधानता रहती है, वह अमृतसंस्था कहलाती है। एवं जिसमें मृत्यु की प्रधानता रहती है, वह मर्त्यसंस्था कहलाती है। पूर्व पूर्व के आत्मविवर्त्तों में उत्तर उत्तर के आत्मविवर्त्तों की अपेक्षा अमृत (रस) की प्रधानता है, एवं पूर्वसंस्थापेक्षया उत्तरसंस्था में मृत्यु (बल) की प्रधानता है। इस दृष्टि से विश्व-सम्बन्धी ६ विवर्त्तों में से आद्यन्त के विवर्त्त (**निर्गुण अव्ययविवर्त्त, एवं त्रिगुणभावमय विश्व**) तो अमृत एवं मृत्यु प्रधान ही है। एवं मध्य के चार विवर्त्त (**षोडशी-सत्य-यज्ञ-विराट्**) अपेक्षया अमृत भी हैं, मर्त्य भी हैं।

१६५—'अव्ययसंस्था' की निष्कैवल्या–'अमृतरूपता', तथा 'विश्वसंस्था' की विशुद्धा–'मत्युरूपता' का समन्वय—

इसी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि, **अव्ययसंस्था अमृत है, एवं अक्षरसंस्था अव्यय की दृष्टि से मर्त्या है। क्षर की दृष्टि से अक्षरसंस्था अमृता है, एवं अक्षर की दृष्टि से** पूर्वतालिका-प्रदर्शित **वाक्-आपः-अग्नि-मयी क्षरसंस्था मर्त्या है।** परन्तु आगे की विराट्संस्था की अपेक्षा यही क्षरसंस्था अमृता बनी हुई है, एवं इस सत्य-यज्ञात्मिका क्षरसंस्था की अपेक्षा वह विराट्संस्था मर्त्या बनी हुई है। विश्वदृष्ट्या यही विराट्संस्था अमृता बनी हुई है, एवं विराट्दृष्ट्या विश्वसंस्था मर्त्य बन रही है।

१६६—अमृतनिबन्धन अव्यय, और--'आत्मा', अमृत- मृत्यु--निबन्धन–षोडशी- सत्य, यज्ञ, विराट् और 'आत्मन्वी', तथा मत्युनिबन्धन विश्व—

निष्कर्ष यही निकला कि, **आत्मलक्षण अव्यय विशुद्ध अमृतरूप है, आवरणलक्षण विश्व विशुद्ध मृत्युमय है, एवं मध्यस्थ षोडशीप्रजापति, सत्यप्रजापति, यज्ञप्रजापति, विराट्प्रजापति ये चारों प्रजापति (जिन्हें कि हमने "आत्मन्वी" कहा है) अपेक्षया अमृत-मृत्युमय बनते हुए उभयात्मक बने हुए हैं।**

१६७—'प्रजापतिः प्रजया संरराणः' मूलक 'प्रजापति' रूप 'आत्मा', तथा 'प्रजा' रूप 'विश्व' का स्वरूप--समन्वय, एवं आत्म--विश्व--समष्ट्यात्मक—'आत्मन्वी'—

यही कारण है कि प्रजापति का स्वरूप बतलाते हुए ऋषि ने इस प्रजापतिवर्ग को ही उभयात्मक बतलाया है, जैसा कि–"**अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्**" (शतपथब्रा० १० काण्ड) इत्यादि वाजिश्रुति से स्पष्टतम है। **न आत्मा प्रजापति है, न विश्व प्रजापति है। अपितु विश्व, और आत्मा, दोनों का समुच्चय ही प्रजापति है।** और यह द्वैतभाव न अव्ययात्मा में विकसित है, न विश्व में विकसित है। अपितु मध्य के चार आत्मविवर्त्तों में हीं विकसित है। षोडशीप्रजापति का पञ्चफल अव्यय

आत्मा है, पञ्चकल अक्षर-पञ्चकल क्षर इसकी प्रजारूप विश्व है । अव्ययात्मना यह अमृत है, तो अक्षर-क्षरात्मना यही मर्त्य भी है । षोडशीगर्भित सत्यप्रजापति का सत्य भाग अमृत है, एवं यज्ञ भाग प्रजापति की मर्त्या प्रजा है । षोडशी-सत्यगर्भित यज्ञ प्रजापति का यज्ञ भाग प्रजा है, एवं विराट् भाग इस की मर्त्यप्रजा है । षोडशी-सत्य-यज्ञ-गर्भित स्वयं विराट् आत्मा है, एवं विश्व इसकी मर्त्य-प्रजा है । इसप्रकार चारों में **अमृतात्मा, और मर्त्यप्रजा,** इन दोनों का समन्वय सिद्ध होजाता है । **"प्रजापतिः प्रजया संरराणः"** ही प्रजापति का मख्य लक्षण माना गया है ।

१—निर्गुण अव्ययः	अमृतम् (अमृतम्)	आत्मा	
१—षोडशीप्रजापतिः	मृत्यु; (अमृतम्)	आत्मन्वी	अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्
२—सत्यप्रजापतिः	मृत्युः (अमृतम्)	आमन्वी	
३—यज्ञप्रजापतिः	मृत्युः (अमृतम्)	आमन्वी	
४—विराट्प्रजापतिः	मृत्युः (अमृतम्)	आमन्वी	
१—विश्वम्	मृत्युः (मृत्युः)	शरीरम्	

—*—

—*—

(१)—१—निर्गुणअव्ययः (आत्मा-अमृतम्) आत्मा (अमृतम्)

(२)—१—षोडशीप्रजापतिः—

१—पञ्चकलोऽव्ययः	आत्मा (अमृतम्)	—षोडशीप्रजापतिः (आमन्वी)
२—प० अक्षरः, प०क्षरः	शरीरम् (मृत्युः)	

(३)—२—सत्यप्रजापतिः—

१—सत्यवेदत्रयी	आत्मा (अमृतम्)	—सत्यप्रजापतिः (आमन्वी)
२—यज्ञोऽग्निसोमयः	शरीरम् (मृत्युः)	

—*—

(४)—३—यज्ञप्रजापतिः—

१—यज्ञोऽग्निसोममयः	आत्मा (अमृतम्)	—यज्ञप्रजापतिः (आमन्वी)
२—विराट्सावरणः	शरीरम् (मृत्युः)	

—*—

[४]—४—विराट्-प्रजापतिः—

१—विराट्-साञ्जनम्—आत्मा (अमृतम्)		विराट्प्रजापतिः (आत्मन्वी)
२—विश्वं-सावरणम्—शरीरम् (मृत्युः)		

—*—

[६]—१-विश्वं-सावरणम्-शरीरम्—(मृत्युः)।

—*—

१६८–अमृत-मृत्यु-विवेक-निबन्धना तृतीया 'शुक्रसंस्था' से अनुप्राणित पञ्चपुरञ्जनात्मक विवर्त्तभावों का संस्मरण, एवं शुक्रत्रयी की षट्शुक्ररूप में परिणति—

उक्त अमृतमृत्युविवेक से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि, जिस वाङ्मयी तीसरी शुक्रसंस्था का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, जिसे कि सत्य-यज्ञ की समष्टि बतलाया गया है, जिस के कि वाक्–आपः–अग्निः, ये तीन विवर्त्त बतलाए गए हैं, जिसे कि वेद–लोक–देव-पशु-भूत-भेद से पञ्चपुरञ्जनात्मक सिद्ध किया गया है, उस शुक्रसंस्था में भी अमृत-मृत्यु नामक दोनों भावों का समन्वय है । 'वाक्-आपः-अग्नि'-शुक्रसंस्था के ये तीनों हीं पर्व अमृत-मृत्यु भेद से दो दो भागों में विभक्त होकर तीन के स्थान में ६ रूप धारण कर लेते हैं । **और यों शुक्रत्रयी शुक्रषट्करूप में परिणत होजाती है ।**

१६९–सत्य-यज्ञ-प्रजापति से अनुगता अमृता शुक्रत्रयी, विराट्–प्रजापत्यनुगता मर्त्या शुक्रत्रयी, एवं विकार-परिग्रहात्मक 'यज्ञप्रजापति' का संस्मरण—

इन ६ शुक्रों में से ३ अमृतशुक्रों का तो स्वयं **सत्य-यज्ञ–प्रजापति** में हीं भोग होता है, शेष तीन मर्त्यशुक्रों से **विराट्–प्रजापति** की स्वरूप-निष्पत्ति होती है । **अमृतशुक्रत्रयी सत्ययज्ञसंस्था है, एवं मर्त्यशुक्रत्रयी विराट्संस्था है** । सत्य को हमने गुणपरिग्रह से युक्त बतलाया है, एवं यज्ञ को विकारपरिग्रह से समन्वित कहा है । अमृतशुक्रत्रयी का वाग्भाग ही गुणपरिग्रह से युक्त होकर वेदरूप में परिणत होकर सत्यप्रजापति बनता है, एवं 'अमृत आपः–अग्नि' इन दो शुक्रों की समष्टि ही विकारपरिग्रह से युक्त होकर यज्ञ प्रजापति बनती है ।

१७०–'अञ्जन' परिग्रहानुगत सप्तविध (७) यज्ञपाप्माओं का नाम–प्रदर्शन-समन्वय—

इस यज्ञिया शुक्रद्वयी में आगे जाकर 'अञ्जन' परिग्रह का योग होता **है** । यह अञ्जन हीं विज्ञानभाषा में–"**यज्ञपाप्मा**" नाम से प्रसिद्ध है , एवं ये अञ्जनात्मक यज्ञपाप्मा क्रमशः **१-पर्य्याय, २-ऊर्म्मि, ३-आशय, ४-अवस्था, ५-कर्म्म, ६-विपाक, ७-अविद्या,** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। यदि इन के अवान्तर भागों का संकलन किया जाता है, तो कुल ३३ यज्ञपाप्मा होजाते हैं, जिनका कि **मूलभाष्यकाण्डा-न्तर्गत '[३]-बुद्धियोग को कर्म्मपरित्याग नहीं करना चाहिए'** प्रथमा **राजर्षिविद्या** की इस तीसरी उपनिषत् के (३) "**यज्ञार्थकर्म्म अबन्धन हैं, अतः इन का परित्याग नहीं करना चाहिए**" इस तृतीय उपदेश में ["**यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र**० ३।९ से आरम्भ कर "**एवं प्रवर्त्तितं चक्रम्**० ३।१६ यहाँतक के यज्ञ-रहस्य **प्रकरण** में] विस्तार से निरूपण किया जाने वाला है । यज्ञपाप्माओं से युक्त वह यज्ञप्रजापति ही विराट्रूप में परिणत होता है ।

१७१–'आवरण' परिग्रहानुगत-यज्ञपाप्माओं से समन्विता मर्त्या शुक्रत्रयी, एवं तद्द्वारा 'विश्व' के स्वरूप की अभिव्यक्ति—

सर्वान्त में **'आवरण'** नाम के ६ ठे परिग्रह से युक्त होकर वही प्रजापति विश्व [प्रजासृष्टि] रूप में परिणत होजाते हैं, जैसाकि अनुपद में हीं स्पष्ट होने वाला है । कहना यही है कि-

अमृतशुक्रत्रयी जहाँ सत्यगर्भित यज्ञप्रजापति की स्वरूप-सम्पादिका बनती है, वहाँ मर्त्यशुक्रत्रयी यज्ञपाप्माओं से युक्त होकर विराट्प्रजापति की स्वरूप-सम्पादिका बनती है।

१७२-अमृता-शुक्रत्रयी के तीन पर्वों से अमृता-देवत्रयी-का आविर्भाव, तन्निबन्धना 'एका मूर्त्तिः', एवं सगुणसत्यानुगत-यज्ञप्रजापति का स्वरूप-समन्वय—

अमृतशुक्रत्रयी का वेदमय वाग्भाग ही आगे जाकर "**स्वयम्भू**" रूप में परिणत होता है। इस का लोकमय आपोभाग ही "**परमेष्ठी**" रूप में परिणत होता है, एवं देवमय अग्निभाग ही "**सूर्य्य**" रूप में परिणत होता है, स्वयम्भू **ब्रह्मा** है, परमेष्ठी **विष्णु** है, सूर्य्य **महादेव** है। तीनों मिलकर '**एकामूर्त्ति**' हैं। तीनों का समन्वितरूप एक शुक्रसंस्था है। यही तीसरी सत्ययज्ञात्मिका शुक्रसंस्था है। इन में **ब्रह्मा सत्य-प्रजापति है, विष्णुशिव-समुच्चय यज्ञप्रजापति** है। सत्यप्रजापतिमूर्त्ति ब्रह्मा **सगुणप्रजापति है**, एवं यज्ञप्रजापतिरूप विष्णु-शिव-समष्टि **यज्ञप्रजापति** है। सत्य ही इन की प्रतिष्ठा है, जैसाकि "**ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा**"-"**ब्रह्म वै सर्वस्य प्रथमजम्**"-"**ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव**" इत्यादि वचनों से प्रमाणित

१७३-षोडशीपुरुषेश्वर के शुक्रात्मक 'क्षर' की विविध-सोपानपरम्पराएँ, तन्निबन्धन सृष्टिविवर्त्त, एवं ५ पर्वा शुक्रक्षरात्मा से पञ्चपर्वा विश्व की स्वरूपाभिव्यक्ति—

अब हम यह कह सकते हैं कि, जो क्षर आरम्भ में प्राणादिरूप में परिणत हुआ, आगे जाकर जो पञ्चीकृत सर्वप्राणादिरूप में परिणत हुआ, आगे जाकर जो पञ्चजनात्मक वेद-लोकादिरूप में परिणत होता हुआ 'वाक्-आपः-अग्निः' इन तीन शुक्ररूपों में परिणत हुआ, आगे जाकर यज्ञपाप्माओं के समन्वय से जिस के ये तीन रूप ६ भावों में परिणत होगए, आगे जाकर ६ में से जिस के तीन अमृतरूप क्रमशः स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य रूप में परिणत हुए, वही **सत्य-यज्ञप्रजापति-मूर्त्ति, अमृत-वाक्-आपः-अग्नि-मूर्त्ति, स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्यमूर्त्ति अमृतशुक्रात्मा तीसरा क्षरात्मविवर्त्त कहलाया**। इसप्रकार पूर्व की तालिकाओं में अमृत-ब्रह्म-**शुक्र** भावों का जैसा स्वरूप-समन्वय हुआ था *, वह अब यहाँ आकर आगे की तालिकाओं के रूप में परिणत होगया, जिन इन निर्दिष्ट-तालिकाओं को अब हम निर्णयात्मिका-तालिका मान सकते हैं-स्व-बुद्धि-व्यामोहन की उपशान्ति-मात्र के लिए ही।

---

* देखिए पृष्ठ संख्या २०६, २१०, २११, एवं २१४ वें पृष्ठों की तालिकाएँ

(३)—क्षरात्मसंस्थापरिलेखः—(शुक्रात्मा)—"सत्य-यज्ञ-प्रजापतिरूपः"—

१–आनन्द– अक्षरब्रह्म–– क्षरब्रह्म– विकारप्राण––पञ्चीकृतसार्व्यप्राण-वेदपुरञ्जनगर्भितः- **प्राणः**—मनः* } —अमृतवाक्शुक्रम्—स्वयम्भू-ब्रह्मा

२–विज्ञान–– अक्षरविष्णु– क्षरविष्णु- विकारापः—-पञ्चीकृतसार्व्यापः-लोकपुरञ्जनगर्भिताः-**आपः**—-प्राणः
३–मन—– अक्षरेन्द्र––– क्षरेन्द्र— विकारवाक्—पञ्चीकृतसार्व्यवाक्-देवपुरञ्जनगर्भिता -**वाक्**—-वाक् (मनः*) } —अमृतापःशुक्रम्—परमेष्ठी-विष्णुः

४–प्राण—- अक्षरसोम–– क्षरसोम– विकारान्न—-पञ्चीकृतसार्व्यान्न--पशुपुरञ्जनगर्भितं -**अन्नम्**—प्राणः
५–वाक् –– अक्षराग्नि — क्षराग्नि– विकारान्नाद–पञ्चीकृतसार्व्यान्नाद-भूतपुरञ्जनगर्भितः-**अन्नादः** - वाक् } —अमृताग्निशुक्रम्—सूर्य्यः-शिवः

———*———

स एष क्षरात्मा-'शुक्रात्मा'-

१–अमृतवाक्-शुक्रम् [वाक्]-स्वयम्भू ब्रह्मा सत्यमूर्त्तिर्वेदमूर्त्तिः————-सत्यपतिः [सत्यनाथः-उत्पादकः-सगुणः] } सत्यप्रजापतिः

१–अमृतापः–शुक्रम् [आपः]-परमेष्ठी विष्णुः-यज्ञमूर्त्तिःपशुगर्भितो-लोकमूर्त्तिः-—-यज्ञपतिः [देवनाथः—भर्त्ता—सविकरः]
२–अमृताग्निः-शुक्रम् [अग्निः]-सूर्य्यः शिवः-यज्ञपतिर्वास्तोष्पतिभूतगर्भितो देवमूर्त्तिः-भूतपतिः [भूतनाथः–रक्षकः–सविकारः] } –यज्ञप्रजापतिः

———*———

१७४–क्रमसिद्धा-'विराट्प्रजापति'-रूपा पञ्चमी-संस्था, एवं विराट्प्रजापति की सुप्रसिद्धा दश-कलाओं का स्वरूप-समन्वय—

अमृतशुक्रत्रयी के साथ साथ सत्य-यज्ञप्रजापति नाम की तीसरी, तथा चौथी यज्ञात्मसंस्था का निरूपण भी गतार्थ हुआ। अब क्रमप्राप्त पाँचवी **विराट्प्रजापति-संस्था** हमारे सामने आई। यज्ञप्रजापति के साथ अन्न का समावेश होने से ही इस पाँचवी संस्था का आविर्भाव हुआ है। **अन्न** से अमृतशुक्रत्रयी मर्त्यभाव में परिणत हुई। इस मर्त्यवाक्-शुक्र से सूर्य्य का विकास हुआ, मर्त्य आपः शुक्र से चन्द्रमा का विकास हुआ, एवं मर्त्य अग्नि-शुक्र से त्रैलोक्य-त्रिलोकीरूपा स्तौम्या महापृथिवी का विकास हुआ। इनमें सौरवाक्शुक्र यज्ञपरिभाषानुसार **आहवनीय अग्नि** कहलाया, चान्द्र (आन्तरिक्ष्य) आपः शुक्र **धिष्ण्याग्नि** कहलाया, एवं पार्थिव अग्निशुक्र **गार्हपत्याग्नि** कहलाया।

१७५–एककल गार्हपत्य, अष्टविध धिष्ण्य, एककल आहवनीय-भेदनिबन्धन वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ-मूर्त्ति दशावय विराट्प्रजापति, एवं उस की-'देवसत्यरूपता'-का दिग्दर्शन—

इनमें आहवनीय, और गार्हपत्य तो एक एक कलायुक्त ही रहा। परन्तु मध्यस्थ आन्तरिक्ष्य धिष्ण्याग्नि **अष्टविध नाक्षत्रिक सर्पाग्नि** के सम्बन्ध से अष्टकल बन गया। इसक्रम से ३ के स्थान में १० कला होगई। एककल सौरदिव्य आहवनीय **'सर्वज्ञ'** कहलाया, अष्टकल आन्तरिक्ष्य धिष्ण्य **'हिरण्यगर्भ'** कहलाया, एवं एककल पार्थिव गार्हपत्य (नूतनगार्हपत्य) **'वैश्वानर'** कहलाया। **अग्निशुक्रमय एककल अर्थमूर्त्ति पार्थिव वैश्वानर, आपःशुक्रमय अष्टकल क्रियामूर्त्ति आन्तरिक्ष्य हिरण्यगर्भ, एवं वाक्-शुक्रमय एककल ज्ञानमूर्त्ति दिव्यलोकस्थ सर्वज्ञ, इन तीनों की समष्टि ही** देवसत्यात्मक **"विराट्-प्रजापति"** कहलाया। दस संख्या के सम्बन्ध से ही यह **'विराट्'** नाम से समन्वित हुआ। **एवं यही पाँचवीं साऽन्नसंस्था कहलाई।**

१७६–सूर्य्य के द्वैधीभाव के सम्बन्ध में महती विप्रतिपत्ति, तन्निराकरण, और सावरण-विश्व के सुप्रसिद्ध तीन-'धाम', एवं तत्र मन्त्रश्रुति का संस्मरण—

अमृतशुक्रत्रयी के तीसरे अमृताग्निशुक्र को भी हमने सूर्य्य का स्वरूप-समर्पक बतलाया है, एवं मर्त्यशुक्रत्रयी के पहिले मर्त्याग्निशुक्र को भी सूर्य्य का स्वरूप-सम्पादक बतलाया है। तो क्या नास्तिकदर्शन के अनुसार सत्ताब्रह्मोपासक वैदिक-विज्ञान भी दो दो सूर्य्य मानता है ?। नहीं। सूर्य्य तो एक ही है। इस एक ही सूर्य्य में अमृताग्नि का भी समावेश है, एवं मर्त्याग्नि का भी समावेश है। मध्यस्थ सूर्य्य से ऊपर के पारमेष्ठ्य मण्डल में अमृतात्मक आपःशुक्र की, परमेष्ठी से ऊपर के स्वायम्भुव मण्डल में अमृतमय वाक् शुक्र की प्रधानता है। इन्हीं दोनों अमृतधामों की समष्टि **"परमधाम"** कहलाती है। एवमेव सूर्य्य से नीचे के आन्तरिक्ष्य चान्द्रमण्डल में मृत्युप्रधान आपःशुक्र की प्रधानता है, एवं चन्द्रमा से नीचे के पार्थिवमण्डल में मृत्युप्रधान वाक्शुक्र-की प्रधानता है। इन्हीं दोनों मृत्युधामों की समष्टि **"अवमधाम"** नाम से प्रसिद्ध है। मध्यस्थ सूर्य्य इस ओर के पहिले मर्त्याग्निशुक्र को लेकर मर्त्य

अवमधामों का भी व्यवस्थापक बन रहा है, एवं उस ओर के तीसरे अमृताग्निशुक्र को लेकर अमृतधामों का भी व्यवस्थापक बन रहा है, जैसाकि--"निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च" * इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। इसी धामत्रयी का दिग्दर्शन कराती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्म्मन्नुतेमा।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः॥

—यजु:सं० १६।२१।

१७७–अमृतसूर्य्य के द्वारा "धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य"-भावों की, तथा मर्त्यसूर्य्य के द्वारा-"अभिनिवेश-अविद्या-आसक्ति-अस्मिता"-भावों की क्रमिक अभिव्यक्ति का दिग्दर्शन—

निष्कर्ष यही हुआ कि, सूर्य्य से नीचे नीचे मर्त्य आप:शुक्र (चन्द्रमा), एवं मर्त्य वाक्शुक्र [महिमा-पृथिवी] की प्रधानता है। दूसरे शब्दों में सूर्य्य से नीचे नीचे विशुद्ध मृत्यु का साम्राज्य है--"**तस्माद्यत् किञ्चार्वाचीनमादित्यात्-सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्**" [शतपथ० १० कां०] सूर्य्य से ऊपर ऊपर अमृत आप:शुक्र, एवं अमृत वाक्शुक्र की प्रधानता है, एवं मध्यस्थ अमृताग्निशुक्र, एवं मर्त्याग्निशुक्र दोनों के समन्वय से सूर्य्य उभयमूर्त्ति है। अमृतरूप से वही सूर्य्य हमारी बुद्धि में **धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य**, इन चार '**विद्या-भावों**' का विकास करता है, एवं मृत्युरूप से वही सूर्य्य बुद्धि को **अभिनिवेश-अविद्या-आसक्ति-अस्मिता**, इन चार '**अविद्याभावों**' से युक्त करता है। वक्तव्य यही है कि, एक ही सूर्य्य में दोनों अग्नि-शुक्रों का भोग होरहा है। इसी दृष्टि से हमने अमृतशुक्रत्रयी में भी सूर्य्य का सम्बन्ध बतला दिया है, एवं मर्त्यशुक्रत्रयी में भी सूर्य्य का सम्बन्ध मान लिया है।

१७८-विराट्प्रजापति की 'रुद्र'-रूपता, तन्निबन्धना रुद्रपत्नी-रूपा रोदसी-त्रिलोकी, एवं तालिकारूपेण विराट्प्रजापति का चतुर्द्धा संस्मरण—

उक्त शुक्रविभूति से हम इस निश्चय पर पहुँचे कि, अमृतशुक्रत्रयी तो **सत्ययज्ञात्मक क्षरप्रजापति** की स्वरूप-समर्पिका है, एवं मर्त्यशुक्रत्रयी **विराट्प्रजापति** की स्वरूप--समर्पिका है। यही विराट् प्रजापति मृत्युप्रधान बनता हुआ 'रुद्र' नाम से प्रसिद्ध है। **रुद्र के सम्बन्ध से सूर्य्य-चन्द्र-पृथिव्यात्मिका त्रिलोकी "रोदसी–त्रिलोकी" कहलाती है---"रोदसी रुद्रपत्नी"। पाँचवें विराट्प्रजापति का यही संक्षिप्त स्वरूप-निदर्शन है, जैसाकि आगे की तालिकाओं से स्पष्ट है।**

---

* आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥

—यजु:सं० ३३।४३

	१—मृत्युमयं	अग्निशुक्रम्	मर्त्यसूर्य्यः [स्वः]	सूर्य्य-चन्द्र--पृथिव्यात्मको
१	२—मृत्युमयं	आपःशुक्रम्	चन्द्रमाः [भुवः]	विराट्प्रजापतिः
	३—मृत्युमयं	वाक्शुक्रम्	महिमापृथिवी [भूः]	

—※—

	१--सौर--अग्निः	आहवनीयः	एककलः [१]	आहवनीय-धिष्ण्य-गार्हपत्यात्मको
२	२—आन्तरिक्ष्य-आपोमयाग्निः	धिष्ण्यः	अष्टकलः [८]	दशकलो विराट् प्रजापतिः
	३—पार्थिव—वागग्निः	नूतनगार्हपत्यः	एककलः [१]	

—※—

	१--आहवनीयः	दिव्यलोकस्यः	(सत्याग्निः	आदित्यरूपः	ज्ञानमयः	आदित्य-वाय्वग्न्यात्मको
३	२--धिष्ण्यः	आन्तरिक्षः	(ऋताग्निः	वायुरूपः	क्रियामयः	विराट्प्रजापतिः
	३—गार्हपत्यः	पार्थिवः	(ऋतसत्याग्निः	अग्निरूपः	अर्थमयः	

—※—

	१--ज्ञानमयः	आदित्यः	ज्ञानप्रवर्त्तकः सर्वज्ञः	सर्वज्ञ--हिरण्यगर्भ--वैश्वानरात्मको
४	२--क्रियामयः	वायुः	क्रियाप्रवर्त्तको हिरगर्भः	विराट्प्रजापतिः
	२--अर्थमयः	अग्निः	अर्थप्रवर्त्तको वैश्वानरः	



१७६—शुक्रसंस्थानुगत क्षरतत्त्व के द्वारा सत्य-यज्ञ-विराट्—भावों की स्वरूप-शिक्षा—

यही शुक्रनिरूपण हमें यह भी शिक्षा दे रहा है कि, क्षरात्मिका शुक्रत्रयी ही अमृत—मृत्यु के भेद से षट्कल बनती हुई क्रमशः **सत्य--यज्ञ--विराट्** , इन तीन संस्थाओं के विकास का कारण बन रही है। क्षर--संस्था के गर्भ में हीं तीनों प्रजापति प्रतिष्ठित हैं। और इसी दृष्टि से इन तीनों संस्थाओं को हम **'क्षरसंस्था'** भी कह सकते हैं। यहीं सब कुछ समाप्त है। **अव्यय--अक्षर--क्षर,** इन तीन के अतिरिक्त और हो भी क्या सकता है ?। आगे के परिलेखों से क्षरानुबन्धिनी तीनों संस्थाओं का स्वरूप सर्वात्मना गतार्थ है।

१ प्राणः [वेदा] बाक् [ब्रह्मा स्वयम्भूः वाङ्मयः]]–सत्यप्रजापतिः (३)

२ आपः [लोकाः] आपः [विष्णुः परमेष्ठी आपोमयः] }
३ वाक् [देवाः] अग्निः [शिवः सूर्य्यः अग्निमयः] } यज्ञप्रजापतिः (४)

1 १ वाक् [देवाः] अग्निः [वाक् सूर्य्यः अग्निमयः] }
२ अन्नम् [पशवः] आपः [अन्नम् चन्द्रमाः आपोमयः] }
३ अन्नादः [भूतानि] वाक् [अन्नादः पृथिवी वाङ्मयी] } विराटप्रजापतिः (५)

—*—

वाक् स्वयम्भूः [प्राणमयः]]–सत्यः }
आपः परमेष्ठी [आपोममयः] }
अग्निः सूर्य्यः [वाङ्मयः] } यज्ञः } अमृतशुक्रत्रयी

2 अग्निः सूर्य्यः [वाङ्मयः] }
आपः चन्द्रमाः [अन्नमयः] }
वाक् पृथिवी [अन्नादमयी] } विराट् } मर्त्यशुक्रत्रयी

} क्षरसंस्था (शुक्रम्)

—०—

अमृतस्वयम्भूः —१—स्वयम्भूः— सत्यप्रजापतिः [ब्रह्मा]

अमृतपरमेष्ठी —२—परमेष्ठी }
अमृतसूर्य्यः } —३—सूर्य्यः— } यज्ञप्रजापतिः [विष्णुः]
3 मर्त्यसूर्य्यः }

मर्त्यचन्द्रमाः —४—चन्द्रमाः }
मर्त्यपृथिवी —५—पृथिवी } विराट्प्रजापतिः [महादेवः]

—*—

१८०–'साञ्जनविराट्प्रजापति' के आधार पर 'सावरण-विश्व' की स्वरूपाभिव्यक्ति, अग्नीषोमात्मिका विश्वस्वरूप-परिभाषा, एवं अग्नि के त्रिविध-महिमा-विवर्त्तों का वर्गीकरण—

अब क्रमप्राप्त ६ ठा विवर्त्त हमारे सामने सामने आया। **साञ्जन-विराट्प्रजापति** के साथ जब तम:प्रधान **आवरणपरिग्रह** का सम्बन्ध हुआ, तो **सावरणविश्व** का प्रादुर्भाव हुआ, एवं यही उस '**तत्**' का ६ ठा परिग्रह कहलाया। इस विश्व के सम्बन्ध में एक महती विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है। विश्व का क्या स्वरूप है ?, इस प्रश्न के उत्तर में श्रुति का–"**अग्नीषोमात्मकं जगत्**" यह वचन हमारे सामने आता है। अग्नि, और सोम, दोनों के समन्वितरूप का ही नाम **जगत्**, किंवा **विश्व** है। यह अग्नितत्त्व **वेदाग्नि**[1] **अङ्गिरोऽग्नि**[2] **अन्नादाग्नि**[3] भेद से तीन भागों में विभक्त है। बेदाग्नि हीं **सत्याग्नि, वागग्नि प्राणाग्नि, ब्रह्माग्नि, सार्वयाजुषाग्नि**, इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध है। अङ्गिरोऽग्नि हीं **सावित्राग्नि, वेदाग्नि, पुरुषाग्नि, यज्ञाग्नि**, इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। एवं तीसरा अन्नादाग्नि हीं **गायत्राग्नि, भूताग्नि, उख्याग्नि, मृग्याग्नि, चितेनिधेयाग्नि**, इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है।

१८१-विश्वनिबन्धन सोम के द्विविध-महिमा-विवर्त्तों का नाम-संस्मरण—

दूसरा सोमतत्त्व **दिक्सोम, भास्वरसोम**, भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है। इस में पहिला दिक्सोम **आपः, ब्रह्मणस्पति, पवित्र**, इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। एवं दूसरा भास्वरसोम **सोम, चन्द्रमा, अश्मा, वृत्र, ओषधि** इत्यादि नामों से प्रसिद्ध **है**। इसप्रकार विश्वस्वरूप–सम्पादक अग्नि, एवं सोम ३--२ के क्रम से ५ भागों में विभक्त होरहा हैं।

१८२–त्रिविध अग्नि-विवर्त्तों, तथा द्विविध सोम-विवर्त्तों से समन्वित पञ्चात्मक-पञ्चपर्वा-सावरण-विश्व की स्वरूप-निष्पत्ति—

इन पाँचों का जब हम अन्वेषण करने चलते हैं, तो पूर्वोक्त त्तरसंस्था की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित होजाता है। अवश्य ही **त्तरसंस्था का सत्यस्वयम्भू ही वेदाग्नि है, आपोमम परमेष्ठी ही दिक्सोम**, है, जिसके लिए–"**तृतीयस्थां वै इतो दिवि सोम आसीत्**" यह कहा जाता है। **अग्निमय सूर्य्य ही अङ्गिरोऽग्नि है, आपोमय चन्द्रमा ही भास्वरसोम है, एवं वाङ्मयी पृथिवी ही अन्नादाग्नि है**। यही त्तरात्मक पञ्चपर्वा भौतिक विश्व है। **विश्व ही आत्मा का धाम है**। अतएव पूर्व में स्वयम्भू आदि को **परम-अवम-मध्यम**--धाम कहना भी चरितार्थ होजाता है। इसप्रकार '**विश्व**' नामका विवर्त्त त्तरसंस्था से कोई पृथक् पदार्थ सिद्ध नहीं होता *।

---

* खण्डचतुष्टयात्मक–"**भारतीय हिन्दू मानव, और उस की भावुकता**" नामक पाँच सहस्र–पृष्ठात्मक निबन्ध के--'**विश्वस्वरूपमीमांसा**' नामक प्रथमखण्ड में 'विश्व' का सुविशद वैज्ञानिक-समन्वय-प्रयास हुआ है।

(वाक्)—१–स्वयम्भूः (वेदाग्निः)-प्राणमयः—अग्निः	
(आपः)—२–परमेष्ठीः (दिक्सोमः)-आपोमयः—सोमः	
(अग्निः)—३–सूर्य्यः (अङ्गिरोऽग्निः -वाङ्मयः—अग्निः	—अग्नीषोमात्मकं जगत्
(आपः)—४–चन्द्रमाः (भास्वरसोमः)-अन्नमयः—सोमः	
(वाक्)—५–पृथिवीः (अन्नादाग्निः)- अन्नादामयी–अग्निः	

१८३–अव्ययाक्षर का 'आत्मत्त्व', एवं क्षर का 'विश्वत्त्व', तन्निबन्धन पञ्चमहाभूतों का स्वरूप–समन्वय, तथा तालिका-माध्यम से पञ्चभूतात्मक-शुक्रात्मक-विश्व का स्वरूप-दिग्दर्शन––

एक दूसरी दृष्टि से भी क्षरप्रपञ्च का विश्वरूपत्त्व सिद्ध होजाता है। पाठकों को स्मरण होगा कि, हमने **मनोमय निर्गुण अव्यय, एवं प्राणमय सकल अक्षर (षोडशी)**, इन दोनों को तो **'आत्मा'** कहा था, एवं **वाङ्मय क्षर** को **'विश्व'** कहा था (देखिए पृष्ठसंख्या १६६)। आनन्द–विज्ञान–मनोमयी निर्गुण-अव्ययसंस्था मन है, अक्षरात्मक मनोमय अव्यय, अक्षरात्मक प्राणमय अक्षर, वाङ्मय क्षर, तीनों की समष्टिरूप मनः–प्राण–वाङ्मयी सकला अक्षरसंस्था प्राण है। मनोरूप अव्यय, एवं प्राणरूप अक्षर, दोनों का समुच्चितरूप ही 'आत्मा' है। इसी मनःप्राणमय आत्मा से (प्राणात्मा के वाङ्मय क्षर भाग से) उपनिषच्छास्त्रने क्रमशः **आकाश–वायु–तेज–जल–पृथिवी**, इन पाँच भूतों को उत्पत्ति मानी है, जैसा कि––**"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी"** इत्यादि तैत्तिरीय–वचन से स्पष्ट है। अवश्य ही **आकाश स्वयम्भू है, वायुसमुद्र परमेष्ठी है, तेजोघन सूर्य्य है, आपोमय चन्द्रमा है, सर्वान्त में वही पूर्वोक्ता पृथिवी है। पञ्चमहाभूतों की समष्टि का ही नाम विश्व है,** एवं वह विश्व क्षरसंस्था के सत्य-यज्ञ–रूप स्वयम्भू आदि से पृथक् नहीं है। इस दूसरी दृष्टि से भी हम क्षरसंस्थात्मक सत्ययज्ञरूप शुक्रभाग को ही विश्व कह सकते हैं।

(वाक्) १-आकाशः—स्वयम्भूः—प्राणमयः	
(आपः) २-वायुः——परमेष्ठी——आपोमयः	
(अग्निः) ३-तेजः———सूर्य्यः———वाङ्मयः —	पञ्चभूतात्मकं शुक्रात्मकं वा विश्वम्
(आपः) ४–जलम्——चन्द्रमाः—अन्नमयः—	
(वाक्) ५–पृथिवी—पृथिवी—अन्नादमयीः	

१८४–भौतिक विश्व का मौलिक-उपादान-द्रव्यात्मक-'वाक्' तत्त्व, तत्प्रसूत आपोमय भृग्वङ्गिरा, तदनुप्राणित वराहवायु, एवं तद्द्वारा 'सूर्य्य' की स्वरूपाभिव्यक्ति—

एक तीसरी दृष्टि से भी उक्त सिद्धान्त की ही पुष्टि होरही है । विज्ञान-सिद्धान्त के अनुसार भौतिक विश्व का उपादान **वाक् तत्त्व** ही माना गया है । वाक् से सर्वप्रथम पानी [अप्तत्त्व] उत्पन्न होता है– **"सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्"** । यह अप्तत्त्व **"आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्"** इस अथर्व-सिद्धान्त के अनुसार भृगु, एवं अङ्गिरोमय है । **भृगु सोमरूप आपः है, एवं अङ्गिरा अग्निरूप आपः** है । यही ऋताग्नि **वराहवायु** की नोदना से आगे जाकर संघातभाव में परिणत होता हुआ सूर्य्यरूप में परिणत होता है । आपः के गर्भ में हीं यह **'अग्नि'** नामक अग्निमय सूर्य्य प्रकट हुआ है । पृथिवी इसी सूर्य्य का उपग्रह है । एवं चन्द्रमा इसी पृथिवी का अत्रिप्राणात्मक उपग्रह माना गया है ।

१८५–विश्वमूलभूत वाक्तत्त्व के-'सत्या-आम्भृणी-बृहती-अनुष्टुप्-सुब्रह्मण्या' नामक पाँच महिमा-विवर्त्त, एवं तन्निबन्धन पञ्चवागात्मक विश्व का तालिका-माध्यम से स्वरूप-समन्वय —

इसप्रकार वह वाक्तत्त्व ही क्रमश; **आपः--सूर्य्य-पृथिवी–चन्द्रमा**, इन चार रूपों में परिणत होता हुआ पञ्चात्मक विश्वरूप में परिणत होरहा है । स्वयम्भू की प्राणमयी वाक् **सत्यावाक्** कहलाती है, परमेष्ठी की आपोमयी वाक् **"आम्भृणीवाक्"** कहलाती है, सूर्य्य की वाङ्मयी वाक् **"बृहतीवाक्"** कहलाती है, इसे ही **गौरिवीता**, किंवा **गौरीविता** भी कहा गया है । चन्द्रमा की अन्नमयी वाक् **"सुब्रह्मण्या"** नाम से प्रसिद्ध है । एवं अन्नादमयी पार्थियी वाक् **"अनुष्टुप्"** नाम से प्रसिद्ध है–**"अनुष्टुभमनु चर्चूर्य्यमाण-मिन्द्रं निचिक्युः कवयो मनीषा"** । वाक् की इसी सर्वव्याप्ति को लक्ष्य में रख कर--**"वाचीमा विश्वा-भुवनान्यर्पिता"--"अथो वागवेदं सर्वम्"** यह कहा जाता है । यह भी विज्ञ पाठकों को विदित ही है कि, वाङ्मय क्षर ही **वाक्-आपः--अग्निः, अग्निः-आपः-वाक्**, इन शुक्ररूपों में परिणत होता हुआ स्वयम्भू परमेष्ठी आदि [सत्य-यज्ञ-संस्थाओं] का स्वरूप-समर्पक बना है । **इस दृष्टि से भी हम क्षरसंस्थात्मक सत्य-यज्ञरूप शुक्रभाग को ही विश्व कहेंगे ।**

वाक्	१	वाक्	स्वयम्भूः (सत्यावाक्)	प्राणमयी	पञ्चवागात्मकं शुक्रात्मकं वा विश्वम्
आपः	२	भृगुः	परमेष्ठीः (आम्भृणीवाक्)	आपोमयी	
अग्निः	३	अङ्गिरा	सूर्य्यः (बृहतीवाक्)	वाङ्मयी	
वाक्	४	पृथिवी	पृथिवी (अनुष्टुब् वाक्)	अन्नादमयी	
आपः	५	चन्द्रमाः	चन्द्रमाः (सुब्रह्मण्यावाक्)	अन्नमयी	

——*——

१८६–स्मार्त्त-दृष्टि से अनुप्राणित विश्व की सत्य-यज्ञा-नुगता शुक्रात्मकता का समन्वय—

एक चौथी **स्मार्त्त दृष्टि** से भी उक्त सिद्धान्त का ही समर्थन होरहा है। **भूतप्रपञ्च की समष्टि ही विश्व माना गया है।** और भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में "क्षरः सर्वाणि भूतानि" यह कहते हुए भूतात्मक विश्व को क्षरमय ही सिद्ध किया है। उधर वाङ्मय क्षर से सम्बन्ध रखने वाले शुक्रषट्क से ही स्वयम्भू परमेष्ठी आदि सत्ययज्ञ विवर्त्तों का प्रादुर्भाव सिद्ध किया गया है। **इस भगवद्दृष्टि से भी हम क्षरसंस्थात्मक सत्य–यज्ञरूप शुक्रभाग को ही विश्व कहेंगे।**

१८७–सत्य-यज्ञ-विराट्-त्रयी की समष्टि से अनुप्राणित विश्व, एवं तत्सम्बन्ध में षष्ठ-संस्थानुगता महती विप्रतिपत्ति—

जब अनेक दृष्टियों से शुक्रभाग का ही, दूसरे शब्दों में **सत्य–यज्ञ–विराट्–प्रजापतियों** का ही समष्टिरूप विश्व बन जाता है, तो प्रश्न स्वाभाविक है कि, **'आवरण'** परिग्रह से सम्बन्ध रखने वाले इस **"विश्व"** नाम के ६ ठे विवर्त्त का क्या स्वरूप है?, एवं वह विश्व कौनसा है?, जिसकी अपेक्षा से हमें ५ के स्थान में ६ विवर्त्त मानने पड़े?। और फिर ऐसा कोई श्रौत प्रमाण भी तो नहीं है, जिसके आधार पर पञ्चमहाभूतात्मक विश्व से अतिरिक्त [जिसका कि सत्य-यज्ञ-विराट्मूर्त्ति शुक्रभाग में हीं अन्तर्भाव है] **"विश्व"** नामक पदार्थ की सत्ता सिद्ध की जासके।

१८८–पञ्चपर्वात्मक विश्व, एवं सत्य-यज्ञ-विराट्-मूर्त्ति शुक्रात्मक क्षर की अभिन्नता, तन्निबन्धना अमृत-ब्रह्म–शुक्र–त्रयी का स्वरूप-समन्वय, तथा अश्वत्थप्रजापति से अनुप्राणित 'लोक' का संस्मरण—

विप्रतिपत्ति यथार्थ है। अवश्य ही **पञ्चपर्वात्मक विश्व**, **एवं सत्य-यज्ञ-विराट्-मूर्त्ति शुक्रात्मक क्षर**, दोनों एक ही वस्तु तत्त्व हैं। फिर भी हमें "विश्व" नाम की एक स्वतन्त्र ६ ठी संस्था मान हीं लेनी पड़ती है। और **तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे**" यह श्रुति ही ऐसा मनने के लिए हमें विवश कर रही है। मनोमय निर्गुण अव्ययात्मा **"अमृतम्"** है, प्राणमय सकल षोडशीप्रजापति [अक्षरप्रजापति] **"ब्रह्म"** है। एवं पूर्वकथनानुसार वेदात्मा स्वयम्भूरूप **सत्यप्रजापति** [वाक्शुक्र], लोकात्मक परमेष्ठी, एवं देवात्मक अमृतसूर्य्यरूप **यज्ञप्रजापति** [आपः-अग्निशुक्र], तथा देवात्मक-मर्त्यसूर्य्यरूप सर्वज्ञ [मर्त्याग्नि, शुक्र], पश्वात्मक मर्त्य चन्द्ररूप हिरण्यगर्भ [मर्त्य आपः शुक्र], भूतात्मक पृथिवीरूप वैश्वानर [मर्त्य वाक् शुक्र], इन तीनों की समष्टिरूप **विराट्प्रजापति** की समष्टि ही वाङ्मय सगुण-सविकार-साञ्जन **"शुक्रम्"** है। **"अमृत"–"ब्रह्म" [अव्यय–अक्षर] आत्मा है, 'शुक्र' इस आत्मा का शरीर है।** एवं यही शरीर भागवत-सम्प्रदायानुसार **सप्तवितस्तिकायात्मक "विश्व"** है। इसके अतिरिक्त उस **"तत्"** के विस्तार में 'विश्व' नाम का कोई अन्य पदार्थ शेष नहीं रह जाता। परन्तु श्रुति कहती है कि, अमृत-ब्रह्म-शुक्रात्मक उस प्रजापति [अश्वत्थप्रजापति] में सम्पूर्ण **"लोक"** आश्रित रहते हैं।

"तदेव शुक्रं–तद् ब्रह्म–तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे"

१८९–कठश्रुति का 'लोकाः' शब्द, त्रैलोक्य-निवासिनी 'प्रजा' का 'लोकभाव', एवं लोकात्मक 'विश्व' शब्द—

विचारणीय यह है कि श्रुति का यह "लोकाः" कौन है ? । यह "लोकाः" पञ्चपर्वा विश्व तो हो-नहीं सकता । क्योंकि विश्व तो 'तत्' के वाङ्मय तीसरे शुक्रविवर्त्त से ही गतार्थ है । ऐसी दशा में मानना पड़ेगा कि, यह "लोकाः" किसी अन्य वस्तु का ही वाचक है, और उसी अन्य वस्तु को हमने "विश्वम्" कहा है । "लोकस्तु भुवने जने" के अनुसार लोकशब्द जहाँ भुवनात्मक विश्व का वाचक है, वहाँ जन का भी संग्राहक है, एवं "प्रजा स्यात् सन्ततौ जने" के अनुसार प्रजावर्ग [त्रैलोक्य में रहने वाली जीवात्मिका प्रजा] ही जन है । "प्रजा वै जनकल्पाः" [ऐ० ब्रा० ६।३२] इत्यादि श्रुति भी इसी पक्ष का समर्थन कर रही है । त्रैलोक्य में रहने वाली इसी प्रजा के लिए, दूसरे शब्दों में इसी जीवसृष्टि के लिए हमने "विश्वम्" कहा है ।

१९०–'यद्वै विश्वं, सर्वं तत्'–निगम मूलक 'विश्व' शब्द की सर्वरूपता, तदनुबन्धी–'विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव', एवं 'विश्व' शब्द का स्वरूप-समन्वय—

अब प्रश्न केवल यही बच रहता है कि, इसे "प्रजा"-"जन"-"लोक" आदि शब्दों में से किसी एक शब्द से व्यवहृत न कर "विश्व" शब्द से ही सम्बोधित क्यों किया गया ? । उत्तर यही है कि, 'विश्व' शब्द केवल पञ्चपर्वा विश्व का ही वाचक नहीं है । अपितु "विश्वातीत-विश्व" इन दो महतोमहीयान् विभागों के अनुसार परात्पर को 'विश्वातीत' कहा जाता है, एवं आगे के यच्चयावत् विवर्त्त "विश्व" नाम से व्यवहृत किए जासकते हैं । श्रुति ने भी-"यद्वै विश्वं, सर्वं तत्" (शत० ३।१।२।११] यह कहते हुए विश्व को सर्वप्रपञ्च का ही वाचक माना है । अमृत-ब्रह्म-शुक्रात्मक प्रजापति की सर्वता प्रजासृष्टि पर ही सम्पन्न होती है । वह यहीं आकर 'सर्व' बनता है । अतएव इस प्रजात्मक ६ ठे विवर्त्त को हम "सर्व" कह सकते हैं । "विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव" इत्यादि मन्त्रवर्णानुसार 'सर्व' के स्थान में 'विश्व' शब्द प्रयुक्त होता देखा गया है । केवल इसी दृष्टि को लक्ष्य में रखते हुए हमने इस प्रजा-विवर्त्त को "विश्व" कह दिया है ।

१९१–'प्रजा'-रूप-'विश्व' के सत्त्व-रज-स्तमो-गुण-निबन्धन त्रिविध महिमा-विवर्त्त, एवं विश्वप्रजानुगता सञ्चरवृत्ति की विश्रान्ति—

इस प्रजारूप विश्व की अभिव्यक्ति सत्य-यज्ञगर्भित वाङ्मय विराट्प्रजापति से ही होती है, यह बतलाया जाचुका है । विराट् के सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ वैश्वानर, ये तीन विवर्त्त बतलाए गए हैं । इन्हीं तीनों से क्रमशः सत्त्वविशाल, रजोविशाल, तमोविशाल, नाम के चतुर्दशविध भूतसर्गों का विकास हुआ है, जैसाकि पूर्व प्रकरणों में प्राकृतिक-सृष्टि-विवर्त्त में विस्तार से बतलाया जाचुका है । ससंज्ञ चेतनजीव प्राज्ञ-प्रधान बनते हुए विराट् की सर्वज्ञकला पर प्रतिष्ठित हैं । अन्तःसंज्ञ अर्द्धचेतन जीव तैजसप्रधान बनते हुए उसकी हिरण्यगर्भकला पर प्रतिष्ठित हैं । एवं असंज्ञ अचेतनजीव [पार्थिव पाषाणादि-जड़पदार्थ] वैश्वानरप्रधान बनते हुए उसकी वैश्वानरकला पर प्रतिष्ठित हैं । इन तीनों जीवसर्गों का ६ ठे 'आवरणपरिग्रह' से ही सम्बन्ध है । यही वैकारिक प्रपञ्च है । यहाँ आकर सृष्टिवितान, किंवा सृष्टि का संचरक्रम विश्रान्त है ।

१६२–स्वायम्भूतिकल्प, मायाकल्प, विकारकल्प, भेद से सृष्टिकल्पों के त्रिविध महिमा-विवर्त्त—

एक दूसरी दृष्टि से उक्त सृष्टिकल्प का समन्वय कीजिए। वैज्ञानिकोंनें सृष्टिकल्प [सृष्टिविवर्त्तभाव] के तीन विभाग माने हैं। वे तीनों कल्प क्रमश **स्वयम्भूतिकल्प, मायाकल्प, विकारकल्प**, इन नामों से यत्र तत्र इतिहास-पुराणग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं। **मायाकलावच्छिन्न मनोमय अव्यय 'स्वयम्भूतिकल्प' है, यही 'पुरुषकल्प' है। षोडशी–सत्य-यज्ञ-विराट् ये चारों 'मायाकल्प' हैं, एवं मैथुनीसृष्टि से सम्बन्ध रखने वाला भूतसर्ग ही तीसरा 'विकारकल्प'**

१६३–महामाया, योगमाया, दैवीमाया, महन्माया, आसुरीमाया, जीवमाया, भेदभिन्न प्रकृतितत्त्व के षट्परिग्रह-निबन्धन षड्विध महिमा–विवर्त्त

एक तीसरी दृष्टि से उक्त सृष्टिकल्प का समन्वय कीजिए। **"प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि"** इस सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण तत्त्ववाद को 'पुरुष'-'प्रकृति', इन दो भागों में विभक्त किया जा-सकता है। **"तत्तु समन्वयात्"** इस शारीरक-सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति–पुरुष के समन्वय से ही उक्त ६ विवर्त्तों का विकास हुआ है। **माया-कला-गुण-विकार-अञ्जन-आवरण**, इन ६ परिग्रहरूप उपाधियों से ही उस बलात्मिका प्रकृति * के ६ रूप होजाते हैं। इन परिग्रहों से युक्त होकर वह अनादि-प्रकृति सादिभावों में परिणत होती हुई ६ रूप धारण कर लेती है। **मायापरिग्रहोपेता वही प्रकृति महामाया[1] है, कलापरिग्रहोपेता वही प्रकृति "योगमाया"[2] है, गुणपरिग्रहोपेता वही प्रकृति "दैवीमाया"[3] है, विकारपरिग्रहोपेता वही प्रकृति "महन्माया"[4] है, अञ्जनपरिग्रहोपेता वही प्रकृति "आसुरी-माया"[5] है, एवं आवरणपरिग्रहोपेता वही प्रकृति "जीवमाया"[6] है।**

१६४–षड्विध–परिग्रहों से समन्वित षड्विध मायाविवर्त्तों के अनुबन्ध से षड्विध उपास्य–पुरुषों का स्वरूप-संस्मरण—

पुरुष के साथ महामाया के समन्वय से **'निर्गुण-अव्यय'**[1] का विकास होता। अव्यय के साथ योगमाया के समन्वय से **सकल-षोडशी**[2] प्रजापति का प्रादुर्भाव होता है। षोडशी के साथ दैवीमाया के समन्वय से **'सगुण[3] सत्यप्रजापति'** का प्रादुर्भाव होता है। सत्य के साथ महन्माया के समन्वय से **'सविकार[4] यज्ञप्रजापति'** का प्रादुर्भाव होता है। यज्ञ के साथ आसुरीमाया के समन्वय से **'साञ्जन-विराट्**[5] प्रजापति की उत्पत्ति होती है। एवं विराट् के साथ जीवमाया के समन्वय से **'विश्वरूप चतुर्दशविध[6] भूतसर्ग'** की उत्पत्ति होती है। इसप्रकार परिग्रहोपेता, षड्भावापन्ना प्रकृति ही पुरुष के साथ समन्वित होती हुई ६ विवर्त्तभावों का कारण बनती है। सिद्धान्तरूप से बात एक ही है, केवल वक्तव्यात्मिका दृष्टि में हीं विभेद है, जैसाकि परिलेखों से स्पष्ट है।

---

*–विद्वत्–समाज में प्रकृति, और **माया** को एक वस्तु समझा जारहा है। परन्तु विज्ञानदृष्टि से दोनों तत्त्व सर्वथा पृथक् पृथक् हैं। **परात्पर का बलगर्भित अनादिरस पुरुष है, एवं रसगर्भित अनादि बल प्रकृति है।** यही बलात्मिका प्रकृति सीमाभाव में आकर **"माया"** कहलाती है। **मायात्मिका प्रकृति सादि है, मायामय पुरुष भी सादि है एवं मायावस्थाशून्य प्रकृति-पुरुष-अनादि हैं।**

१-त्रयः सृष्टिकल्पाः—

१—स्वयम्भूतिकल्पः—अव्ययकल्पः [मनोमयः]—भावसृष्टिः
१ २—मायाकल्पः——अक्षरकल्पः [प्राणमयः]—गुणविकारसृष्टिः
३—विकारकल्पः——क्षरकल्पः [वाङ्मयः]—मैथुनीसृष्टिः

} तदिदं सर्वम्

——*——

१—अव्ययः } स्वयम्भूतिकल्पः [अव्ययसृष्टिः]

२ २—षोडशी, ३—सत्यः, ४—यज्ञः, ५—विराट् } मायाकल्पः [अक्षरसृष्टिः]

६—विश्वम् } विकारकल्पः [क्षरसृष्टिः]

} "तदिदं सर्वम्"

——*——

२--प्रकृति-पुरुषकल्पः—

माया---परिग्रहयोगात्-प्रकृतिः—**महामाया**-ततः-अश्वत्थोदयः ।
कला----परिग्रहयोगात्-प्रकृतिः—**योगमाया**--ततः-कलोदयः ।
गुण----परिग्रहयोगात्-प्रकृतिः—**दैवीमाया**-ततः-त्रैगुण्योदयः ।
विकार--परिग्रहयोगात्-प्रकृतिः—**महन्माया**-ततः-मात्रोदयः ।
अञ्जन--परिग्रहयोगात्-प्रकृतिः--**आसुरीमाया**-ततः-पाप्मोदयः ।
आवरण- परिग्रहयोगात्-प्रकृतिः—**जीवमाया**-ततः-विश्वोदयः ।

—★—

१९५–उपास्य-तत्त्वानुबन्धी 'भक्तियोग', भक्तियोगनिबन्धन उपास्यतत्त्व की परिग्रह-रूपता, एवं तन्निबन्धना अनिवार्य्यरूपेण उपादेया षड्विध-परिग्रहमीमांसा—

यद्यपि हम यह अनुभव कर रहे हैं कि, उक्त परिग्रहकाण्ड पाठकों की नीरक्षीरविवेकिती दृष्टि में आलोच्य ही बन रहा होगा। भला 'भक्तिपरीक्षा' में इस परिग्रहाडम्बर की क्या आवश्यकता ?। वह सबकुछ अनुभव करते हुए भी हम अपने पाठकों को यह विश्वास दिलाते हैं कि, बिना इस **परिग्रह–परिज्ञान** के भक्तिमार्ग की, दूसरे शब्दों में आरम्भ में बतलाए गए 'भक्ति' के पाँच मार्गों की परीक्षा ही सम्भव नहीं है। परिग्रह ही एकमात्र ऐसी कसौटी है, जिस को मूल में रखते हुए भक्तिमार्गों का हम समन्वय कर सकते हैं। भक्ति पाँच रूपों में परिणत होगई। आगे जाकर पाँच के पचासों रूप होगए, इसमें न भक्ति का कोई अपराध है, एवं न भक्त की ही कोई त्रुटि है। अपितु जिस उपास्य की उपासक भक्ति करता है, वह उपास्यदेवता ही स्वयं पाँच भागों में विभक्त है। और यह भी निश्चित है कि, जबतक उपास्य-देवता के परिग्रह--निबन्धन उन पाँचों रूपों का सम्यक् परिज्ञान प्राप्त नहीं कर लिया जाता, तबतक **'भक्तिपरीक्षा'** सर्वथा अपूर्ण ही रह जाती है। एकमात्र इसी ध्येय को लक्ष्य में रखते हुए, पाठकों की दृष्टि में अप्रासङ्गिक बने हुए, किन्तु भक्तिमार्ग की दृष्टि से न केवल प्रासङ्गिक ही, अपितु नितान्त आवश्यक बने हुए परिग्रहयुक्त पाँचों उपास्यों का स्वरूप बतलाना अनिवार्य्य मान लिया गया।

१९६–भक्तियोगानुबन्धी उपास्यतत्त्व का "३-६-४–५" क्रम से चतुर्द्धा वर्गीकरण—

अब उक्त परिग्रहविवर्त्त के सम्बन्ध में केवल यही कर्त्तव्य शेष रह जाता है कि, परिग्रहों के द्वारा कृतरूप उन पाँचों उपास्यों का स्वरूप संग्रहरूप से पाठकों सम्मुख उपस्थित कर दिया जाय। भिन्न भिन्न दृष्टियों से सम्बन्ध रखते हुए हम उन उपास्यरूपों को–[३][1]–[६][2]–[४][3]–[५][4] इन चार भागों में विभक्त कर सकते हैं

१९७–'त्रिकल–उपास्य' से सम्बन्ध रखने वाली 'त्रिकला–भक्ति', एवं त्रिकला भक्ति के त्रिवृद्भावानुबन्धी 'ज्ञान-भक्ति-कर्म्म' भावों का विस्तार-समन्वय—

[१]–**पहिले त्रिकल-विभाग को ही लीजिए**। निर्गुण अव्यय [1] **अव्ययसंस्था** है, सकल–षोडशीप्रजापति [2]**अक्षरसंस्था** है, एवं सगुण–सत्यप्रजापति सविकारयज्ञप्रजापति, साञ्जनविराट्प्रजापति, तथा सावरणविश्व, इन चारों की समष्टि [3] **क्षरसंस्था** है। ये तीनों संस्थाएँ क्रमशः [1] **"आनन्द, विज्ञान, मनोमयी"** [2]–**"मनः, प्राण-वाङ्मयी"**–[3]**"वाक-आपः-अग्निमयी"**,—इन रूपों में परिणत होतीं हुईं क्रमशः **मनोमयी–प्राणमयी–एवं वाङ्मयी हैं**। मनोमय अव्यय क्योंकि ज्ञानमय है, अतएव तदात्मिका उपासना 'ज्ञानात्मिका' कहलाएगी। प्राणमय अक्षर [षोडशी] क्योंकि क्रियामय है, अतएव तदात्मिका उपासना 'क्रियात्मिका' कहलाएगी। एवं सत्य–यज्ञ–विराट्–विश्व की समष्टिरूप वाङ्मय क्षर क्योंकि अर्थमय है, अतएव तदात्मिका उपासना **'अर्थमयी'** कहलाएगी। **यही त्रिकल उपास्य से सम्बन्ध रखने वाली त्रिकला भक्ति है।**

१६८-'उपासना' और 'भक्ति' के तारतम्य की स्वरूप-मीमांसा--

आगे जाकर जिन असंख्य मार्गों का विकास हुआ है, उन सब का उक्त तीनों में से किसी एक में हीं अन्तर्भाव होजाता है। ज्ञानात्मिका उपासना **ज्ञानयोग**-रूपा है, क्रियात्मिका उपासना **भक्तियोगरूपा** है, एवं अर्थात्मिका उपासना **कर्म्मयोगरूपा** है। ज्ञानयोगरूपा अव्यय की भक्ति **'उपासना'** कहलाएगी। कर्म्मयोग-रूपा अक्षर की भक्ति मध्यस्थिता बनती हुई **'भक्ति'** कहलाएगी, एवं कर्म्मयोगरूपा क्षर की उपासना **'कर्म्म'** कहलाएगी, जैसा कि पूर्व के **"उपासना, और भक्ति में तारतम्य"** नामक प्रकरण में स्पष्ट किया जाचुका है।

३-१-त्रिकलभक्तिमार्गः—

१
१-आनन्दः (मनः)
२-विज्ञानम् (मनः) —अव्ययसंस्था मायामयी (मनः)
३-मनः (मनः)

२
१-मनः (अव्ययावच्छिन्नोऽक्षरः-प्राणः
२-प्राणः (अक्षरावच्छिन्नोऽक्षरः-प्राणः —अक्षरसंस्था कलामयी (प्राणः)
३-वाक् (क्षरावच्छिन्नोऽक्षरः-प्राणः

३
१-वाक् (सत्यः स्वयम्भूः)]———सत्यप्रजापतिः-वाक्-सकला
२-आपः (यज्ञः परमेष्ठी)
३-अग्निः (यज्ञः शिवः-विराट् सर्वज्ञः] } —यज्ञप्रजापतिः वाक् सविकारा
४-आपः (विराट् हिरण्यगर्भः)
५-वाक् (विराट् वैश्वानरः) } —विराट्प्रजापतिः वाक्-साञ्जना
६-वाक् (सत्त्वविशालसर्गः)
७-आपः (रजोविशालसर्गः) —विश्वम्-वाक्-सावरणा
८-अग्निः (तमोविशालसर्गः)

(१ से ८ तक) } —क्षरसंस्था (वाक्)

—*—

२ १–अव्ययात्मा मनोमयः—ज्ञानात्मा उपास्यः—ज्ञानात्मिका भक्तिः [ज्ञानयोगमयी "उपासना"
२–अक्षरात्मा प्राणमयः—कर्म्मात्मा उपास्यः—क्रियात्मिका भक्तिः [भक्तियोगमयी "भक्तिः"
३–क्षरात्मा वाङ्मयः—अर्थात्मा उपास्यः—अर्थात्मिका भक्तिः [कर्म्मयोगमयं "कर्म्म"

३ ओमित्येतत् —
* परात्परः–अर्द्धमात्रा—
१–अव्ययः–अकारः–["यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति"–उपासना]
२–अक्षरः–उकारः–["तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति"–भक्तिः]
३–क्षरः–मकारः–["सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति"–कर्म्म]
–तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि"

१

१९९–षट्कलविभागात्मक द्वितीय उपास्य-तन्त्र का संस्मरण, एवं तन्निबन्धन षड्विध-उपासनापथों का नाम–समन्वय—

[२]–**दूसरा षट्कल-विभाग है** । निर्गुण-अव्यय [१]-'**अव्ययात्मा**' है, सकल–षोडशीप्रजापति [२]-**ईश्वरात्मा** है, सगुण–सत्यप्रजापति, [३]-**वेदात्मा** है, सविकार-यज्ञप्रजापति [४]-**यज्ञात्मा** है, साञ्जन विराट्–प्रजापति, [५]-**सर्वभूतान्तरात्मा** [ईश्वरीय देवसत्य] है, एवं सविकार विश्व [६]-**भूतात्मा** [**जीवसम्बन्धी देवसत्य**] है । इन ६ उपास्यों से सम्बन्ध रखने वाली उपासना भी क्रमशः [१] **मनोमयी**, [२]**प्राणमयी**, [३]**वाङ्मयी**, [४]**विष्णुमयी**, [५]**देवमयी**, [६]**भूतमयी**, इन ६ भागों में हीं विभक्त है । (१)–**निर्गुणाव्यय का मानस चिन्तन मनोमयी उपासना है** । (२)-**जीवन के कर्म्म को ईश्वरार्पित कर देना** प्राणमयी **उपासना है** । (३)–**वेदस्वाध्याय, एवं अध्यापन वाङ्मयी उपासना है** । (४)-**यज्ञ-कर्म्म** विष्णुमयी **उपासना है** । **यज्ञातिरिक्त** (५) प्राकृतिक प्राणदेवताओं **की उपासना देवमयी है** । एवं (६) **प्रतिमापूजन भूतमयी उपासना है** । इन ६ ओं में आदि की उपासना ज्ञानयोगात्मिका बनती हुई ज्ञानयोग-स्थानीया "**उपासना**" है । अन्त की उपासना अर्थात्मिका बनती हुई कर्म्मयोग-स्थानीय "**कर्म्म**" है । एवं मध्य की चारों उपासनाएँ क्रियात्मिका बनतीं हुईं भक्तियोग-स्थानीया "**भक्ति**" हैं । इस दृष्टि से उपासनाकाण्ड ६ भागों में विभक्त होजाता है, जैसाकि आगे के परिलेखों से स्पष्ट है ।

षट्कलभक्तिमार्गः—६—

(१)-आनन्दः [मनः]
२-विज्ञानम् [मनः] —निर्गुणअव्ययः————अव्ययात्मा-उपास्यः
३-मनः [मनः]

१-मनः [अव्ययावच्छिन्नोऽक्षरः]--प्राणः
२-प्राणः [अक्षरावच्छिन्नोऽक्षरः]-प्राणः —सकलः षोडशी-ईश्वरात्मा-उपास्यः
३-वाक् [क्षरावच्छिन्नोऽक्षरः]-प्राणः

१-वाक् [सत्यस्वयम्भूः]-वाक्]—सगुणः सत्यः————वेदात्मा-उपास्यः

१-आपः-[यज्ञः परमेष्ठी]--वाक्
२--अग्निः--[यज्ञः सूर्य्यः]--वाक् —सविकारोः यज्ञः————यज्ञात्मा--उपास्यः

१-अग्निः [विराट्-सर्वज्ञः]-वाक्
२-आपः-[विराट् हिरण्यगर्भः]-वाक् —साङ्गो विराट्—सर्वभूतान्तरात्मा-उपास्यः
३-वाक् -[विराट् वैश्वानरः]—वाक्

१--अग्निः-[प्राज्ञः] -वाक्
२--आपः--[तैजसः] -वाक् —सावरणं विश्वम्—भूतात्मा—उपास्यः
२-वाक् --[वैश्वानरः] -वाक्

(२)—१-अव्ययात्मा——मनोमयी उपासना—**मानसचिन्तनम्** —"उपासना"

२--ईश्वरात्मा——-प्राणमयी उपासना—**ईश्वरार्पणम्**
३-वेदात्मा —— —वाङ्मयी उपासना—**वेदस्वाध्यायः**
४-यज्ञात्मा———विष्णुमयी उपासना—**यज्ञानुष्ठानम्** —"भक्तिः"
५-सर्वभूतान्तरात्मा--देवमयी उपासना—**प्राणदेवाराधनम्**

६-भूतात्मा———भूतमयी उपासना—**प्रतिमोपासनम्** —"कर्म्म"

——२——

२००--चतुष्कलोपेता 'भक्ति' के आत्मा, पदं, पुनःपदं, अशीतिः, रूप चार विवर्त्त, एवं तदनुप्राणिता भक्ति के चार--विभिन्न--विवर्त्तों का स्वरूप--समन्वय--

[३]--**तीसरा चतुष्कल भक्ति--विभाग है** । निर्गुण अव्यय **'आत्मा'** है, सकल षोडशी "प्रजापति" है, सगुण--सविकार सत्य--यज्ञसमष्टि **'महिमा'** है, एवं साञ्जन--सावरण विराट्--विश्व की समष्टि **"सर्वम्"** है । आत्मा विज्ञानभाषा में [१]--**आत्मा** ही कहलाता है, प्रजापति को [२]--**"पदम्"** कहा जाता है, महिमारूप [३]--**'पुनपदम्"** नाम से प्रसिद्ध है, एवं सर्वरूप [४]--**"अशीति"** नाम से प्रसिद्ध है । इन चार उपास्यों से सम्बन्ध रखने वाली उपासना भी क्रमशः **आत्मोपासना, प्रजापत्युपासना, महिमोपासना, सर्वोपासना** इन चार मार्गों में विभक्त है । **आत्मचिन्तन आत्मोपासना है, ईश्वरबुद्ध्या अनुष्ठीयमान ज्ञान--क्रिया--अर्थ प्रजापत्युपासना है, स्वर्गप्राप्त्यर्थ अनुष्ठीयमान महिमा--सम्पादक 'यज्ञकर्म्म' 'महिमोपासना' है । एवं लोकवैभव--प्राप्त्यर्थ अनुष्ठीयमान विविध देव--भूतोपासना सर्वोपासना है** । चारों में आदि की उपासना ज्ञानात्मिका बनती हुई ज्ञानयोग--स्थानीया **"उपासना"** है । अन्त की उपासना अर्थात्मिका बनती हुई कर्म्मयोग--स्थानीय **"कर्म्म"** है, एवं मध्य की दोनों उपासनाएँ क्रियात्मिका बनतीं हुईं भक्तियोग-स्थानीया **'भक्ति'** है, जैसाकि निम्नलिखित परिलेखों से स्पष्ट है ।

१	१--आनन्दः [मनः]	मायी अव्ययः	**आत्मा**--उपास्यः
	२--विज्ञानम् [मनः]		
	३--मनः [मनः]		

---*---

२	१--मनः [अव्ययावच्छिन्नोऽक्षरः [प्राणः]	सकलः षोडशी	प्रजापतिः-उपास्यः
	२--प्राणः [अक्षरावच्छिन्नोऽक्षरः [प्राणः]		
	३--वाक् [क्षरावच्छिन्नोऽक्षरः [प्राणः]		

३	१--वाक् [सत्यः स्वयम्भूः] [वाक्]	सत्यः सगुणः	**महिमा**--उपास्यः
	२--आपः [यज्ञः परमेष्ठी] [वाक्]	यज्ञः सविकारः	
	३--अग्निः [यज्ञः सूर्य्यः] [वाक्]		

---*---

१–अग्निः [विराट्—-सर्वज्ञः] [वाक्]		
४ २–आपः [विराट्-हिरण्यगर्भः] [वाक्]	विराट् साञ्जनम्	
३–वाक् [विराट्--वैश्वानरः] [वाक्]		सर्वम्--उपास्यः
४–वाक् [भूतमया लोकाः] [वाक्]	विश्वं सावरणम्	

——०——

१--आत्मा [आत्मा--हृद्यः]——आत्मोपासना--आत्मचिन्तनम्	"उपासना"
२–प्रजापतिः [पदम्--अन्तःपृष्ठम्]—प्रजापत्युपासना—ज्ञानक्रियार्थानुष्ठानम्	"भक्तिः"
३–महिमा [पुनःपदम्-बहिः-पृष्ठम्]—महिमोपासना—काम्ययज्ञानुष्ठानम्	
४–सर्वम् [अदितयः--साहस्री]—सर्वोपासना——काम्यदेवभूतोपासनम्	"कर्म्म"

३

२०१–क्रमप्राप्त चतुर्थ–भक्तिपथ से अनुप्राणित अष्टविध–महिमा–विवर्त्त, एवं इन का पञ्चविध–महिमाभावों में अन्तर्भाव, तथा तन्निबन्धन पञ्चविध–उपास्यों का संस्मरण—

अब सर्वान्त में वह चौथा भक्ति–प्रकार हमारे सामने आता है, जिसे कि हम पाँच भागों में विभक्त करते हैं। एवं जो कि हमारे इस भक्तिपरीक्षा–प्रकरण का मूलस्तम्भ है। मनः--प्राण--वाङ्--मय आत्मविवर्त्त को हम क्रमशः [1] अव्यय--[2] अक्षर--[3] आत्मक्षर--[4] विकारक्षर--वैकारिकक्षर, इन पाँच भागों में विभक्त करसकते हैं। यद्यपि विकारक्षर के विशुद्ध–विकारक्षर, पञ्चीकृत विकारक्षर, पञ्चपञ्चीकृत विकारक्षर, [विश्वसृट्–पञ्चजन–पुरञ्जन–पुर], ये चार विवर्त्त बतलाए हैं। इस क्रम से आत्मविवर्त्त ८ भागों में विभक्त होजाता है। तथापि जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है, विकार कभी स्वतन्त्र नहीं रहते, अपितु सदा पुररूप में परिणत होकर ही उपलब्ध होते हैं। अतएव विकारादि पुरान्त चारों का एक विकारक्षर--विभाग ही मान लिया जाता है। इसप्रकार ८ के स्थान में प्रधानरूप से पाँच ही विभाग शेष रह जाते हैं।

२०२–विभिन्न परिग्रहों से समन्वित परिग्रहात्मक पञ्चविध उपास्य–देवताओं का स्वरूप-समन्वय —

उक्त पाँचों विभागों में **पहिले अव्यय–विभाग का मन से, दूसरे अक्षर–विभाग का प्राण से,** तीसरे आत्मक्षर-विभाग का **अमृतमयी शुक्रवाक् से, चौथे** एवं पाँचवें का **विकार**, एवं **वैकारिकक्षर मर्त्य वाक्शुक्र एवं भूतावाक् से सम्बन्ध है**। पहिली मनोमयी अव्ययसंस्था [1]**निर्गुण–अव्ययात्मा है,** दूसरी प्राणमयी अक्षरसंस्था [2] **सगुणप्रजापति** है, तीसरी अमृतवाक्शुक्रमयी आत्मक्षरसंस्था [3] **सर्व–धर्म्मोपहित प्रजापति है,** एवं चौथी मर्त्य वाकशुक्रमयी संस्था [4] **सर्वधर्म्मविशिष्टप्रजापति है,** तथा पाँचवीं भूतवाङ्मयी संस्था [4] **सर्वधर्म्मोपपन्नजापति** है। पाँचों में क्रमशः [1]**माया–कला** [2]**गुण–**[3]**विकार** [4]**अञ्जन–**[5]**आवरण** इस क्रम से ६ ओं परिग्रहों का भोग होरहा है।

२०३–भक्तियोग–समन्वय–निबन्धन पञ्चविध–उपास्यों की अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षिता लक्ष्यारूढता—

इस क्रम में यह ध्यान रखना चाहिए कि, गुणपरिग्रहात्मक सत्यप्रजापति का हमने षोडशी में हीं अन्तर्भाव मान लिया है। इसी आधार पर इस संस्था के षोडशी को हमनें **"सगुणप्रजापति"** कह दिया है। इसी गुणात्मक सत्यवेद के समावेश से षोडशी ईश्वर **"वेदमूर्त्ति"–"वेदैकवेद्य"** इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हुआ है। एवं एकमात्र इसी आधार पर वेद को [ईश्वर से अभिन्न मानते हुए] ईश्वर का [षोडशी का] निःश्वास मान लिया गया है, जैसाकि **उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका**–न्तर्गत वेदप्रकरण से गतार्थ है। हम पाठकों से साग्रह निवेदन करेंगे कि, भक्ति के इन पाँच मार्गों का मौलिक रहस्य हृदयङ्गम करने के लिए वे इन पाँचों उपास्यों के व्यवच्छेद को सावधानी से ही लक्ष्य में आरुढ रखने का अनुग्रह करेंगे।

२०४–निर्गुण, सगुण, सर्वधर्म्मोपहित, सर्वधर्म्मोपपन्न, सर्वधर्म्मविशिष्ट, पञ्चविध–उपास्य–देवताओं का परिग्रहात्मक–समन्वय—

मायापरिग्रह से युक्त निर्गुण अव्यय **निर्गुणात्मा है**, यह मनोमय बनता हुआ **ज्ञानप्रधान** है, एवं इसकी उपासना **"निर्गुणोपासना"** है। कला, एवं गुणपरिग्रह से युक्त कलागर्भित सगुण अक्षर **"सगुण–प्रजापति"** है, यह प्राणमय बनता हुआ **"क्रियाप्रधान" है,** एवं इसकी उपासना **"सगुणोपासना"** है। विकार-परिग्रह से युक्त सविकार आत्मक्षर **"सर्वधर्म्मोहितप्रजापति"** है, यह अमृतवाक्शुक्रमय बनता हुआ **"अर्थप्रधान"** है, एवं इसकी उपासना **"विकारोपासाना"** है। अञ्जन-परिग्रह से युक्त साञ्जन विकार क्षर **"सर्वधर्म्मोपपन्नप्रजापति"** है, यह मर्त्यवाक्शुक्रमय बनता हुआ **"देवप्रधान"** है, एवं इस की उपासना **"देवोपासना"** है। एवं आवरण-परिग्रह से युक्त सावरण-वैकारिक क्षर प्रपञ्च **"सर्वधर्म्मविशिष्ट–प्रजापति"** है, यह भूतवाङ्मय बनता हुआ **"भूतप्रधान"** है, एवं इस की उपासना **"भूतोपासना"** है।

२०५–आत्मोपासना–ईश्वरोपासना–विकारोपासना, देवोपासना, भूतोपासना–भेदनिबन्धना पञ्चविधोपासना—

आत्मोपासना [1]**अव्यय की उपासना है, ईश्वरोपासना** (षोडशीसत्यप्रजापतिमूर्त्ति) [2]**अक्षर की उपासना है,** विकारोपासना [3]**आत्मक्षर की उपासना है,** देवोपासना [4]**विकारक्षर की उपासना है,** एवं भूतोपासना [5]**वैकारिकक्षर की उपासना है।** पहिली **अमृतोपासना** है, दूसरी **ब्रह्मोपासना है,** तीसरी **अमृतशुक्रोपासना है,** चौथी **मर्त्य–शुक्रोपासना** है, एवं पाँचवीं **भूतशुक्रोपासना है।** आगे के परिलेख ही स्पष्टीकरण के लिए पर्य्याप्त हैं।

(५)–पञ्चकलभक्तिमार्गः (राद्धान्तभूतः)

(१) निर्गुणात्मा १	१–आनन्दः–मनः २–विज्ञानम्–मनः ३–मनः—-**मनः***	—निर्गुण अव्ययः[1] (मायी)	—अव्ययः
सगुणप्रजापतिः २	१–*मनः (अव्ययमूर्त्तिरक्षरः—प्राणः २– प्राणः (अक्षरमूर्त्तिरक्षरः—प्राणः ३– वाक्*(आत्मक्षरमूर्त्तिरक्षर-:प्राणः	—षोडशीप्रजापतिः[2]— (सकलः	—अक्षरः[2]
	४–*अमृतशुक्रमयी वाक्*आत्मक्षरमूर्त्तिः क्षरः–वाक्*–स्वयम्भूः (१)	सत्यप्रजापति[3] (सगुणः)	
सर्वधर्मोपहितप्रजापतिः ३	१–आपः (अमृतशुक्रम्) आत्मक्षरमूर्त्तिः क्षरः–वाक्–परमेष्ठी (२) २–अग्निः (अमृतशुक्रम्) आत्मक्षरमूर्त्तिः क्षरः–वाक्–सूर्य्यः (३)	-यज्ञप्रजापतिः[4] (सविकारः)	-आत्मक्षरः
सर्वधर्मोपपन्नप्रजापतिः ४	१–वाक् (मृत्युशुक्रम्) विकारक्षरमूर्त्तिः क्षरः–वाक्–सूर्य्यः (३) सर्वज्ञः २–आपः (मर्त्यशुक्रम्) विकारक्षरमूर्त्तिः क्षरः–वाक्–चन्द्रमाः (४) हिरण्यगर्भः ३–अग्निः (मर्त्यशुक्रम्) विकारक्षरमूर्त्तिः क्षरः-वाक्–पृथवी (५) वैश्वानरः	-विराट्प्रजापतिः[5] (साञ्जनम्)	वि.क्षरः[4]
सर्वधर्मविशिष्टप्रजापतिः ५	१–वाक् (भूतशुक्रम्) वैकारिकः क्षरः—वाक्–सत्त्वजीवाः-प्राज्ञाः २–आपः (भूतशुक्रम्) वैकारिकः क्षरः—वाक्–रजोजीवाः–तैजसाः ३–अग्निः (भूतशुक्रम्) वैकारिकः क्षरः—वाक्–तमोजीवाः–वैश्वानराः	—विश्वम्[6] (सावरणम्)	-वै०क्षरः[5]

———— *

(२) १—निर्गुणात्मा मनोमयः (अव्ययः——उपास्यः)।

२—सगुणप्रजापतिः प्राणमयः (अक्षरः——उपास्यः)।

३—सर्वधर्म्मोपहितप्रजापतिः अमृतवाक्शुक्रमयः (आत्मक्षरः—उपास्यः)।

४—सर्वधर्म्मोपपन्नप्रजापतिः मर्त्यवाक्शुक्रमयः (विकारक्षरः—उपास्यः)।

५—सर्वधर्म्मविशिष्टप्रजापतिः भूतवाक्शुक्रमयः (वैकारिकक्षरः—उपास्यः)।

———— * ———— * ————

(३) १—निर्गुणः ज्ञानप्रधानः (अव्ययः——मायी —— उपास्यः)।

२—सगुणः क्रियाप्रधानः (अक्षरः — सकलो, सगुणश्च-उपास्यः।

३—सर्वधर्म्मोपहितः अर्थप्रधानः (आत्मक्षरः—सविकारः — उपास्यः)।

४—सर्वधर्म्मोपपन्नः देवप्रधानः (विकारक्षरः—साञ्जनः — उपास्यः)।

५—सर्वधर्म्मविशिष्टः भूतप्रधानः (वै० क्षरः—सावरणः — उपास्यः)।

———— * ———— * ————

(४) १—अव्ययोपासना आत्मोपासना (अमृतोपासना) निर्गुणा।

२—अक्षरोपासना ईश्वरोपासना (ब्रह्मोपासना) सगुणा।

३—आत्मक्षरोपासना विकारोपासना (अमृतशुक्रोपासना) सविकारा।

४—विकारक्षरोपासना देवोपासना (मर्त्यशुक्रोपासना) साञ्जना।

५—वैकारिकक्षरोपासना भूतोपासना (भूतशुक्रोपासना) सावरणा।

———— * ————

———— *

२०६–'तत्' के विवर्त्तभूत पञ्चविध उपास्य, तन्निबन्धन पञ्चविध उपासनापथ, तदनुप्राणिता उपयोगिता, एवं पञ्चोपासना-विवर्त्तों का उपासनात्रयी में अन्तर्भाव—

उक्त पाँचों हीं उपास्यदेव उस एक ही "तत्" के पाँच महिमा-विवर्त्त हैं। अतः पाँचों में से किसी एक की भी उपासना करता हुआ उपासक आत्मा के अभ्युदयपूर्वक निःश्रेयस् साधन करसकता है। इसी लिए शास्त्रोंनें अधिकारी की योग्यता के भेद से पृथक् पृथक् पाँच उपास्यों से सम्बन्ध रखने वाले पाँचों हीं उपासनामार्गों का समादर कर लिया है। हाँ, इन पाँचों के सम्बन्ध में यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि, पहिला मार्ग विशुद्ध आत्मा की ओर झुका हुआ है, दूसरा मार्ग मध्यस्थ बना हुआ है, एवं आगे के तीन मार्ग विश्व की ओर झुके हुए हैं। अन्त के तीनों मार्ग क्योंकि "शुक्र" से सम्बन्ध रखते हैं, एवं शुक्र ही विश्व का बीज है, जैसाकि ईशभाष्यान्तर्गत "स पर्य्यगाच्छुक्रम्" इत्यादि मन्त्रभाष्य में विस्तार से निरूपित है। अतएव शुक्रात्मिका उपासनात्रयी को हम 'विश्वात्मिका' कहसकते हैं। **विश्व कर्म्मप्रधान है, आत्मा ज्ञानप्रधान है, मध्यस्थ अक्षररूप षोडशी उभयमूर्त्ति है।** इसी आधार पर **प्रथम मार्ग ज्ञानप्रधान** उपासनामार्ग **कहलाया है, मध्यमार्ग उभयमूर्त्ति भक्तिमार्ग कहलाया है, एवं अन्त के तीनों** उपासनामार्ग **कर्म्मप्रधान उपासनामार्ग कहलाए हैं,** जैसाकि पाँचों प्रकरणों के शीर्षकों से स्पष्ट है। इसी दृष्टि से इन पाँच मार्गों के तीन हीं मार्ग शेष रह जाते हैं।

२०७–आत्मकाममूला, निष्कामभावान्विता, एवं सकामभावानुबन्धिनी उपासनात्रयी का तारतम्य, तथा उपासनानुगता उपासना-भक्ति-कर्म्म-त्रयी का स्वरूप-समन्वय—

इन तीनों मार्गों की प्रतिष्ठा क्रमशः **आत्मकाम, निष्काम, काम** ये तीन विवर्त्त हैं। **अव्ययमूला ज्ञानप्रधाना मनोमयी अमृतोपासना का 'आत्मकाम' से सम्बन्ध है। अक्षरमूला (षोडशीमूला) उभयप्रधाना प्राणमयी ब्रह्मोपासना का 'निष्कामभाव' से सम्बन्ध है। एवं आत्मक्षर-विकारक्षर-वैकारिकक्षरमूला कर्म्मप्रधाना वाङ्मयी शुक्रोपासना का 'सकामभाव' से सम्बन्ध है।** काममयी शुक्रोपासना में **संसारबन्धन** है, निष्काममयी ब्रह्मोपासना में **बन्धनविमोक** है, एवं आत्मकाममयी अमृतोपासना में **समवलयलक्षण विदेहभाव** है। **शुक्रातिवर्त्तन** का एकमात्र उपाय मध्यस्था निष्काममयी अक्षरोपासना ही है, जैसाकि—"**उपासते पुरुषं (षोडशीपुरुषात्मकमक्षरपुरुषं) ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः**" इत्यादि उपनिच्छ्रुति से स्पष्ट है। इसप्रकार निष्कर्षरूप से आगे जाकर उपासना के तीन हीं मार्ग शेष रह जाते हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

१-अव्ययोपासना——मनोमयी]—अमृतोपासना—आत्मकामप्रधाना—"**उपासना**" १
२--अक्षरोपासना——प्राणमयी]—ब्रह्मोपासना—-निष्कामभावप्रधाना--"**भक्तिः**" २

३--आत्मक्षरोपासना—वाङ्मयी
४--विकारक्षरोपासना वाङ्मयी | शुक्रोपासना——सकामभावप्रधाना—"**कर्म्म**" ३
५--वैकारिकक्षरोपासना--वाङ्मयी

——*——